आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण स्वामी विरचित

मालारोहण

(अध्यात्म दर्शन-टीका)

टीकाकार

स्वामी ज्ञानानंद

सम्पादक

ब्र. बसन्त

प्रकाशक

तारण तरण जैन समाज

कबरई (महोबा) उ. प्र.

श्री मालारोहण जी ग्रंथ

(अध्यात्म दर्शन टीका)

टीकाकार-आत्म निष्ठ साधक

पूज्य श्री स्वामी ज्ञानानंद जी महाराज

प्रथम एवं द्वितीय संस्करण—३५०० प्रति, सन् १९९९
(विवरण—१००० प्रति श्री विजय बहादुर जी महोबा,
५०० प्रति श्री केशव प्रसाद जी संकेत तारण
भोपाल द्वारा (निःशुल्क ज्ञान दान प्रभावना)
२००० प्रति—ब्रह्मानंद आश्रम पिपरिया द्वारा—
सशुल्क प्रचार प्रभावना हेतु

तृतीय संस्करण—१००० प्रति, सन् २०००
प्रकाशक—तारण तरण जैन समाज कबरई
जिला-महोबा (उ. प्र.)

मूल्य-आत्म चिंतन

प्राप्ति स्थल—

१. पं. विजय मोही, मंत्री—ब्रह्मानंद आश्रम
संत तारण तरण मार्ग, पिपरिया
जिला—होशंगाबाद (म. प्र.) ४६१७७५

२. प्रवीण जैन—मंत्री
श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केंद्र
६१, मंगलवारा भोपाल (म. प्र.)

अक्षर संयोजन एवं अभिकल्पन—एडवांस्ड लाईन, नानक
अपार्टमेंट, कस्तूरबा नगर, भोपाल, फोन-२७४२८६
मुद्रक—जयभारत प्रिंटिंग प्रेस, वैस्ट रोहताश नगर, शाहदरा, दिल्ली-३२
फोन : २२६५०१३

प्रकाशकीय

धर्म, धर्मायतन और धर्मात्माओं से समाज तथा राष्ट्र की गरिमा होती है। धर्मायतन, धर्म की साधना अराधना में सक्षम साधन होते हैं जिनका सदुपयोग करके हर व्यक्ति अपने जीवन की अनंत संभावनाओं के प्रगट होने का द्वार खोल सकता है।

सोलहवीं शताब्दी में हुए पूज्य गुरुदेव श्री मद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज ने भारत की जनता को सत्य धर्म की आत्म कल्याणकारी आध्यात्मिक देशना देकर जगाया तथा आत्म हित के मार्ग में लगाया था, उनके द्वारा रचित चौदह ग्रंथ आज भी अध्यात्म धर्म की पवित्र छटा बिखेर रहे हैं। गुरुवाणी में समाहित सत्य सिद्धांत वस्तु स्वरूप जन-जन के लिए कल्याणकारी है। श्री गुरुदेव की आध्यात्मिक आम्नाय में अध्यात्म साधना, ज्ञान मार्ग की प्रमुखता है। इस आराधना के लिए चैत्यालय होते हैं जहां चैतन्य का चिंतन मनन साधन किया जाता है इसलिए समाज में आध्यात्मिक ज्ञान धारा के प्रवाह के लिए चैत्यालयों का विशेष महत्त्व है।

बुन्देल खंड की ऐतिहासिक पवित्र धरा पर विंध्याचल पर्वत मालाओं के बीच स्थित कबरई नगर में हमारे महान सौभाग्य से श्री जिन तारण तरण जैन चैत्यालय के भव्य निर्माण का शुभारंभ दिनांक १५ दिसंबर सन् १९८६ को स्व. पं. श्री अमीरचंद जी शास्त्री बांदा के सान्निध्य में समाज भूषण श्री मंत सेठ प्रेमचंद जी जैन सा. सागर द्वारा शिलान्यास पूर्वक किया गया। यहां तारण समाज के मुनीन्द्र कुमार संतोष कुमार जैन, नेमचंद अजित कुमार जैन एवं मूलचंद रतनचंद जी कफाल परिवार, कुल तीन परिवार निवास करते हैं फिर भी अखिल भारतीय सकल तारण समाज के सहयोग से चैत्यालय जी का निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ इसके लिए हम सकल समाज के हृदय से आभारी हैं और आभार मानते हैं श्रीमति बेटी बाई जैन धर्म पत्नी स्वतंत्रता संग्राम सेनानी स्व. पं. सेठ श्री चुन्नी लाल जी महाशय कबरई का, जिन्होंने इस चैत्यालय जी में संगमरमर का सुंदर फर्श बनवाया।

श्री चैत्यालय जी का निर्माण कार्य पूर्ण होने के पश्चात् उदारमना, दान में सतत् अग्रणी रहने वाले श्रीमान् सेठ बिहारीलाल जी श्रीमान् सेठ हरदयाल जी (लुहेड़ी वाले) महोबा द्वारा चैत्यालय जी में संगमरमर की भव्य मनोज्ञ वेदी स्थापित की गई तथा आपके परिवार द्वारा ही वेदी प्रतिष्ठा करने का संकल्प किया गया और समाज में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। वेदी प्रतिष्ठा संबंधी निवेदन हेतु हम लोग आत्मनिष्ठ साधक तपो मूर्ति पूज्य श्री स्वामी ज्ञानानंद जी महाराज से आशीर्वाद लेने के लिए पिपरिया वर्षावास समापन के अवसर पर पहुंचे और पूज्य श्री का आशीर्वाद प्राप्त कर हमारा उत्साह कई गुना बढ़ गया तथा २६, २७, २८ जनवरी सन् २००० की तिथियां निश्चित हुईं, साथ ही श्री संघ की स्वीकृति प्राप्त हुई और अपार प्रसन्नता का अनुभव हुआ।

इस मंगलमय वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव में तारण समाज के गौरव अध्यात्मरत्न बाल ब्र. संत पू. श्री बसंत जी महाराज, युवा रत्न बाल ब्र. पूज्य आत्मानंद जी महाराज, युवा साधक बाल ब्र. पूज्य श्री शांतानंद जी महाराज, पूज्य श्री ब्र. स्वरूपानंद जी महाराज, ब्र.पं. श्री शिखरचंद जी, बाल ब्र. श्री उषा जी, ब्र. श्री मुन्नी बहिन जी का सान्निध्य मिला जिनके उपदेशों से जन-मन ज्ञान मय हो गया। यह आयोजन पं. श्री रतनचंद जी शास्त्री बीना, पं. श्री नीलेश कुमार जी सोहागपुर, पं. श्री राजेन्द्र कुमार जी अमरपाटन, पं. श्री नेमीचंद जी

छतरपुर, पं. श्री विजय मोही जी पिपरिया के कुशल प्रतिष्ठाचार्यत्व एवं पं. श्री मुकेश कुमार जी राजनगर, पं. श्री रामप्रसाद जी विदिशा एवं पं. श्री जयकुमार जी लुहर्रा के सह प्रतिष्ठा चार्यत्व तथा अखिल भारतीय तारण समाज, श्रेष्ठीवर्ग एवं विद्वत् जनों की उपस्थिति में सानंद सम्पन्न हुआ।

चौदह ग्रंथों का पाठ, जिनवाणी जी अस्थाप, कलशारोहण, जिनवाणी पालकी जी की भव्य शोभायात्रा, वेदीसूतन, तिलक महोत्सव, अखण्ड इंटर कालेज में अतिथियों का आवास, प्रवचन समारोह आदि कार्यक्रम अपने आपमें अत्यंत प्रभावना पूर्ण आनंद प्रद रहे। आयोजन की गरिमा से सम्पूर्ण नगर धर्म प्रभावना मय हो गया।

जन-जन के प्रिय संत पूज्य श्री बसंत जी महाराज एवं पूज्य ब्र. आत्मानंद जी महाराज के मार्गदर्शन और आशीर्वाद से यह विराट आयोजन हर्षोल्लास पूर्वक सानंद संपन्न हुआ। तारण समाज की गरिमामय परंपरा अनुसार वेदी प्रतिष्ठ महोत्सव के आयोजक श्री मान् सेठ बिहारीलाल जी, हरदयाल जी एवं उनके परिवार को अखिल भारतीय तारण समाज का सम्माननीय अलंकरण 'सेठ' पदवी की घोषणा समाज भूषण श्री मंत सेठ डालचंद जी जैन (पूर्व सांसद) सागर द्वारा करते हुए पदवी शिरोपाव किया गया।

इस सुअवसर पर पूज्य गुरुदेव श्री जिन तारण स्वामी जी महाराज द्वारा रचित श्री मालारोहण जी ग्रंथ की आत्मनिष्ठ साधक पूज्य श्री स्वामी ज्ञानानंद जी महाराज द्वारा की गई अध्यात्म दर्शन टीका के प्रकाशन कराने का कबरई तारण समाज ने निर्णय लिया तथा यह निश्चय किया गया कि प्रतिष्ठ महोत्सव में स्वेच्छा दान प्रभावना से जो राशि प्राप्त हुई है उसमें से श्री मालारोहण जी अध्यात्म दर्शन टीका ग्रंथ की एक हजार प्रतियों का प्रकाशन कराया जाए तथा शेष राशि का सदुपयोग श्री चैत्यालय जी के अपूर्ण कार्यों को पूर्ण करने में किया जाएगा।

इस मांगलिक आयोजन में श्रीमति बेटीबाई जैन, श्री अजितकुमार अनिलकुमार जैन कबरई, श्री गोविंदीलाल राजेंद्रकुमार जैन सिमरिया, श्री कामताप्रसाद जी विजयबहादुर जी जैन गढ़र (उरई), श्री सगुनचंद दिलीप कुमार जैन बांदा तथा तारण समाज बांदा, महोबा, हरपालपुर, राजनगर, युवावर्ग, बाहर से पधारे गुरु भाई एवं प्रत्यक्ष परोक्ष रूप में सभी का विशेष सहयोग रहा इसके लिए हम सभी के हृदय से आभारी हैं।

हमारा महान सौभाग्य है कि हमें श्री गुरु महाराज के द्वारा प्रदत्त शुद्ध अध्यात्म धर्म की प्रभावना करने का एवं इस उपलक्ष्य में यह महान ग्रंथ प्रकाशित कराने का अनमोल सुअवसर प्राप्त हुआ। इस टीका ग्रंथ में आत्म बोध सम्यग्दर्शन की महिमा को पूज्य गुरु महाराज ने गाथा सूत्रों में स्पष्ट किया है और गाथा के सार सिद्धांत हार्द को अपनी भाषा में पूज्य श्री महाराज जी ने टीका में स्प[illegible] कर हम जिज्ञासु ममुक्षु जीवों पर महान उपकार किया है। सम्यक्दर्शन के प्रतिपादक इस आध्यात्मिक ग्रंथ का स्वाध्याय कर अपने जीवन को सम्यक्श्रद्धान ज्ञानमय बनाएं यही शुभ भावना है।

वेदी प्रतिष्ठा तिलक महोत्सव
कबरई (महोबा) दिनांक-28-1-2000

विनीत
सकल तारण तरण जैन समाज
कबरई (उ.प्र.)

संपादकीय

भारतीय वसुन्धरा धन्य हो गई, जब सोलहवीं शताब्दी में आध्यात्मिक क्रांतिकारी संत श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज का जन्म विक्रम संवत् १५०५ की अगहन सुदी सप्तमी को ऐतिहासिक नगरी पुष्पावती में हुआ। पूज्य पिता श्री गढ़ाशाह जी, मां वीर श्री देवी को ऐसा अपूर्व अनुभव हुआ जैसे कि उनके घर आध्यात्मिक ज्ञान सूर्य का उदय हुआ है। पुष्पावती का कण-कण, हरा-भरा सा, जन-मन प्रमुदित और चारों ओर का वातावरण हर्षित उल्लसित था। पूज्य तारण तरण जब पांच वर्ष के थे तभी उनके विलक्षण प्रतिभा संपन्न होने के लक्षण व्यक्त होने लगे थे। जब वे ग्यारह वर्ष के हुए तब उनके नानाजी की मृत्यु के निमित्त से उन्हें आत्म बोध, सम्यक् दर्शन हुआ। वृद्धिगत होता हुआ वैराग्य, पूर्व संस्कार और उनका दृढ़ आत्म बल, संसार से मुक्त होने की भावना इतनी प्रबल थी कि युवावस्था की दहलीज पर पैर रखते ही २१ वर्ष की उम्र में ब्रह्मचर्य व्रत और ३० वर्ष की युवावस्था में ब्रह्मचर्य प्रतिमा की दीक्षा धारण कर ली। आत्म साधना, मौन, एकांतप्रिय होने से निर्जन वन की गुफाओं में ध्यान, साधना करना उनकी जीवनचर्या थी। आत्मोन्मुखी दृष्टि से चिंतन, लेखन और वस्तु स्वरूप की दृढ़ता ने उन्हें वीतरागी बना दिया। ६० वर्ष की उम्र में उन्होंने निर्ग्रन्थ वीतरागी दिगम्बर साधु पद धारण किया, पश्चात् १५१ मण्डलों के प्रमुख आचार्य होने से मण्डलाचार्य कहलाये। उन्होंने पांच मतों में चौदह ग्रन्थों की रचना की।

विचार मत में श्री मालारोहण, पंडितपूजा, कमलबत्तीसी। आचारमत में श्री श्रावकाचार। सार मत में श्री ज्ञान समुच्चय सार, उपदेश शुद्ध सार, त्रिभंगीसार। ममल मत में श्री चौबीस ठाणा, ममलपाहुड़ और केवल मत में श्री खातिका विशेष, सिद्ध स्वभाव, सुन्न स्वभाव, छद्मस्थ वाणी और नाममाला।

इन ग्रंथों की एक-एक गाथा में श्री गुरु महाराज ने ऐसा आध्यात्मिक अनुभव भर दिया है कि जो मनुष्य मात्र के लिये आत्म दर्शन कराने वाला, कल्याणकारी ज्ञान का अगाध सागर है। विचार मत के ग्रंथ मालारोहण में सम्यक्दर्शन, पंडित पूजा में सम्यक्ज्ञान और कमलबत्तीसी में सम्यक्चारित्र का प्रतिपादन किया गया है। रत्नत्रय का त्रिवेणी संगम होने से यह तीनों ग्रंथ तारण त्रिवेणी के नाम से विख्यात हैं। इन तीनों ग्रंथों में समान रूप से ३२-३२

गाथायें हैं इस कारण इसे तीन बत्तीसी नाम भी प्राप्त है। यह तारण त्रयी जन-जन के लिये कल्याणकारी रत्नत्रय की ज्ञान गुण माला है।

विचार मत के यह तीनों ग्रंथ हमें बुद्धि पूर्वक अपना निर्णय करने की प्रेरणा देते हैं। विचार मत का अर्थ ही है बुद्धि पूर्वक अपना निर्णय करना। अनादिकाल से जीव को शरीरादि संयोग और संयोगी भावों में एकत्व, अपनत्व और कर्तृत्व रूप अज्ञान के कारण कभी सत्य वस्तु स्वरूप, मोक्ष मार्ग को प्राप्त करने की रुचि ही नहीं हुई और कभी हुई भी तो वस्तु स्वरूप को पहिचाना नहीं। इस अज्ञानी जीव ने या तो शरीर की अशुभ क्रिया को शुभ क्रिया में बदलने को धर्म मान लिया या फिर अशुभ परिणामों को बदलकर ऊंचे से ऊंचे शुभ भाव करने को मोक्षमार्ग धर्म समझ लिया परन्तु जिस समय बाहर शरीराश्रित क्रिया और भीतर शुभ परिणाम हो रहे हैं, उसी समय कोई जानने वाला भी है जो उन दोनों को मात्र जानता जा रहा है, उसी जानने वाले को जानना था, उसी का निर्णय करना था, किन्तु अपना निर्णय न करके पर का, क्रिया का, संसार का निर्णय किया इसीलिये अनादि काल से संसार चक्र चल रहा है।

कहा भी है—

सबका निर्णय किया हमेशा, अपना नहीं किया है।
बिन निर्णय के पगले तेरा, लगा न कहीं जिया है॥
अपना निर्णय आज तू कर ले, तुझे कहां है जाना।
चारों गति संसार में रुलना, या मुक्ति को पाना॥

(पूज्य श्री स्वामी ज्ञानानंद जी महाराज)

बुद्धिपूर्वक अपना निर्णय करना ही विचार मत है। इसके अंतर्गत मुख्य रूप से चार सूत्र हैं—१. मैं कौन हूँ ? २. मैं कहां से आया हूँ ? ३. मेरा स्वरूप क्या है ? और ४. मुझे कहाँ जाना है ? इसका चिंतन मनन कर अपना निर्णय करना ही धर्म है। इन प्रश्नों के उत्तर के बारे में अंतर में ही विचार करना है कि १. मैं आत्मा हूं शरीर नहीं। २. मैं चार गति चौरासी लाख योनियों से भ्रमण करता आया हूँ। ३. मैं अरस अरूपी अस्पर्शी ज्ञाता दृष्टा ज्ञानानंद स्वभावी हूं और ४. मुझे मोक्ष जाना है।

आत्मा ज्ञान स्वरूप है अतः अपने को ज्ञान स्वरूप ही देखना, जानना

और श्रद्धान करना, इसी से निज स्वरूप में स्वत्व होता है और शरीरादि पर पदार्थों में अपनापन छूटता है, जिस समय जीव अपने ज्ञाता दृष्टा स्वरूप को पहिचानता है अर्थात् निज आत्मा की अनुभूति जाग्रत होती है, उसी समय से समस्त पर द्रव्य और परभाव 'पर' दिखाई देने लगते हैं। मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी का लोप हो जाता है और उनसे संबंधित बंध भी समाप्त हो जाता है, अब पर्याय में जो भी राग-द्वेष व कषाय आदि होती हैं, मात्र वे ही बंध के कारण शेष रह जाते हैं यद्यपि सम्यक्दृष्टि अब इनमें अपनापन तो नहीं मानता किन्तु यह जीव की पर्याय में ही होते हैं अतः इनसे संबंधित भाव और बंध भी होता है। इसे मोक्षमार्ग का तो बोध हो ही गया है, इस चारित्र मोह को दूर करने के सम्यक् उपाय का भी परिज्ञान हो गया है अतः अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव का ही निरंतर अधिक से अधिक अवलंबन लेने का प्रयास पुरुषार्थ करता है।

मालारोहण ग्रंथ और इस अध्यात्म दर्शन टीका में आत्मनिष्ठ साधक आध्यात्मिक संत, दशम प्रतिमाधारी पूज्य श्री स्वामी ज्ञानानंद जी महाराज ने ज्ञानी के इसी पुरुषार्थ और साधना के मार्ग को स्पष्ट किया है। इसके लिए मूल मंत्र हैं—भेदज्ञान और तत्वनिर्णय, जो मोक्षमार्ग की साधना के आधारभूत मंत्र हैं।

भेदज्ञान—इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्व भगवान आत्मा हूं, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं।

तत्व निर्णय—जिस समय जिस जीव का जिस द्रव्य का जैसा जो कुछ होना है, वह अपनी तत्समय की योग्यता अनुसार हो रहा है और होगा इसे कोई टाल फेर बदल सकता नहीं।

यह दोनों मंत्र मालारोहण ग्रंथ की क्रमशः तीसरी और पांचवीं गाथा के सार सूत्र हैं, जो पूज्य श्री ने अपनी भाषा में हमें बताकर महान उपकार किया है। इन दोनों सूत्रों की साधना अपनी-अपनी भूमिका में स्थित ज्ञानी जनों के जीवन में होती है। इसी आधार पर साधक का मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है।

"सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। रत्नत्रय की इन श्रेणियों पर आरोहण करना, स्थित होना ही मालारोहण है।

यही मालारोहण जीव को संसार से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है।

साधक की साधना के अंतर्गत इस ग्रंथ में सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की शुद्धि का विशेष महत्व बताया गया है। श्रद्धान की निर्मलता, अपने आत्मस्वरूप के अनुभव प्रमाण बोध पूर्वक होना, श्रद्धान में कोई दोष न लगना। स्व-पर का यथार्थ निर्णय, संशय, विभ्रम, विमोह रहित करना सम्यक्ज्ञान है। अपना और पर के स्वरूप का यथार्थ निर्णय, इसमें जो दोष लगते हैं उन्हें वस्तु स्वरूप, भेदज्ञान, तत्वनिर्णय पूर्वक दूर करना तथा चारित्र की साधना, शुद्ध सम्यक्चारित्र का पालन द्रव्य दृष्टि की सिद्धि यही रत्नत्रय का वास्तविक पालन है और रत्नत्रय की शुद्धि पूर्वक ही ज्ञानी सच्चा मोक्षमार्गी (तारण पंथी) होता है।

सम्यक् दृष्टि ज्ञानी अभेद अविनाशी अखण्ड स्वरूप की साधना करता है, वह ध्रुव धाम का आराधक होता है। अपने पूर्ण स्वभाव का लक्ष्य है किन्तु स्वरूप में पूर्णतः लीन नहीं रह पाता है इस कारण भेद रूप साधन में भी पचहत्तर गुणों के माध्यम से अपने सत्स्वरूप की ही आराधना करता है।

पचहत्तर गुण—देव के पांच गुण—पांच परमेष्ठी, गुरु के तीन गुण—तीन रत्नत्रय, शास्त्र के चार गुण—चार अनुयोग, सिद्ध के आठ गुण, सोलह कारण भावना, दशलक्षण धर्म, सम्यक् दर्शन के आठ अंग, सम्यक् ज्ञान के आठ अंग, और तेरह प्रकार का चारित्र। इन पचहत्तर गुणों के द्वारा ज्ञानी अपने सत्स्वरूप शुद्धात्मा की ज्ञान गुण माला को गूंथता है।

देवं गुरं सास्त्र गुनानि नेत्वं, सिद्धं गुनं सोलहकारनेत्वं।
धर्मं गुनं दर्सन न्यान चरनं, मालाय गुथतं गुन सत्स्वरूपं॥

॥ मालारोहण गाथा—११ ॥

आत्मा चैतन्य स्वरूप पूर्ण आनंद का नाथ अनंत शक्तियों का भंडार है, आत्म चिंतन और अनुभव पूर्वक अपनी आत्म ज्ञान गुण माला को गूंथना यही ज्ञानी का पुरुषार्थ है।

संयम के मार्ग में आत्म कल्याणार्थी साधक स्व-पर के ज्ञान पूर्वक ग्यारह प्रतिमाओं का पालन और साधु पद में अट्ठाईस मूल गुणों का पालन करते हैं, ज्ञानमयी चैतन्य स्वभाव में चित्त लगाते हैं, तप, दान, शील का पालन करते हैं, यही शुद्ध सम्यक्त्व पूर्वक ज्ञान गुण माला के दर्शन अनुभव का विधान है।

आत्मानुभूति, सम्यक् दर्शन स्वानुभव प्रमाण है। सम्यक्दृष्टि विचार करता है कि मेरा स्वरूप तो ज्ञान दर्शनमयी, परम वीतराग, आनंदमयी एवं अमूर्तीक है, इसी का अनुभव करने से परमशांति होती है। श्रद्धान में दृढ़ता पा लेने पर भी आत्म रस का अनुभव करने के लिए साधक को बार-बार स्वरूप की भावना करनी चाहिए, इस भावना के दृढ़ होने पर जब उसका उपयोग निज स्वरूप की तरफ जायेगा तब वह आत्म स्वरूप में निश्चल हो जायेगा और उसे आत्मानंद प्राप्त होगा।

श्री गुरु तारण स्वामी से इस सूक्ष्म अनुभव के बारे में किसी जिज्ञासु ने पूछा था कि अनुभूति के समय कैसा लगता है और हमें सम्यक् दर्शन आत्मानुभूति हो गई यह हम कैसे जानें, इसका क्या प्रमाण है ?

इस जिज्ञासा के समाधान में श्री गुरुदेव ने अंतर की अनुभूति का प्रमाण देते हुए कहा कि आत्मानुभूति होने पर—

१. शुद्ध ज्ञानमयी चित्प्रकाश का अनुभव होता है।

२. "समस्त संकल्प विकल्प मुक्तं" अर्थात् निर्विकल्प दशा होती है।

३. अतीन्द्रिय आनन्द अमृत रस का स्वाद आता है।

४. रत्नत्रय मयी अभेद सत्स्वरूप मात्र रहता है।

इन प्रमाणों से हम भी अपने आप में निरीक्षण कर जान सकते हैं कि सम्यक् दर्शन हुआ या नहीं।

सम्यक्दर्शन धर्म का मूल है, मोक्ष महल की पहली सीढ़ी है। अनादिकाल से जीव ने सब कुछ किया लेकिन भेदज्ञान पूर्वक अपने को नहीं जाना, सम्यक् दर्शन प्राप्त नहीं किया, इसी कारण संसार में रुल रहा है।

आत्मा अनंत गुणों का भण्डार आनंदमयी परम तत्व है, जो जीव एक बार भी अपने स्वरूप को जान लेते हैं उन्हें फिर वही प्रिय लगता है, उन्हें संसार नहीं रुचता। भगवान महावीर स्वामी की दिव्य ध्वनि में अपने शुद्धात्म स्वरूप की महिमा आई। धर्म की, शुद्धात्म तत्व ज्ञान गुण माला की अपूर्व महिमा सुनकर, सभा में उपस्थित प्रमुख श्रोता राजा श्रेणिक ने भगवान की प्रदक्षिणायें देकर अत्यंत भक्ति भाव से ज्ञान गुण माला मांगी। उन्होंने यह भी पूछा कि इस ज्ञान गुण माला को प्राप्त करने का अधिकारी कौन है और यह किसको प्राप्त होगी?

भगवान की दिव्य ध्वनि में आया कि यह ज्ञान गुण माला शुद्धात्म स्वरूप धन से नहीं खरीदा जा सकता, धर्म की प्राप्ति में धन आदि बाह्य संयोग, पद और भेष आदि का कोई संबंध नहीं है। बाहर से किसी के पास पुण्य के सभी साधन हों किन्तु शुद्ध दृष्टि न हो तो यह ज्ञान गुण माला दिखाई नहीं देगी।

शुद्ध दृष्टि जीव ही ज्ञान गुणमाला को देखने का अधिकारी है। उसमें भी सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की शुद्धि और वृद्धि जितनी-जितनी होगी, उतनी ही पात्रता और पुरुषार्थ के अनुरूप साधक को स्वरूप का स्मरण ध्यान रहता है। चौथे गुणस्थान से सिद्ध पद तक सभी आत्मज्ञ ज्ञानी, योगी, साधक, साधु अपनी भूमिका और स्वरूपस्थ दशा के प्रमाण के अनुसार अपने शुद्धात्म तत्व को अनुभव में लेते हैं, स्वरूप का स्मरण ध्यान रखते हैं। यह सम्पूर्ण महिमा सम्यक्दर्शन आत्मानुभूति की है, जिसके आश्रय से जीव अनंत दु:खों के जाल को एक क्षण मात्र में काट देता है।

सम्यक्दर्शन की अपूर्व महिमा का कथन करते हुए श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज लिखते हैं—

जे सिद्ध नंतं मुक्ति प्रवेसं, सुद्धं सरूपं गुनमाल ग्रहितं।
जे केवि भव्यात्म संमिक्त सुद्धं, ते जात मोष्यं कथितं जिनेन्द्रं ॥

जो अनंत सिद्ध परमात्मा मुक्ति को प्राप्त हुए हैं उनने शुद्ध स्वरूपी ज्ञान गुणमाला शुद्धात्म तत्व की अनुभूति को ग्रहण किया। जो कोई भी भव्यात्मा सम्यक्त्व से शुद्ध होंगे वे भी मुक्ति को प्राप्त करेंगे यह श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

तारण तरण श्रावकाचार में श्री गुरुदेव कहते हैं—**"मिथ्यात्वं परम दुष्यानि, संमिक्तं परमं सुखं"** मिथ्यात्व महान अकल्याणकारी दु:ख रूप है और सम्यक्त्व परम कल्याणकारी महा सुख रूप है।

जिस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान तो मिथ्याज्ञान और चारित्र, मिथ्याचारित्र हुआ करता है। वहीं सुख का स्थान भूत, मोक्षरूपी वृक्ष का अद्वितीय बीज स्वरूप तथा समस्त दोषों से रहित सम्यग्दर्शन जयवंत होता है, उसके बिना प्राप्त हुआ भी मनुष्य जन्म, अप्राप्त हुए के समान है।

यह सम्यग्दर्शन महारत्न समस्त लोक का आभूषण है, और मोक्ष होने पर्यन्त आत्मा को कल्याण देने में चतुर है। अन्य गुणों से हीन भी सम्यग्दृष्टि सर्वमान्य है, क्या बिना शान पर चढ़ा रत्न शोभा को प्राप्त नहीं होता ?

सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महा ऋद्धि है, अधिक क्या? सम्यक्त्व सर्व सिद्धियों का करने वाला है।

अपार संसार समुद्र तारने वाला और जिसमें विपदाओं को स्थान नहीं, ऐसा यह सम्यक्दर्शन जिसने अपने वश किया है, उस पुरुष ने कोई अलभ्य संपदा ही वश करी है।

जब जीव सम्यक्दर्शन को प्राप्त हो जाता है तब परम सुखी हो जाता है, और जब तक उसे प्राप्त नहीं करता तब तक दुःखी बना रहता है। सम्यक्दर्शन सर्व दुःखों का नाश करने वाला है, इसलिए इसमें प्रमादी मत बनो।

हे भव्य जीवो ! तुम सम्यक्दर्शन रूपी अमृत का पान करो क्योंकि यह अतुल सुख निधान है, समस्त कल्याणों का बीज है, संसार सागर से तरने को जहाज है। भव्य जीव ही इसका पात्र है, पाप वृक्ष काटने के लिए कुठार है, पुण्य तीर्थों में प्रधान है तथा विपक्षी जो मिथ्यादर्शन उसको जीतने वाला है।

ऐसे महा महिमा मय सम्यक्दर्शन का स्वरूप इस मालारोहण जी ग्रंथ में पूज्य गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज ने प्रगट किया है। इस ग्रंथ की ३२ गाथाओं में धर्म, सम्यक् दर्शन, साधना, ज्ञानी साधक की चर्या, आत्मानुभूति का प्रमाण, धर्म की महिमा आदि अनेक विषयों का अभूतपूर्व विश्लेषण प्राप्त होता है।

प्रस्तुत श्री मालारोहण ग्रंथ की ''अध्यात्म दर्शन'' टीका दशम प्रतिमा धारी आत्मनिष्ठ साधक पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज ने की है। श्री गुरु महाराज की गाथाओं का इस टीका में पूरा रहस्य और सार स्पष्ट हुआ है। इसमें साधक की अंतर्बाह्य साधना और मार्ग में आने वाली बाधायें तथा उनसे छूटने का उपाय भी बताया गया है। विशेषता यह है कि हर गाथा का एक दूसरी गाथा से जो संबंध है वह स्पष्ट करके पूज्य श्री ने इस टीका को पूरी एक श्रृंखला का रूप प्रदान कर दिया है। अभी तक की पूर्व में हुई टीकाओं में इस टीका की अपनी एक अनूठी ही विशेषता है जो आप स्वयं स्वाध्याय करके अनुभव करेंगे।

गाथा का शब्दार्थ, भावार्थ, प्रश्नोत्तर, सूत्र, गाथा के अभिप्राय को

पूर्णतया स्पष्ट करते हैं। तारण समाज को इस प्रकार के टीका ग्रंथों का प्राप्त होना २१वीं सदी का आध्यात्मिक उपहार, पूज्य श्री का भव्यजीवों पर उपकार, और एक महान उपलब्धि है।

पूज्य श्री महाराज जी ने अपनी विगत तीस वर्षों की आत्म साधना से अनेक अनुभव के मोती प्राप्त किए हैं, जिनके दर्शन उनके द्वारा की गई इन टीकाओं में होते हैं। पूज्य श्री द्वारा की गई तीन बत्तीसी की टीकाओं के प्रकाशन पूर्णता की ओर हैं। तीन बत्तीसी में **श्री मालारोहण की "अध्यात्म दर्शन टीका", श्री पंडित पूजा की "अध्यात्म सूर्य टीका" और श्री कमल बत्तीसी की "अध्यात्म कमल टीका"** की गई है। यह तीनों ग्रंथ क्रमशः सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के प्रतिपादक ग्रंथ हैं। यह रत्नत्रय की एकता ही मोक्षमार्ग है तथा रत्नत्रय की पूर्णता मोक्ष है।

विशिष्ट अपूर्व ज्ञान मार्ग, अध्यात्म मार्ग इन टीका ग्रंथों में आगम, अध्यात्म और साधना की दृष्टि से प्रस्फुटित हुआ है, जो जन-जन के लिए उपयोगी और कल्याणकारी है।

निष्पक्ष भाव से इनका स्वाध्याय कर आप भी ज्ञानानुभूति के सागर में डुबकी लगायें और प्राप्त करें अपने अनमोल स्वसंवेदन गम्य रत्नत्रय-सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र को, यही इन ग्रंथों का अभिप्राय और सार सिद्धांत है।

सभी भव्य जीव, सम्यक् दर्शन सत्य धर्म की प्रकाशक इस मालारोहण जी की अध्यात्म दर्शन टीका से अपने जीवन को आध्यात्मिक दर्शन ज्ञान मय बनायें और आत्म कल्याण का पथ प्रशस्त करें, यही मंगल भावना है।

ब्रह्मानंद आश्रम
पिपरिया, दिनांक २०.३.९९ **ब्र. बसंत**

संकल्प

अध्यात्म ही संसार के, क्लेशोदधि का तीर है।
चलता रहूं इस मार्ग पर, मिट जायेगी भव पीर है॥
ज्ञानी बनूं ध्यानी बनूं अरू, शुद्ध संयम तप धरूं।
व्यवहार-निश्चय से समन्वित, मुक्ति पथ पर आचरूं॥

दो शब्द

परमपूज्य श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज के गूढ़-गंभीर सूक्ष्म-तलस्पर्शी अध्यात्म साधना के चौदह ग्रंथ हैं जो भव्य जीवों को मुक्तिमार्ग के पथ प्रदर्शक हैं। इन ग्रंथों का स्वाध्याय मनन कर पूज्य श्री स्वामी ज्ञानानंद जी महाराज ने सार निकाला और अपने जीवन में उतारा और सभी भव्य जीवों को उसका मर्म आत्मकल्याण करने की प्रेरणा दे रहे हैं। आपने इन ग्रंथों में से श्री मालारोहण, श्री पंडितपूजा, श्री कमलबत्तीसी, श्री श्रावकाचार, श्री उपदेश शुद्धसार और श्री त्रिभंगीसार इन छह ग्रंथों की टीका अपनी सहज सरल सुबोध भाषा में की है, इन्हें पढ़कर हम लोगों को भी आत्मबोध हुआ और मेरा विशेष सौभाग्य यह है कि इन टीकाओं की प्रेस कापी करने का मुझे सुअवसर मिला। अभी तक मैंने श्री मालारोहण, श्री पंडितपूजा, श्री कमल बत्तीसी जी की प्रेस कापी तैयार की है, इनका प्रकाशन भी हो रहा है।

इनका सम्पादन अध्यात्म रत्न बाल ब्र. बसंत जी महाराज ने किया है जिसमें मेरे से जो लिखने में गल्तियां हुईं उनको उन्होंने सुधारा और व्यवस्थित किया है, वे धन्यवाद के पात्र हैं, मैं उनकी आभारी हूं।

महान महान सौभाग्य की बात यह है कि पूज्य श्री स्वामी ज्ञानानंद जी द्वारा लिखित "तारण की जीवन ज्योति" जिसमें श्री गुरु महाराज का पूरा जीवन चरित्र आंखों देखा हाल जैसा लिखा है, उसके चारों भागों की प्रेस कापी लिखने का मुझे सौभाग्य मिला और इस माध्यम से मुझे अपने आपको देखने समझने का भी मौका मिला, बड़ा आत्म संतोष मिला-बड़ा आनंद आया। इसके लिए मैं पूज्य श्री महाराज जी की अत्यंत आभारी हूं।

इस कार्य में बाल ब्र. सरला, ब्र. किरण बहिन और बाल ब्र. रचना (नंदश्री) का विशेष सहयोग और मार्गदर्शन मिलता रहा। सिलवानी में हम सब बहिनों की तत्व गोष्ठी और साधना क्रम चलता रहता है।

इन टीकाओं के स्वाध्याय से सभी भव्य आत्माओं को अध्यात्मदर्शन हो और अध्यात्म सूर्य के प्रकाश में सबके अध्यात्म कमल खिलें ऐसी मंगल भावना है।

सिलवानी **ब्र. विमल श्री**

दिनांक १.३.९९

मेरी अंतर्भावना

साहित्य, लेखक की अमूल्य निधि होती है, साहित्य, लेखक का जीवन्त जीवन होता है, जिसकी रूचि, धारा जिस रूप होती है उसका साहित्य भी वैसा ही होता है। साहित्य समाज का दर्पण है।

सोलहवीं शताब्दी के शुद्ध अध्यात्मवादी वीतरागी संत श्री जिन तारण-तरण मंडलाचार्य महाराज जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर भावलिंगी साधु थे, अपनी आत्म साधना के क्रम में चौदह ग्रंथों की रचना की, जो मोक्षमार्ग के साधक के लिए अमृत रसायन, अमूल्य निधि साधक संजीवनी है। इनके स्वाध्याय चिंतन मनन से अध्यात्म का रहस्य जो शुद्धात्मा है वह अनुभव में आता है और जगत का प्रपंच माया मोह तिरोहित हो जाता है। मेरा जीवन इन्हीं चौदह ग्रंथों के स्वाध्याय, ४६ दिवसीय अखण्ड पाठ करने से प्रारंभ हुआ है। मैं इनके प्रति पूर्ण समर्पित हूँ। इसी क्रम में पूज्य ब्र. ज्ञानानंद जी से मेरा धार्मिक परिचय सन् १९७२ से हुआ, वैसे वह मेरे बड़े भाई भी हैं।

होनहार की उत्कृष्टता, काललब्धि, कर्मों की उदय स्थिति सब जीवों की भिन्न-भिन्न होती है। सन् १९७४ में शांति शिविर के माध्यम से पूज्य श्री पं. जय कुमार जी (पू. श्री ब्र. जय सागर जी) के सानिध्य में श्री सेमरखेड़ी क्षेत्र पर हम लोगों का सत्संग स्वाध्याय चलता था, इसी बीच बसंत पंचमी के अवसर पर गुफाओं पर ध्यान सामायिक में ज्ञानानंद का जन्म और संयम का संकल्प हो गया। उसी समय से धर्म साधना में मित्रवत पूरा जीवन साधनामय चल रहा है। ज्ञान की साधना और कर्मों की अनुकूलता ने ज्ञानानंद जी को आगे बढ़ा दिया और ज्ञान-ध्यान मौन साधना चलने लगी, इसी क्रम में सन् १९८४ बसंत पंचमी को ब्रह्मचर्य प्रतिमा की दीक्षा हो गई। ज्ञानोपयोग-ज्ञान मार्ग की साधना में भजन आने लगे और तारण की जीवन-ज्योति लिखा गई, इन सबके साथ मैंने गुरु महाराज के ग्रंथों की टीका लिखने का आग्रह किया और वह क्रम भी शुरू हो गया और छह ग्रंथों की टीका भी लिखा गई तथा चौदह ग्रंथों की जयमाला भी लिखने में आ गई।

यह सब पढ़कर सुनकर मेरी आत्मा गद्‌गद् हो गई और मैं अपने आपको कृतकृत्य धन्य भाग्य मानता हूं कि ऐसी धर्म मित्रता-धर्म बन्धु-कहलाने का मुझे सौभाग्य मिला, धर्म प्रभावना में भी पूरा साथ रहा, साधक संघ का संचालक भी मुझे बनाया गया और सभी साधक श्री संघ धर्म प्रभावना में निस्पृह वृत्ति निःस्वार्थ भावना से समर्पित होकर अध्यात्म धर्म प्रभावना कर रहे हैं। बड़ी प्रसन्नता है कि बाल ब्र. बसंत जी ने इन टीकाओं का सम्पादन किया और इनका प्रकाशन हो रहा है, इनका स्वाध्याय कर सभी जीवों की अध्यात्म दृष्टि बने, अपने आत्म कल्याण का लक्ष्य बनाकर मुक्ति मार्ग पर चलें ऐसी मंगल भावना है।

साधक सदन बरेली **ब्र. नेमी**

दिनांक २६.२.९९

अध्यात्म-दर्शन

अध्यात्म वाद के कारण भारत-विश्व का गुरु माना जाता है, अध्यात्मवाद की चर्चा सब संत महात्मा धर्म सम्प्रदाय करते हैं, पर अध्यात्म दर्शन, विरलों को ही होता है। जैन धर्म में **'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'** कहा है।

सम्यग्दर्शन कहो, अध्यात्मदर्शन कहो, परमात्मदर्शन कहो, स्वरूप अनुभूति कहो, सब एक ही है, इसके होने पर ही अनादि मिथ्या दर्शन तथा जन्म मरण का चक्र मिटता है। करणानुयोग में पांच लब्धि का विधान है, द्रव्यानुयोग में भेदज्ञान पूर्वक शुद्धात्मानुभूति बताई है।

आज देश में धन वैभव के मूल्य बढ़ गए हैं, भौतिकता की चकाचौंध में जीवन अस्त-व्यस्त हो रहा है, आध्यात्मिकता से शून्य हो रहा है। सादगी का सौंदर्य, संघर्ष का हर्ष, समता का स्वाद और आस्था का आनंद यह सब हमारे आचरण से पतझर की तरह झर गए हैं। आज समाज की सारी अशांति सारे संक्लेश इसी वैचारिक पतझर का परिणाम हैं।

जो लोग जीवन को बिना कोई दिशा दिए जीना चाहते हैं, वे अपने आपको तो अर्थहीन बनाते ही हैं, समाज को भी हानिकारक परंपराओं की बेड़ी बांध जाते हैं। यह जीवन, सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट वरदान है, इसे निरर्थक नहीं बिताया जाना चाहिए। स्वहित और परहित के सोद्देश्य सार्थक बनाकर इसे जीना चाहिए।

इसी उद्देश्य को सामने रखकर श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज ने चौदह ग्रंथों की रचना की जिसमें जीव को अध्यात्म दृष्टि पूर्वक कैसे जीना चाहिए, इसका सांगोपांग वर्णन है। उन्हीं ग्रंथों में से पहला ग्रंथ यह श्री मालारोहण जी है, जिसकी अध्यात्म दर्शन टीका—आत्मनिष्ठ साधक पूज्य श्री स्वामी ज्ञानानंद जी महाराज ने की है। इसमें अध्यात्म दर्शन का सारा विधि-विधान अपने चिंतन-साधना और प्रश्नोत्तर के माध्यम से किया गया है। अध्यात्म दर्शन करने वाले मुमुक्षु जीवों के लिए यह रामबाण औषधि के रूप में है। इसका स्वाध्याय चिंतन-मनन कर अपने जीवन को अध्यात्ममय बनाएं इसी में मनुष्य भव की सार्थकता है।

श्री मालारोहण ग्रंथ का विषय निम्न प्रकार है—पहली दो गाथा में मंगलाचरण, तीसरी गाथा में भेदज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन, ४-५ गाथा में संसार के दुःखों से छूटने का उपाय, मान्यता मिटाना तत्व निर्णय, ६-७ गाथा में मुक्ति सुख का उपाय और प्रमाण, ८ से १४ गाथा-सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की शुद्धि, वृद्धि, १५वीं गाथा में सम्यग्दर्शन का प्रमाण, १६ से १८ गाथा-सम्यग्दर्शन धर्म की महिमा, १८ से २३ गाथा भगवान महावीर से राजा श्रेणिक का संवाद, २४ से ३१ गाथा-रत्नत्रय मालिका का स्मरण, ध्यान रहने की पात्रता उपाय, ३२वीं गाथा में मुक्ति की प्राप्ति।

बत्तीस गाथाओं का यह छोटा-सा ग्रंथ समयसार का सार है। इसकी टीका में पूज्य श्री ने वह सारे रहस्य उद्घाटित किए हैं, जिनसे हम अनभिज्ञ थे।

सभी जीवों के लिए यह ग्रंथ कल्याणकारी हो, सभी जीव अध्यात्मदर्शन कर अपने जीवन को सफल बनाएं इसी पवित्र भावना के साथ।

गंज बासौदा — **बा. ब्र. आत्मानंद**
दि. १.२.६६ — **संचालक-तारण तरण श्री संघ**

यह मत सोचो कि मैं धीरे-धीरे धर्म-मार्ग का अवलम्बन करूंगा किंतु अभी बिना विलम्ब किए ही शुभ कर्म करना प्रारंभ कर दो क्योंकि धर्म ही वह रहस्य है जो मृत्यु के समय तुम्हारा साथ देने वाला अमर मित्र सिद्ध होगा।

तारण पंथ

परमपूज्य प्रातः स्मरणीय श्री गुरु जिन तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज-सोलहवीं शताब्दी के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रांतिकारी महापुरुष हुए हैं। उस युग में जिनेन्द्र कथित जिन धर्म (ज्ञान मार्ग) की अभूतपूर्व धर्म प्रभावना का श्रेय पूज्य तारण स्वामी जी को ही है। उन्होंने उस समय धर्म के नाम पर होने वाले मिथ्यात्व आडम्बर पाखण्ड वाद का डटकर मुकाबला करते हुए- ४३ लाख जैन-अजैन लोगों को सत्य धर्म मुक्तिमार्ग (तारण पंथ) में दीक्षित किया और जिन शासन, जैन धर्म की महती प्रभावना की, उनके उपकारों को जैन समाज युगों-युगों तक नहीं भुला सकती।

वीतराग निर्ग्रन्थ दिगम्बर भावलिंगी साधु के रूप में अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ शुद्ध अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पण कर दिया। अध्यात्म की साधना के गूढ़ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्वपूर्ण विशेषता थी। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूतियुत चौदह ग्रंथ मुक्ति मार्ग के पथिक मुमुक्षु जीवों को युगों-युगों तक प्रेरणा देते रहेंगे।

श्री गुरु महाराज के १४ ग्रंथों में विचारमत का पहला ग्रंथ श्री मालारोहण जी है, इसकी अध्यात्म दर्शन टीका आत्म निष्ठ साधक पूज्य श्री स्वामी ज्ञानानंद जी महाराज ने अपनी ज्ञान ध्यान मौन साधना में रहते हुए सम्यग्दर्शन अध्यात्म दर्शन का बड़ा गंभीर रहस्य प्रकट किया है। सम्यग्दर्शन कब, कैसे, किसे, कैसा होता है ? यह श्री गुरु महाराज द्वारा विरचित इस मालारोहण की टीका में हार्द निकालकर रख दिया है। अध्यात्म की चर्चा करना आज सामान्य बात हो गई है परंतु स्वयं का जीवन कैसा है, अपने को अध्यात्म दर्शन हुआ या नहीं। इसका कोई निर्णय नहीं करता जबकि यह इतनी महत्वपूर्ण निधि है कि इसके बगैर मनुष्य भव की कोई सार्थकता ही नहीं है और न संयम साधना का कोई महत्व है।

पूज्य श्री के सान्निध्य में श्री संघ के सभी साधक अध्यात्म दर्शन की आराधना करते हुए मुक्तिमार्ग पर चलने का प्रयास कर रहे हैं तथा सत्यधर्म अध्यात्म दर्शन का प्रचार-प्रसार निःस्वार्थ भाव से कर रहे हैं। श्री संघ में प्रमुख—अध्यात्म रत्न बा. ब्र. श्री बसंत जी, ब्र. श्री स्वरूपानंद जी, युवारत्न बा. ब्र. आत्मानंद जी, श्रद्धेय ब्र. सहजानंद जी, ब्र. शांतानंद जी, विदुषी बा. ब्र. सरला जी, बा.ब्र. नंद श्री बहिन, ब्र. विमल श्री, ब्र. किरण बहिन आदि सभी साधक पूरे देश में धर्म साधना, धर्म प्रभावना में रत हैं।

आपके जीवन में अध्यात्म दर्शन का प्रादुर्भाव हो, आप इस ग्रंथ का

निष्पक्ष भाव से स्वाध्याय करें तथा अपने अंतर में देखें कि हमें कैसी अनुभूति हुई और हमारा वर्तमान जीवन कैसा है।

सम्यग्दर्शन की पात्रता के पांच सूत्र हैं—

१. वर्तमान जीवन का विवेक २. पाप पुण्य का निर्णय ३. कषाय की मंदता ४. धर्म की रुचि ५. सदाचारी जीवन, आपके जीवन में अध्यात्म दर्शन की ज्योति प्रगट हो इसी पवित्र भावना के साथ।

बीना — **बा. ब्र. उषा जैन**

दि. २०.२.९६ — **एम. ए.**

संयोजिका-तारण तरण श्री संघ

अपनी बात

मुक्ति का लक्ष्य होने से धर्म के प्रति आस्था है, सद्गुरु श्री जिन तारण स्वामी के प्रति पूर्ण श्रद्धा भक्ति है, उनके ग्रंथों के अवलम्बन से मुक्ति मार्ग पर चलने का प्रयास कर रहा हूं।

सन् १९८७ में बरेली में साधनारत् मालारोहण का अध्ययन स्वाध्याय चल रहा था। कुछ लिखने का भाव आया। लिखने लगा, दस गाथा तक लिखा, इसमें अपनी बात पकड़ में आ गई, उसकी शुद्धि के लिए लग गया, लिखना छूट गया। पुनः सन् १९९० में बरेली में साधना का योग बना, फिर मालारोहण सामने आई, उसी क्रम में दिनांक ७.१०.९० से ११.१.९१ तक सहज में यह लिखने में आ गया, इसमें मेरा कुछ नहीं है, मैंने तो सिर्फ फिटिंग की है। जैसे कपड़ा किसी का होता है, सीने वाला कोई और होता है। बीच में कांट-छांट करने वाला टेलर मास्टर कहलाता है। ऐसे ही यह सब रचना सद्गुरु तारण स्वामी की है। सिलाई, टीका में शब्द पूर्व आचार्य ग्रंथों के हैं। मेरी यह अनाधिकार चेष्टा है। क्योंकि बुद्धि का क्षयोपशम न होने से ज्यादा पढ़ा लिखा नहीं हूं फिर भी धृष्टता पूर्वक साहस किया है। अपनी बुद्धि, समझ के अनुसार सद्गुरु के अभिप्राय और शब्दों के अर्थ को वैसा ही रखने का प्रयास किया है। इसके बाद भी प्रमाद-अज्ञानता वश जो भूल हो गई हो। सद्गुरु और ज्ञानी जन क्षमा करेंगे।

पूर्व में इस ग्रंथ की टीका-श्रद्धेय ब्र. श्री शीतल प्रसाद जी, श्रद्धेय ब्र. श्री जय सागर जी, कवि भूषण स्व. श्री अमृत लाल जी चंचल, ब्रा. ब्र. श्री बसंत जी ने भी की है। एक दो टीका पुरानी, विद्वानों द्वारा की गई हैं। आपको जो जैसी उचित लगे मेरी गल्तियों से मुझे अवगत कराएं।

यह बत्तीस गाथाओं का बड़ा अनुपम ग्रंथ है। इसमें समयसार का सार-सम्यक् दर्शन का आधार है, इस ग्रंथ की टीका करने के प्रेरणा स्रोत प्रिय सखा, ब्र. श्री नेमीजी हैं, जिनके द्वारा पूरा समर्थन सहयोग मिलने से-ज्ञानानंद-निजानंद-सहजानंद पूर्वक इस मार्ग पर चल रहा हूं। यह टीका अपने लिए लिखी है। इसमें आपको कुछ मिले यह आपकी बात है तथा और भव्य जीव-ज्ञानीजन इसकी विस्तृत टीका करें। धर्म का प्रकाश हो ऐसी मंगल भावना है।

बरेली **ज्ञानानंद**

दिनांक-१४.४.९१ संक्रांति पर्व

✺ तत्व मंगल ✺

देव को नमस्कार

तत्वं च नंद आनंद मउ, चेयननंद सहाउ।
परम तत्व पद विंद पउ, नमियो सिद्ध सुभाउ॥

गुरु को नमस्कार

गुरु उवएसिउ गुपित रुइ, गुपित न्यान सहकार।
तारण तरण समर्थ मुनि, गुरु संसार निवार॥

धर्म को नमस्कार

धम्मु जु उत्तउ जिनवरहिं, अर्थति अर्थह जोउ।
भय विनास भवु जु मुनहु, ममल न्यान परलोउ॥

देव को, गुरु को, धर्म को नमस्कार हो।

✺ मंगलाचरण ✺

चेतना लक्षणं आनंद कंदनं, वन्दनं वन्दनं वन्दनं वन्दनं ॥टेक॥

शुद्धातम हो सिद्ध स्वरूपी,
ज्ञान दर्शनमयी हो अरूपी।

शुद्ध ज्ञानं मयं चेयानंदनं, वन्दनं वन्दनं वन्दनं वन्दनं॥१॥

द्रव्य नो भाव कर्मों से न्यारे,
मात्र ज्ञायक हो इष्ट हमारे।

सुसमय चिन्मयं निर्मलानंदनं, वन्दनं वन्दनं वन्दनं वन्दनं ॥२॥

पंच परमेष्ठी तुमको ही ध्याते,
तुम ही तारण-तरण हो कहाते।

शाश्वतं जिनवरं ब्रम्हानंदनं, वन्दनं वन्दनं वन्दनं वन्दनं ॥३॥

श्री मालारोहण जी जयमाल

१. शुद्धात्म तत्व अविकार निरंजन, चेतन लक्षण वाला है।
ध्रुव तत्व है सिद्ध स्वरूपी, रत्नत्रय की माला है॥
मन शरीर से भिन्न सदा, भव्यों का अंतर शोधन है।
भेद ज्ञान युत सम्यग्दर्शन, यही तो मालारोहण है॥

२. सम्यक् दर्शन ज्ञान चरण ही, मोक्षमार्ग कहलाता है।
महावीर की दिव्य देशना, जैनागम बतलाता है॥
सम्यक् दर्शन बिना कभी भी, हुआ न भव का मोचन है।
भेद ज्ञान युत सम्यग्दर्शन, यही तो मालारोहण है॥

३. मालारोहण मुक्ति देती, भव से पार लगाती है।
अनादि निधन निज सत्स्वरूप का, सम्यक् बोध कराती है॥
इसको धारण करने वाला, बन जाता मन मोहन है।
भेद ज्ञान युत सम्यग्दर्शन, यही तो मालारोहण है॥

४. सम्यग्दर्शन सहित प्रथम यह, सम्यग्ज्ञान कराती है।
भेद ज्ञान तत्व निर्णय द्वारा, वस्तु स्वरूप बताती है॥
समय सार का सार यही है, मुक्ति का सुख सोहन है।
भेद ज्ञान युत सम्यग्दर्शन, यही तो मालारोहण है॥

५. निज स्वरूप का सत्श्रद्धान ही, मोक्षमार्ग का कारण है।
आतम ही तो परमातम है, बतलाते गुरु तारण है॥
जब तक सम्यक् ज्ञान न होवे, जग में करता रोदन है।
भेद ज्ञान युत सम्यग्दर्शन, यही तो मालारोहण है॥

६. सभी जीव भगवान आत्मा, सब स्वतंत्र सत्ताधारी।
अपने मोह अज्ञान के कारण, बने हुए हैं संसारी॥
जिनने निज स्वरूप पहिचाना, करते सिद्धारोहण है।
भेद ज्ञान युत सम्यग्दर्शन, यही तो मालारोहण है॥

७. निश्चय सम्यग्दर्शन होना, एक मात्र हितकारी है।
पर-पर्याय से दृष्टि हटना, मुक्ति की तैयारी है॥
ज्ञानानंद स्वभाव ही अपना, जिनवाणी का दोहन है।
भेद ज्ञान युत सम्यग्दर्शन, यही तो मालारोहण है॥

८. सम्यग्दर्शन सहज साध्य है, करण लब्धि से होता है।
जीवन में सुखशांति आती, सारा भय गम खोता है॥
दृढ़ संकल्प रुचि हो अपनी, बंध जाता यह तोरण है।
भेद ज्ञान युत सम्यग्दर्शन, यही तो मालारोहण है॥

९. जाति पांति का भेद नहीं है, न पर्याय का बंधन है।
सभी जीव स्वतंत्र हैं इसमें, निज स्वभाव आलम्बन है॥
राजा श्रेणिक प्रश्न किए, यह महावीर उद्‌बोधन है।
भेद ज्ञान युत सम्यग्दर्शन, यही तो मालारोहण है॥

१०. जो भी मुक्ति गए अभी तक, जा रहे हैं या जावेंगे।
शुद्ध स्वभाव की करके साधना, वे मुक्ति को पावेंगे॥
जिनवर कथित धर्म यह सच्चा, दिव्य अलौकिक लोचन है।
भेद ज्ञान युत सम्यग्दर्शन, यही तो मालारोहण है॥

दोहा

सम्यग्दर्शन से सिंह बना, महावीर भगवान।
निज आतम अनुभव करो, जो चाहो कल्याण॥

तारण तरण की देशना, जिनवाणी प्रमाण।
मालारोहण से मिले, ज्ञानानंद निर्वाण॥

भूमिका

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है और पूर्णता मोक्ष है।

अध्यात्मवाद का मूल उद्देश्य आत्मा के सत्स्वरूप का बोध करना तथा अज्ञान जनित जो जन्म मरण का संसार चक्र चल रहा है, इससे मुक्ति का उपाय मोक्ष प्राप्त करना है। प्रत्येक जीव सुख चाहता है, दुःख से छूटना चाहता है, संसार में अज्ञानी को हमेशा दुःख ही दुःख है, क्योंकि वह परोन्मुखी दृष्टि होने से हमेशा पर का (शरीर संयोग-धन वैभव-परिवार का) ही विचार करता रहता है, इससे निरंतर चिंतित, आकुल, व्याकुल, दुःखी रहता है। कर्तापना होने से संकल्प विकल्पों में उलझा रहता है, उसे अपना कोई होश ही नहीं होता।

संसार में जीव को दो प्रकार के दुःख होते हैं—१. संयोगी पर्यायी दुःख। १. अज्ञान जनित आंतरिक दुःख और इन दोनों का निमित्त नैमित्तिक संबंध है। संसारी जीव संयोग जनित पर्यायी दुःखों को मिटाने का प्रयत्न करता है और वह कर्माधीन परिणमन है, जो अपने क्रम से बदलता रहता है और वह हमेशा आकुलित दुःखी रहता है। मूल में अज्ञान जनित दुःख मिटे तो यह सब दुःख ही मिट जाए।

श्री तारण स्वामी से भव्य जीवों ने यह प्रश्न किया कि यह अज्ञान जनित दुःख कैसे मिटे? इसके लिए श्री गुरु ने यह विचार मत के तीन ग्रंथ—श्री मालारोहण, पंडितपूजा, कमल बत्तीसी, ३२-३२ गाथाओं में लिपिबद्ध किए, जिनमें बुद्धि पूर्वक अपना निर्णय करने का निर्देश दिया है। श्री मालारोहण ग्रंथ में बुद्धि पूर्वक निर्णय कराया है कि मैं कौन हूं? मैं कहां से आया हूं? मेरा स्वरूप क्या है? मुझे कहां जाना है? इसका यथार्थ निर्णय होना ही अध्यात्म दर्शन सम्यग्दर्शन है।

हे भाई! एक बार तू स्वसम्मुख हो और निज स्वभाव को प्रतीति (अनुभूति) में लेकर श्रद्धान ज्ञान को सच्चा बना, तो तुझे सब सीधा सच्चा भासित होगा और तेरा मिथ्यात्व (विपरीत मान्यता) अज्ञान दूर हो जाएगा।

उपयोग को अन्तरोन्मुख करके मैं शुद्धात्मा हूं, ऐसा अनुभूति में आया कि अतीन्द्रिय आनंद के झरने, झरने लगते हैं। यही सत्य सनातन धर्म तारण पंथ मुक्तिमार्ग है। यह ग्राथा क्रं. ३ में स्पष्ट कहा है।

इसके लिए क्या करना पड़ता है? इसके लिए निरंतर भेदज्ञान का अभ्यास करना **इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्व भगवान आत्मा हूं, यह शरीरादि (शरीर-संयोग-भाव) मैं नहीं और यह मेरे नहीं हैं**। इसका अनुभूतियुत बोध होना ही अध्यात्म दर्शन (सम्यग्दर्शन) है।

श्री गुरु तारण स्वामी के साथ सभी जैन-अजैन भव्य जीव थे। उन्होंने प्रश्न किया कि धर्म क्या है क्योंकि धर्म के संबंध में बड़ी भ्रांतियां हैं?

श्री गुरु ने कहा **'चेतना लक्षणो धर्मो'** अपने चैतन्य स्वरूप का अनुभव प्रमाण बोध ही धर्म है। इस धर्म की महिमा क्या है? जे धर्म लीना गुण चेतनेत्वं, गाथा क्र. १६ सत्यधर्म की महिमा से वर्तमान-जीवन में सुख-शांति आनंद और मुक्ति की प्राप्ति होती है। धर्म की साधना क्या है ? अपनी मान्यता को मिटाना ही धर्म की साधना है।

भगवान महावीर स्वामी के समवशरण में राजा श्रेणिक ने जो प्रश्न किए थे उनका आंखों देखा सब वर्णन इस मालारोहण जी ग्रंथ में किया है। उस समय भट्टारकी प्रथा में धर्म के नाम पर धंधा चंदा नीलामी बोली आदि बाह्य आडंबर होते थे, रत्नत्रय की माला बिकती थी तथा अन्य भी अनेक अदेवादि की पूजा मान्यता को धर्म बताया जाता था।

श्री गुरु ने सत्य धर्म क्या है? इसका स्वरूप समस्त जग जीवों को बताया-जैसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा और बताया है, उसी सत्य धर्म का वीतराग भाव से आत्म कल्याण हेतु निरुपण किया है।

जिन्हें धर्म की श्रद्धा नहीं है, केवली परमात्मा जिनेन्द्र भगवान की वाणी की प्रतीति नहीं है, अंतर में वैराग्य नहीं है, कषाय की मंदता भी नहीं है वे धर्म की चर्चा करें, गृहीत मिथ्यात्व का पोषण करें, धर्म प्रभावना का ढोंग करें, वहां जीवों का अहित ही होता है।

यह मनुष्य भव अपना आत्म कल्याण करने के लिए मिला है, इसमें अपनी बुद्धि विवेक पूर्वक सत्यधर्म का निर्णय कर उस मार्ग पर चलें, तभी अपना भला होगा क्योंकि जीव अकेला आया है—और अकेला जाएगा, जैसी करनी यहां करेगा-वैसा ही फल पाएगा, धर्म और कर्म में कोई किसी का साथी नहीं है। धर्म स्वच्छन्दता का नहीं स्वतंत्रता का मार्ग है। अपने जीवन में निर्मानता, निर्मोहिता, पवित्रता आना ही धर्म साधना है।

स्वयं शुद्ध आनंदकन्द सच्चिदानंद भगवान आत्मा हूं ऐसी श्रद्धा सहित 'अनुभव पूज्य है' वही परम है, वही धर्म है, वही जगत का सार है वही भव से उद्धार करने वाला अध्यात्म दर्शन है।

अज्ञानी बाह्य क्रिया में धर्म मानता है। पर के आलम्बन से अपना भला होना मानता है, यही संसार का कारण है। जो व्यवहार में ही संलग्न है, जिनका अभी गृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटा, उनको आत्मस्वरूप की प्रतीति होना ही दुर्लभ है। आत्मा के अनुभव के बिना संसार का नाश नहीं होता।

जिसे व्यवहार में पूजा-पाठ, दया, दान, व्रत-संयम करने के राग का रस है, इनसे धर्म या मुक्ति होना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

इससे मुक्त होने का सहज सरल उपाय श्री गुरु ने इस ग्रंथ में बताया है।

श्री मालारोहण जी

(मूल गाथा सूत्र)

उवंकार वेदन्ति सुद्धात्म तत्वं, प्रनमामि नित्यं तत्वार्थ सार्धं ।
न्यानं मयं संमिक दर्सनेत्वं, संमिक्त चरनं चैतन्य रूपं ॥१॥

नमामि भक्तं श्री वीरनाथं, नंतं चतुस्टं त्वं विक्त रूपं ।
माला गुनं बोछन्ति त्वं प्रबोधं, नमामिहं केवलि नंत सिद्धं ॥२॥

काया प्रमानं त्वं ब्रह्मरूपं, निरंजनं चेतन लष्यनेत्वं ।
भावे अनेत्वं जे न्यान रूपं, ते सुद्ध दिस्टी संमिक्त वीर्जं ॥३॥

संसार दुष्यं जे नर विरक्तं, ते समय सुद्धं जिन उक्त दिस्टं ।
मिथ्यात मय मोह रागादि षंडं, ते सुद्ध दिस्टी तत्वार्थ सार्धं ॥४॥

सल्यं त्रियं चित्त निरोध नित्वं, जिन उक्त वानी हिदै चेतयत्वं ।
मिथ्यात देवं गुरु धर्म दूरं, सुद्धं सरूपं तत्वार्थ सार्धं ॥५॥

जे मुक्ति सुष्यं नर कोपि सार्धं, संमिक्त सुद्धं ते नर धरेत्वं ।
रागादयो पुन्य पापाय दूरं, ममात्मा सुभावं धुव सुद्ध दिस्टं ॥६॥

श्री केवलं न्यान विलोकि तत्वं, सुद्धं प्रकासं सुद्धात्म तत्वं ।
संमिक्त न्यानं चरनंत सुष्यं, तत्वार्थ सार्धं त्वं दर्सनेत्वं ॥७॥

संमिक्त सुद्धं हिदयं ममस्तं, तस्य गुनमाला गुथतस्य वीर्जं ।
देवाधिदेवं गुरू ग्रंथ मुक्तं, धर्मं अहिंसा षिम उत्तमाध्यं ॥८॥

तत्वार्थ सार्धं त्वं दर्सनेत्वं, मलं विमुक्तं संमिक्त सुद्धं ।
न्यानं गुनं चरनस्य सुद्धस्य वीर्जं, नमामि नित्वं सुद्धात्म तत्वं ॥९॥

जे सप्त तत्वं षट् दर्व जुक्तं, पदार्थ काया गुन चेतनेत्वं ।
विस्वं प्रकासं तत्वानि वेदं, श्रुतं देवदेवं सुद्धात्म तत्वं ॥१०॥

देवं गुरं सास्त्र गुनानि नेत्वं, सिद्धं गुनं सोलहकारनेत्वं ।
धर्मं गुनं दर्सन न्यान चरनं, मालाय गुथतं गुन सस्वरूपं ॥११॥

पडिमाय ग्यारा तत्वानि पेषं, व्रतानि सीलं तप दान चेत्वं ।
संमिक्त सुद्धं न्यानं चरित्रं, स दर्सनं सुद्ध मलं विमुक्तं ॥१२॥

मूलं गुनं पालंति जे विसुद्धं, सुद्धं मयं निर्मल धारयेत्वं ।
न्यानं मयं सुद्ध धरंति चित्तं, ते सुद्ध दिस्टी सुद्धात्म तत्वं ॥१३॥

संकाय दोषं मद मान मुक्तं, मूढं त्रयं मिथ्या माया न दिस्टं ।
अनाय षट् कर्म मल पंचवीसं, तिक्तस्य न्यानी मल कर्म मुक्तं ॥१४॥

सुद्धं प्रकासं सुद्धात्म तत्वं, समस्त संकल्प विकल्प मुक्तं ।
रत्नत्रयं लंकृत विस्वरूपं, तत्वार्थ सार्धं बहुभक्ति जुक्तं ॥१५॥

जे धर्म लीना गुन चेतनेत्वं, ते दुष्य हीना जिन सुद्ध दिस्टी ।
संप्रोषि तत्वं सोइ न्यान रूपं, ब्रजंति मोष्यं षिनमेक एत्वं ॥१६॥

जे सुद्ध दिस्टी संमिक्त सुद्धं, माला गुनं कंठ हिदय विरूलितं ।
तत्वार्थ सार्धं च करोति नित्वं, संसार मुक्तं सिव सौष्य वीर्जं ॥१७॥

न्यानं गुनं माल सुनिर्मलेत्वं, संषेप गुथितं तुव गुन अनंतं ।
रत्नत्रयं लंकृत स स्वरूपं, तत्वार्थ सार्धं कथितं जिनेन्द्रं ॥१८॥

श्रेनीय पिच्छन्ति श्री वीरनाथं, मालाश्रियं मागंति नेयचक्रं ।
धरनेन्द्र इन्द्रं गन्धर्व जष्यं, नरनाह चक्रं विद्या धरेत्वं ॥१९॥

किं दिप्त रत्नं बहुविहि अनंतं, किं धन अनंतं बहुभेय जुक्तं ।
किं तिक्त राजं बनवास लेत्वं, किं तव तवेत्वं बहुविहि अनंतं ॥२०॥

श्री वीरनाथं उक्तंति सुद्धं, सुनु श्रेनिराया माला गुनार्थं ।
किं रत्न किं अर्थ किं राजनार्थं, किं तव तवेत्वं नवि माल दिस्टं ॥२१॥

किं रत्न कार्जं बहुविहि अनंतं, किं अर्थ अर्थं नहि कोपि कार्जं ।
किं राजचक्रं किं काम रूपं, किं तव तवेत्वं बिन सुद्ध दिस्टी ॥२२॥

जे इन्द्र धरनेन्द्र गंधर्व जष्यं, नाना प्रकारं बहुविहि अनंतं ।
ते नंतं प्रकारं बहुभेय कृत्वं, माला न दिस्टं कथितं जिनेन्द्रं ॥२३॥

जे सुद्ध दिस्टी संमिक्त जुक्तं, जिन उक्त सत्यं सु तत्वार्थ सार्धं ।
आसा भय लोभ असनेह तिक्तं, ते माल दिस्टं हिदै कंठ रुलितं ॥२४॥

जिनस्य उक्तं जे सुद्ध दिस्टी, संमिक्तधारी बहुगुन समिद्धं ।
ते माल दिस्टं हिदै कंठ रुलितं, मुक्ति प्रवेसं कथितं जिनेन्द्रं ॥२५॥

संमिक्त सुद्धं मिथ्या विरक्तं, लाजं भयं गारव जेवि तिक्तं ।
ते माल दिस्टं हिदै कंठ रुलितं, मुक्तस्य गामी जिनदेव कथितं ॥२६॥

जे दर्सनं न्यान चारित्र सुद्धं, मिथ्यात रागादि असत्यं च तिक्तं ।
ते माल दिस्टं हिदै कंठ रुलितं, संमिक्त सुद्धं कर्मं विमुक्तं ॥२७॥

पदस्त पिंडस्त रूपस्त चेतं, रूपा अतीतं जे ध्यान जुक्तं ।
आरति रौद्रं मय मान तिक्तं, ते माल दिस्टं हिदै कंठ रुलितं ॥२८॥

अन्या सु वेदं उवसम धरेत्वं, ष्यायिकं सुद्धं जिन उक्त सार्धं ।
मिथ्या त्रिभेदं मल राग षंडं, ते माल दिस्टं हिदै कंठ रुलितं ॥२९॥

जे चेतना लष्यनो चेतनित्वं, अचेतं विनासी असत्यं च तिक्तं ।
जिन उक्त सार्धं सु तत्वं प्रकासं, ते माल दिस्टं हिदै कंठ रुलितं ॥३०॥

जे सुद्ध बुद्धस्य गुन सस्वरूपं, रागादि दोषं मल पुंज तिक्तं।
धर्म प्रकासं मुक्ति प्रवेसं, ते माल दिस्टं हिदै कंठ रुलितं ॥३१॥

जे सिद्ध नंतं मुक्ति प्रवेसं, सुद्धं सरूपं गुन माल ग्रहितं।
जे केवि भव्यात्म संमिक्त सुद्धं, ते जांति मोष्यं कथितं जिनेन्द्रं ॥ ३२॥

मालारोहण

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की श्रेणियों पर चढ़ना, आरोहण करना मालारोहण है। इस ग्रंथ में प्रतिपादित विषय सम्यक्दर्शन, मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है। अपने आत्म स्वरूप का अनुभव प्रमाण बोध होना ही सम्यक्दर्शन है। सम्यक्दर्शन होने पर अनादिकालीन दुःखों का अभाव और परम सुख की प्रकटता हो जाती है। अहो! ऐसे महिमामयी सम्यक्दर्शन रूपी महारत्न को ग्रहण करने में एक पल भर का भी विलम्ब मत करो।

मालारोहण ग्रंथ और इस अध्यात्म दर्शन टीका में आत्मनिष्ठ साधक आध्यात्मिक संत, दशम प्रतिमाधारी पूज्य श्री स्वामी ज्ञानानंद जी महाराज ने ज्ञानी के सत् पुरुषार्थ और साधना के मार्ग को स्पष्ट किया है। इसके लिए मूल मंत्र हैं—भेदज्ञान और तत्वनिर्णय, जो मोक्षमार्ग की साधना के आधारभूत मंत्र हैं।

भेदज्ञान—इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्व भगवान आत्मा हूं, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं।

तत्व निर्णय—जिस समय जिस जीव का जिस द्रव्य का जैसा जो कुछ होना है, वह अपनी तत्समय की योग्यता अनुसार हो रहा है और होगा इसे कोई टाल फेर बदल सकता नहीं।
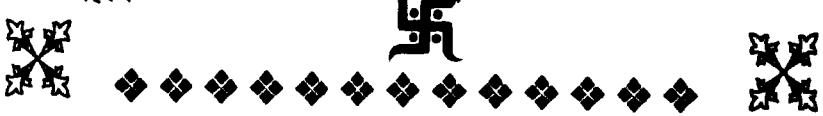
ॐ नमः सिद्धं

श्री मालारोहण जी

मंगलाचरण

नमहुँ सिद्ध परमात्मा, अपना सिद्ध स्वरूप ।
मंगलमय मंगलकरण, शाश्वत ब्रह्म अनूप ॥

ज्ञानमात्र ध्रुव सिद्ध सम, सब आतम भगवान ।
जो जाने निज रूप को, पावे पद निर्वाण ॥

आतम गुण माला कही, सद्‌गुरू तारण देव ।
महावीर की देशना, प्रगटी है स्वयमेव ॥

शुद्धात्म तत्व का लक्ष्य है, है मुक्ति का भाव ।
वीतराग जिन धर्म का, फैले जगत प्रभाव ॥

ज्ञानानंद-स्वभाव मय, रहूँ सदा तिहुँ काल ।
इसी भावना लक्ष्य से, लिखी आत्मगुण माल ॥

गाथा - १

मुक्ति को प्राप्त करने वाले साधक का लक्ष्य क्या होता है ? वह अपना इष्ट किसे मानता है ? यह बात पहली गाथा में कही है -

उवंकार वेदन्ति सुद्धात्म तत्वं, प्रनमामि नित्यं तत्वार्थ सार्धं ।
न्यानं मयं संमिक दर्सनेत्वं, संमिक्त चरनं चैतन्य रूपं ॥

शब्दार्थ - (उवंकार वेदंति) ॐकार स्वरूप पंच परमेष्ठी अनुभव करते हैं (सुद्धात्म तत्वं) शुद्धात्म तत्व का (प्रनमामि नित्यं) मैं हमेशा नमस्कार

करता हूँ (तत्वार्थ सार्धं) उस प्रयोजन भूत तत्व की साधना के लिए। वह शुद्धात्म तत्व कैसा है (न्यानं मयं) ज्ञानमयी है (संमिक दर्सनेत्वं) सम्यक् दर्शन से परिपूर्ण (संमिक्त चरनं) सम्यग्चारित्र मयी (चैतन्य रूपं) चैतन्य स्वरूपी है।

विशेषार्थ - परमात्म स्वरूप निज शुद्धात्म तत्व, जिसका पंच परमेष्ठी अनुभव करते हैं, जो शुद्धात्म तत्व सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मयी चैतन्य स्वरूपी है यही त्रिकाली परम शुद्ध निज शुद्धात्म तत्व मुझे इष्ट और प्रयोजनीय है, इसी तत्व की साधना और प्राप्ति के लिए मैं हमेशा प्रणाम करता हूँ।

ॐ शब्द शुद्ध आत्मा, ब्रह्म स्वरूप का वाचक है, इसकी अनुभूति पंच परमेष्ठी अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु करते हैं और इससे अपने परमात्म पद को पाते हैं। सात तत्व-जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इनमें एक मात्र जीव तत्व ही परमात्म स्वरूप का अर्थात्- मोक्ष का अधिकारी- सुख-शांति आनंद का भंड़ार-शाश्वत अविनाशी, चैतन्य, तत्व है। अनादि से यह अपने सत्स्वरूप को भूला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बना संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अपने सत्स्वरूप का बोध-स्मरण होना ही तत्व का सार है और इसी की साधना से परमात्मपद मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सद्गुरू तारण स्वामी अपने सत्स्वरूप शुद्धात्म तत्व को ही इष्ट मानते हुए, इसी की साधना-आराधना करने के लिए, हमेशा इसी का स्मरण-ध्यान करते हुए-नमस्कार करते हैं। शुद्धात्म तत्व ही सम्यक्दर्शन-सम्यक्ज्ञान-सम्यक्चारित्र मयी चैतन्य स्वरूपी है, यह रत्नत्रय ही देव है, यही इष्ट आराध्य है और इसकी साधना-आराधना करने वाले ही देव परमात्मा होते हैं।

अध्यात्म साधक-मुक्ति की प्राप्ति के इच्छुक मुमुक्षु जीव को अपने ही इष्ट शुद्धात्म तत्व की साधना-आराधना-प्रयोजनीय है। जब तक यह लक्ष्य और दृष्टि नहीं होगी तब तक संसार के जन्म-मरण से छुटकारा-मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि देव स्वरूप जो अरिहन्त सिद्ध

परमात्मा हैं वह इष्ट आराध्य और नमस्कार करने योग्य हैं या निज शुद्धात्म तत्व इष्ट आराध्य है?

समाधान - देव स्वरूप-अरिहन्त, सिद्ध परमात्मा इस बात के साक्षी और प्रमाण हैं कि आत्मा ही परमात्मा है। जगत का कोई भी भव्य जीव अपने सत्स्वरूप का श्रद्धान ज्ञान और साधना करके आत्मा से परमात्मा हो सकता है इसलिए निज सत्स्वरूप शुद्धात्म तत्व ही इष्ट आराध्य है, इसी के आश्रय से कर्म क्षय-पर्याय की शुद्धि और मुक्ति होती है। पर के इष्ट-आराध्यपने से-पराधीनता कर्म बंध होता है। इसी बात को ज्ञान समुच्चय सार की टीका में ब्र. श्री शीतलप्रसाद जी ने कहा है -

आत्मा का परमात्म रूप अनुभव ही-निर्वाण को प्राप्त करा देता है। जब सम्यग्दर्शन की दृष्टि पैदा हो जाती है तब कर्म मल के दोष से उत्पन्न मिथ्यात्व भाव- बिल्कुल गल जाता है। अपने आत्मीक पद से छूटकर पर पद में जाना चोरी है जिसने अपने आत्मा के रूप को देख लिया है कि मेरा आत्मा ही परमात्मा के समान पूर्ण ज्ञान स्वरूप है रागादि विषयों से रहित-परम चेतना मयी है, वही सिद्धि मुक्ति पाता है।

आत्म स्वभाव में रमणरूप भाव को छोड़कर-पर पर्याय का आश्रय करना, शरीर के शुभ रूप आचरण को इष्ट मानना अनन्त काल चार गति मय संसार में भ्रमण कराने वाला है।

अरिहन्त भगवान सर्वदोष रहित-परम शुद्ध केवलज्ञान मय हैं। उनका आत्मा-परमात्मा है, पर उनके आश्रय, उनके लक्ष्य से राग होता है- जो बंध का कारण है तथा निज शुद्धात्म तत्व के आश्रय से और लक्ष्य से वीतरागता होती है, जो मुक्ति का कारण है ; अत: अरिहन्त-सिद्ध परमात्मा हमारे मार्ग दर्शक हैं- साक्षी, प्रमाण एवं पूर्ण शुद्ध दशा को प्राप्त होने के कारण वन्दनीय नमस्कार करने योग्य हैं, पर इष्ट आराध्य तो अपना शुद्धात्म तत्व ही है, जिसके आश्रय से मुक्ति होती है। जिसके आश्रय से यह अरिहन्त सिद्ध हुए हैं और यही उपदेश समस्त भव्य जीवों को दिया है- यही बात इसी ग्रंथ की ३२ वीं गाथा में कही है-

जे सिद्ध नंतं मुक्ति प्रवेसं, सुद्धं सरूपं गुणमाल ग्रहितं।
जे केवि भव्यात्म संमिक्त सुद्धं, ते जांति मोष्यं कथितं जिनेन्द्रं ॥३२॥

जो अनन्त सिद्ध, सिद्धालय में विराजमान हैं उन सबने ही अपने शुद्ध स्वरूप की माला को ग्रहण कर सिद्ध पद पाया है। जो कोई भी भव्यात्मा शुद्ध सम्यक् दृष्टि होंगे अर्थात् भेदज्ञान पूर्वक अपने शुद्धात्म स्वरूप का श्रद्धान करेंगे, वे सब मुक्ति प्राप्त करेंगे, ऐसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है।

ज्ञानी–निश्चय–व्यवहार से समन्वय पूर्वक–सम्यक् चारित्र का पालन करते हैं। अपने को सच्चा मार्ग बताने वाले परमगुरू परमात्मा सद्गुरूओं के प्रति कैसी विनय भक्ति होती है– यह दूसरी गाथा में स्पष्ट है।

गाथा - २

नमामि भक्तं श्री वीरनाथं, नंतं चतुस्टं त्वं विक्त रूपं।
माला गुनं बोछन्ति त्वं प्रबोधं, नमामिहं केवलि नंत सिद्धं ॥

शब्दार्थ - (नमामि भक्तं) भक्तिपूर्वक मैं नमस्कार करता हूं (श्री वीरनाथं) श्री वीरनाथ महावीर भगवान को (नंतं चतुस्टं) अनन्त चतुष्टय को (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनंत सुख, अनन्त वीर्य) (त्वं विक्त रूपं) तुमने अपने स्वरूप में प्रगट कर लिया है (माला गुनं बोछन्ति) रत्नत्रय की माला आत्मा के गुणों को कहता हूँ– (त्वं प्रबोधं) तुम्हारे जानने के लिए (नमामिहं) मैं नमस्कार करता हूं (केवलि नन्त सिद्धं) अनन्त केवली और सिद्ध परमात्माओं को।

विशेषार्थ - जिन्होंने अनंत चतुष्टयमयी अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष प्रगट कर लिया है। ऐसे केवलज्ञानी श्री वीरनाथ महावीर भगवान को मैं भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूं और अनन्त केवलज्ञानी–अरिहन्त तथा सिद्ध भगवंतों को नमस्कार कर अन्तर आत्मा के प्रबोधन हेतु अर्थात् अपने सत्स्वरूप का बोध करने के लिए रत्नत्रय की माला शुद्ध स्वरूप के गुणों

का वर्णन करता हूं। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनंत सुख, अनन्त वीर्य, यह अनन्त चतुष्टय प्रत्येक आत्मा का अपना निज स्वरूप है, पर वर्तमान में संसारी दशा में कर्म मलों से आवृत होने के कारण अप्रगट रहता है। जैसे सूर्य का प्रकाश अपने में परिपूर्ण है पर बादलों के आवरण से वह ढ़का रहता है, जो भव्य जीव भेदज्ञान पूर्वक अपने सत्स्वरूप को जान लेता है और उसकी साधना कर अपने गुणों को प्रगट कर लेता है वह परमात्मा हो जाता है, इसी प्रकार अंतिम तीर्थंकर श्री भगवान महावीर स्वामी ने तथा अनन्त केवली परमात्माओं ने ऐसे अपने स्वरूप को प्रगट कर सिद्ध परमात्मा हो गये, मैं उन सबको नमस्कार करता हूं और उसी अरिहन्त, सिद्ध पद को पाने के लिए रत्नत्रय मयी गुणमाला अपने शुद्धात्मस्वरूप को तुम सबको जानने के लिए यह माला रोहण नामक ग्रंथ कहता हूँ। यहां सद्गुरू तारण स्वामी ने अपने लक्ष्य और अभिप्राय सहित समस्त भव्य जीवों को मुक्ति का मार्ग बताया है। अनादि संसार परिभ्रमण के चक्र से कैसे छूटा जाये। इसका संक्षेप में सार रूप कथन- आगे मात्र ३० गाथाओं में किया है। यह समयसार का सार -सम्यक्दर्शन का मुख्य आधार, भेदज्ञान तत्व निर्णय कराते हुए सम्यग्दर्शन की महिमा और उसका फल तथा आत्मा की प्रसिद्धि परमात्मा बनने का उपाय बताया है जो अपने आप में अनुपम ग्रंथ है।

यहाँ प्रश्न आता है कि तीर्थंकर अरिहन्त भगवंतों के ४६गुण होते हैं फिर भगवान महावीर के चार गुण ही प्रगट होने की बात क्यों कही है ?

समाधान - तीर्थंकर अरिहन्त परमात्माओं के ४६ गुण होते हैं पर कैसे होते हैं यह जानना आवश्यक है-

तीर्थंकर के जन्म के दश अतिशय- (१) स्वेद का अभाव (२) मल का अभाव- (३) मिष्ट वचन (४) दुग्ध समान रूधिर (५) बज्र वृषभनाराच संहनन (६) समचतुरस्र संस्थान (७) सुन्दर रूप (८) सुगंधता (९) १००८ लक्षण (१०) अतुलबल।

केवलज्ञान के दश अतिशय - (१) जीव बध नहीं (२) सुभिक्ष चहुं

ओर (३) उपसर्ग का अभाव (४) आकाश में गमन (५) कवलाहार नहीं (६) चतुर्मुख पना (७) ईश्वरपना (८) छायारहित पना (९) पलक न लगना (१०) नख केश नहीं बढ़ना।

देवकृत चौदह अतिशय- (१) अर्धमागधी भाषा (२) बैर रहित पना (३) षट् ऋतु के फल फूल की वर्षा (४) पृथ्वी दर्पण सम (५) सर्व धान्य फलना (६) जनमन हर्ष (७) धूल कंकट रहित भूमि (८) सुगंधपना (९) कमलों पर गमन (१०) निर्मल आकाश (११) जल की वर्षा (१२) मंगल द्रव्य (१३) धर्म चक्र (१४) जय-जय शब्द, चौदह अतिशय।

आठ प्रातिहार्य - (१) अशोक वृक्ष (२) दिव्य ध्वनि (३) चौसठ चमर (४) भामंडल (५) सिंहासन (६) छत्रत्रय (७) पुष्प वृष्टि (८) दुन्दुभि शब्द।

इस प्रकार यह ४२ गुण तो तीर्थंकर प्रकृति के पुण्य की महिमा है- इनसे आत्मा का तो कोई संबंध ही नहीं है। आत्मा तो रत्नत्रयमयी (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र) परम सुख-परम शांति परम आनंद का धाम-अनंत चतुष्टय का धनी है। जिनके प्रगट होने पर चार घातिया कर्म क्षय हो जाते हैं। केवलज्ञान-सर्वज्ञता-परमात्म पद प्रगट हो जाता है इसीलिए वंदनीय तो चार गुण हैं- जिनके प्रगट होने पर अठारह दोष विला जाते हैं - (१) क्षुधा का न लगना (२) प्यास का न लगना (३) जरा का न आना (४) शरीर संबंधी व्याधि न होना (५) जन्म न होना (६) मरण का न होना (७) सप्तभयों का न होना (८) आठ मद का न होना (९) राग न होना (१०) द्वेष न होना (११) मोह न होना (१२) चिन्ता न होना (१३) रति न होना (१४) निद्रा का न आना (१५) आश्चर्य न होना (१६) विषाद न होना (१७) स्वेद न आना (१८) खेद न होना, यह १८ दोष नहीं होते।

प्रश्न - शुद्धात्म तत्व, आत्मा परमात्मा और जीव अलग-अलग हैं या एक हैं ?

समाधान - यह तीनों एक ही है, मात्र व्यवहार अपेक्षा भिन्न-भिन्न कहे जाते हैं, जो कर्म जनित पुद्गल पर्याय में एकमेक हो रहा है, उसे जीव कहते

हैं। जिसने भेदज्ञान पूर्वक शरीरादि पुद्गल कर्मों से अपने स्वरूप को भिन्न जान लिया उसे आत्मा कहते हैं और जो अपने शुद्ध स्वभाव मय हो गया वही परमात्मा शुद्धात्म तत्व है।

प्रश्न – यह जीवात्मा कितना बड़ा है इसका स्वरूप क्या है, यह क्या करता है, शुद्धात्मतत्व को जानने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ?

इसके समाधान में यह तीसरी गाथा कही गई है–

गाथा - 3

काया प्रमानं त्वं ब्रह्मरूपं, निरंजनं चेतन लष्यनेत्वं ।
भावे अनेत्वं जे न्यान रूपं, ते सुद्ध दिस्टी संमिक्त वीर्जं ।।

शब्दार्थ - (काया प्रमानं) शरीर के प्रमाण अर्थात् जिस शरीर में जीव होता है वह उसी के बराबर उसी आकार में रहता है (त्वं) पर तुम अर्थात् जीवात्मा (ब्रह्मरुपं) ब्रह्म स्वरूप (परमात्म तत्व) (निरंजनं चेतन लष्यनेत्वं) निरंजन अर्थात् सारे कर्म मल से रहित चेतन लक्षण वाला है (भावे अनेत्वं) यह अंतरंग में चलने वाले औदयिक भाव सब अनित्य हैं (जे न्यान रूपं) तुम ज्ञान स्वरूपी हो जो तुम्हारे जानने में आते हैं। जो भेदज्ञान पूर्वक इस शरीर और इन भावों से अपने को भिन्न अनुभवता है (ते सुद्ध दिस्टी) वह शुद्ध दृष्टि है (संमिक्त वीर्जं) यही सच्चा पुरुषार्थ है।

विशेषार्थ - हे आत्मन् ! तुम इस शरीर के बराबर, शरीर से भिन्न, ब्रह्मस्वरूपी, निरंजन (सर्व कर्ममलों से रहित) चेतन लक्षणमयी हो कर्मोदयिक भाव अनित्य हैं, उन सबको जानने वाले ज्ञान स्वरूपी तुम हो। भेदज्ञान पूर्वक इस शरीर और इन भावों से भिन्न अपने सत्वस्वरूप को जानने वाला ही सम्यग्दृष्टि है और यही सच्चा पुरुषार्थ है, जो मुक्ति मार्ग का प्रथम सोपान है और यही भेदज्ञान करना है।

(१) जीवात्मा कितना बड़ा है – इस प्रश्न का उत्तर– ''काया प्रमानं'' संसार में यह जीव आत्मा जिस शरीर में रहता है उसी के आकार

उतना ही बड़ा होता है यह जीव के प्रदेशों की संकोच-विस्तार होने रूप एक विशेष शक्ति है, वैसे यह बहुत सूक्ष्म अरूपी है।

इसी बात को द्रव्य संग्रह में कहा है-

जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढ गई ॥2॥

जीव जीने वाला, उपयोग मयी, अमूर्तिक, कर्ता, शरीर प्रमाण, कर्मों के फल का भोक्ता, संसार में स्थित, सिद्ध और स्वभ.उ से ऊर्ध्वगमन करने वाला है और जब पूर्ण मुक्त सिद्ध होता है तब अपने ही शुद्ध प्रदेशों में अरूपी निराकार परमानंद में रहता है।

(२) इसका स्वरूप क्या है - ''ब्रह्मरूपं निरंजनं चेतन लष्यनेत्वं'' यह आत्मा, ब्रह्म स्वरूप, आनंदकन्द विज्ञान घन परमदेव निरंजन है अर्थात् कर्म कालिमा से विनिर्मुक्त है, परम चैतन्य ज्योति से चिन्हित है पूर्ण ज्ञान मई परम ज्योति स्वरूप है।

इसी बात को योगसार में कहा है-

णिम्मलु णिक्कलु सुद्ध जिणु, विण्हु बुद्धु सिवसंतु।
सो परमप्पा जिण भणिउ, एहउ जाणि णिभंतु ॥3॥

जो कर्म मल व रागादि मल रहित है जो निष्कल अर्थात् शरीर रहित है, जो शुद्ध व अभेद एक है। जिसने आत्मा के सर्व शत्रुओं को जीत लिया है, इसलिए जिन है जो विष्णु है अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा सर्व लोकव्यापी है, सर्व का ज्ञाता है जो बुद्ध है अर्थात् स्व-पर, तत्व को समझने वाला है, जो शिव है, परम कल्याणकारी है जो परमशांत व वीतराग है, वही आत्मा-परमात्मा है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है इस बात को शंका रहित जान।

(३) क्या करता है - ''भावे अनेत्वं जे न्यान रूपं'' जो भी पर पर्याय शरीरादि भाव विभावरूप परिणमन चलता है, वह अनित्य क्षणभंगुर नाशवान है, इन सबको मात्र देखता जानता है, मात्र ज्ञान स्वरूपी है आत्मा

कुछ भी करता-धरता नहीं है।

इसी बात को समयसार कलश में कहा है-

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा, मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त और क्या करे? आत्मा परभावों का कर्ता है, ऐसा मानना कहना, व्यवहार विमुग्धों का मोह ही है, अज्ञान ही है। इसी बात को समयसार में कहा है-

कम्मस्सय परिणामं, णो कम्मस्सय तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा, जो जाणदि सो हवदि णाणी॥

जो आत्मा क्रोधादि भावकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों एवं शरीरादि नो कर्मों का कर्ता नहीं होता, उन्हें मात्र जानता ही है, वही वास्तविक ज्ञानी है।

आत्मा ज्ञान मात्र है इसके लिए योगसार में नौ दृष्टांत दिए हैं।

रयण दीउ दिणयर दहिउ, दुद्धु धीव पाहाणु।
सुण्णउ रूउ फलिहउ अगिणि, णव दिट्ठंता जाणु॥५७॥

रत्न, दीप, सूर्य, दही दूध घी, पाषाण, सुवर्ण, चांदी, स्फटिकमणि और आग इन नौ दृष्टातों से जीव को जानना चाहिए।

यह न कुछ करता है न किसी से मिलता है। सब से निर्लिप्त न्यारा अपने में परिपूर्ण शुद्ध-बुद्ध अविनाशी ज्ञाता-दृष्टा चेतन तत्व है।

(४) इसको जानने से क्या लाभ है? "ते सुद्ध दिस्टि संमिक्त वीर्जं" - जो शरीरादि से भिन्न अपने सत्स्वरूप-शुद्धात्म तत्व को जान लेता है, निज शुद्धात्मानुभूति हो जाती है, वही शुद्ध दृष्टि है और यही सच्चा पुरुषार्थ है। इसी से मोक्ष का मार्ग प्रारंभ होता है, यह भेदज्ञान हो जाना ही जीवन की सार्थकता है।

भेदज्ञान – इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्व भगवान आत्मा हूं यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं।

इससे क्या लाभ है यह बात समयसार कलश १२९–१३१ में कही है– यह साक्षात् संवर शुद्धात्म तत्व की उपलब्धि (आत्मानुभवन) से होती है और शुद्धात्म तत्व की उपलब्धि भेदज्ञान से ही होती है अत: यह भेद विज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है। यह भेदविज्ञान तब तक अविच्छिन्न धारा से भाना चाहिए, जब तक कि ज्ञान पर भावों से छूटकर ज्ञान में ही स्थिर न हो जावे क्योंकि आज तक जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जितने भी जीव कर्म बंधन में बंधे हैं वे सब भेदविज्ञान के अभाव से बंधे हुए हैं।

इसी बात को समयसार गाथा २९६ में कहा है –

हे आत्मन्! तू इस ज्ञानानंद भगवान आत्मा में ही नित्यरत रह इसमें ही नित्य संतुष्ट रह इसमें ही तृप्त हो ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।

इसी बात को योगसार दोहा ५८ में कहा है कि –

देहादिरूप मैं नहीं हूं, यही ज्ञान, मोक्ष का बीज है। जैसे आकाश पर पदार्थों के साथ संबंध रहित है असंग, अकेला है, वैसे ही शरीरादि को जो अपने आत्मा से पर जानता है, वही परम ब्रह्मस्वरूप का अनुभव करता है व केवलज्ञान का प्रकाश करता है।

जैसे आकाश के भीतर एक ही क्षेत्र में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, असंख्यात कालाणु, अनंतजीव और अनंतानंत पुद्गल द्रव्य रहते हैं तथापि उनकी परिणति से आकाश में कोई विकार या दोष नहीं होता है। आकाश उनसे बिल्कुल शून्य, निर्लेप, निर्विकार बना रहता है, कभी भी उनके साथ तन्मय नहीं होता है। आकाश की सत्ता अलग व आकाश में रहे हुए चेतन–अचेतन पदार्थों की सत्ता अलग रहती है, वैसे ही ज्ञानी को समझना चाहिए कि आत्मा आकाश के समान अमूर्तिक है। आत्मा के सर्वअसंख्यात प्रदेश अमूर्तिक हैं, मेरी आत्मा के आधार में रहने वाले तैजस शरीर, कार्माण

शरीर, औदारिक शरीर व शरीर के आश्रित-इन्द्रियां, मन, वचन तथा उनके परिणमन सब मेरे आत्मा से भिन्न हैं, बंध प्राप्त कर्मों के उदय से होने वाले तीव्र कषाय या मंद कषाय के सर्व ही शुभ-अशुभ भाव मेरे आत्मा के शुद्ध स्वभाव से भिन्न हैं, मेरा कोई संबंध मन, वचन, काय की क्रिया से नहीं है, जगत में मेरे आत्मा के न कोई माता-पिता हैं, न कोई पुत्र है, न मित्र है, न कोई स्त्री है, न कोई भाई बहिन हैं, न मेरे आत्मा के कोई स्वामी है, न कोई सेवक है, न मेरा ग्राम है, न धाम है, न वस्त्र है, न आभूषण हैं, मेरा कोई संबंध किसी भी पर वस्तु से रंच मात्र भी नहीं है। अनादि संसार भ्रमण में मेरे साथ अनंत पुद्गलों का संयोग हुआ वे कर्म नो कर्म पुद्गल मेरे किसी भी गुण या स्वभाव का सर्वथा अभाव नहीं कर सके। कर्मों का आवरण होने पर भी मैं उसी तरह निरावरण रहा जैसे सूर्य के ऊपर मेघ आने पर भी सूर्य अपने तेज से प्रकाशमान रहता है। संसार अवस्था में मैंने अनेकों माता-पिता-भाई-पुत्र-मित्र से संबंध पाये परन्तु वे सब निराले ही रहे मैं उनसे-निराला ही रहा। चारों गतियों में बहुत से शरीर धारे व बहुत सी पर पदार्थों की संगति पाई, पर वे मेरे नहीं हुए और मैं उनका नहीं हुआ। अतएव मुझे यही श्रद्धान करना चाहिए कि मैं सदा ही रागादि विकारों से शून्य रहा व अब भी हूं और आगामीकाल में भी रहूंगा। मुझे सर्व मन के विकारों को बंद करके व सर्व जगत के पदार्थों से विरक्त होकर अपने उपयोग को अपने ही भीतर सूक्ष्मता से लगाना चाहिए। तब मुझे दिख जायेगा कि मैं ही ब्रह्म परमात्मा हूं- यही आत्म दर्शन यही आत्मानुभवन-केवलज्ञान का प्रकाशक है।

जब अन्तरंग में ज्ञान और रागादि का भेद करने का तीव्र अभ्यास करने से भेदज्ञान प्रगट होता है तब यह ज्ञान होता है कि ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का ही है, ज्ञान में जो रागादि की कलुषता, आकुलता रूप संकल्प-विकल्प भासित होते हैं वे सब पुद्गल-विकार हैं, जड़ हैं। इस प्रकार ज्ञान और रागादि के भेद का अनुभव होता है, जब ऐसा भेदज्ञान होता है तब आत्मा आनन्दित हो जाता है क्योंकि उसे ज्ञात हो जाता है कि स्वयं सदा ज्ञान स्वरूप ही रहा है, रागादि रूप कभी नहीं हुआ इसलिए सद्गुरू तारण-स्वामी

कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! अब प्रसन्न आनंद में होओ। जिसे भेदविज्ञान हुआ है वह आत्मा जानता है कि आत्मा कभी ज्ञान स्वभाव से च्युत नहीं होता, ऐसा जानता हुआ वह कर्मोदय के द्वारा तप्त होता हुआ भी रागी, द्वेषी, मोही नहीं होता; परन्तु निरंतर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। इस प्रकार इस शरीर के बराबर इस शरीर से भिन्न तुम सब कर्म मलादि से रहित-चेतन लक्षण ब्रह्मस्वरूपी परमात्म तत्व हो यह शरीर आदि इन्द्रिय वाले तथा अन्त:करण में होने वाले मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से ग्रसित यह विचारों का प्रवाह मोह राग द्वेषादि परिणमन भी तुम नहीं हो, यह भी तुम्हारे नहीं है क्योंकि यह तुम्हारे ज्ञानस्वरूप में दिखाई देते हैं तो देखने वाला और दिखने वाला यह दोनों भिन्न ही होते हैं इस प्रकार तुम इस शरीर मन बुद्धि से भिन्न चैतन्य स्वरूप परमात्मा हो, इस बात को सुनो समझो और स्वीकार करो, इस तत्व को स्वीकार करना सत्यश्रद्धान करना ही सच्चा पुरूषार्थ है।

जो जीव भेदज्ञान पूर्वक इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चेतन तत्व भगवान आत्मा हूं यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं हैं, ऐसा सत्श्रद्धान अनुभूतियुत स्वीकार करता है वह सम्यक्‌दृष्टि ज्ञानी है उसके मुक्ति का मार्ग खुल जाता है सत्य धर्म की उपलब्धि हो जाती है और वही- आत्मा से परमात्मा बनता है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यह बात तो अधिकांशत: सर्व मनुष्य जानते हैं कि यह शरीर अलग है और जीव अलग है। जब यह जीव शरीर से निकल जाता है, तब यह शरीर जला दिया जाता है। जीव के साथ संसारी कोई भी वस्तु, धन, शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, कुछ साथ नहीं जाता, जैसा जीव धर्म-कर्म करता है, वही उसके साथ जाता है; इसीलिए सभी मनुष्य बुरे कामों से डरते हैं, बचते हैं और अच्छे कार्य करते हैं इसलिए यह बताइये हम सब सम्यग्दृष्टि, मोक्ष मार्गी हैं या नहीं?

समाधान - भेदज्ञान पूर्वक जो शरीरादि से भिन्न निज शुद्धात्मानुभूति कर लेता है वह सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी है। इसलिए भेद विज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति किसे हुई या नहीं हुई ? यह तो स्वयं की स्वयं ही जानना पड़ेगी- पर से इसका कोई संबंध नहीं है।

प्रश्न- स्वयं को स्वयं कैसे जानें? इसके कुछ अन्तर बाह्य लक्षण बताइये कि सम्यग्दर्शन होने पर क्या स्थिति होती है- जिससे अपने आपको देख सकें?

समाधान - (१) सम्यग्दर्शन क्या है ? पहले इसे समझ लो, जैसे किसी जन्मांध व्यक्ति को सौभाग्य से दृष्टि आ जाये, नेत्र खुल जायें तो उसे कैसा लगता है ? तथा कैसा अपूर्व अनिर्वचनीय आनंद आता है, यही स्थिति सम्यग्दर्शन होने पर होती है। जैसे किसी व्यक्ति के यहाँ तहखाने में अमूल्य निधि रखी हो जिसका उसे पता न था, पता होने पर जब वह तहखाने को खोलकर अमूल्य निधि देखता है तो उसकी क्या स्थिति होती है कैसा लगता है ? यही सम्यग्दृष्टि की स्थिति है फिर वह तहखाना बंद कर देता है पर वह निधि उसकी दृष्टि श्रद्धान ज्ञान में हमेशा रहती है।

अनुभव, प्रत्यक्ष ज्ञान है अर्थात् वेद-वेदक भाव से आस्वाद रूप है और वह अनुभव पर सहाय से निरपेक्ष है। ऐसा अनुभव यद्यपि ज्ञान विशेष है तथापि सम्यक्त्व के साथ अविनाभूत है क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि के होता है। मिथ्यादृष्टि के नहीं होता ऐसा निश्चय है। (समयसार कलश ९)

(२) सम्यग्दृष्टि की अन्तरंग स्थिति क्या होती है ? जैसे बच्ची का संबंध तय कर दिया तो उसकी अंतरंग स्थिति क्या हो जाती है- घर में रहते सब कुछ करते अब यह मेरा कुछ नहीं है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की अंतरंग स्थिति हो जाती है कि-

गेही पे ग्रह में न रचे ज्यों, जल से भिन्न कमल है।
नगर नारि को प्यार यथा, कादे में हेम अमल है॥

(१) समस्त संकल्प-विकल्प से रहित वस्तु स्वरूप का अनुभव सम्यक्त्व है।

(२) निरूपाधि रूप से जीव द्रव्य जैसा है- वैसा ही प्रत्यक्ष रूप से आस्वाद आवे इसका नाम शुद्धात्मानुभव है। (समयसार कलश ९३)

(३) शुद्धात्मानुभूति ही मोक्ष मार्ग है, इसलिए शुद्धात्मानुभूति के होने

पर शास्त्र पढने की कुछ अटक नहीं है।

(३) बाह्य लक्षण आचरण क्या होते हैं? करता हुआ-अकर्ता, भोक्ता हुआ-अभोक्ता, जैसे नौकर या मुनीम काम करता है पर उसे कोई हानि लाभ से मतलब नहीं है, मालिकपना खत्म हो जाता है, मेहमान जैसा रहता है, नौकर जैसा करता है फिर उसे घर-परिवार, संयोग सब दु:ख रूप लगते हैं और इन सब संयोगों से छूटने के लिए छटपटाने लगता है।

जब निज आतम अनुभव आवे- और कछु न सुहावे।
रस नीरस हो जाय ततक्षण-अक्ष विषय नहीं भावे ॥
गोष्ठी कथा कौतूहल विघटे-पुद्गल प्रीत नसावे ॥

प्रश्न - अगर यह स्थिति नहीं बन रही ऐसा समझ में नहीं आता तो क्या करें?

समाधान - जब तक यह स्थिति न बने, तब तक हमेशा भेदज्ञान-तत्व निर्णय करना चाहिए। इससे वर्तमान जीवन में सुख शांति समता रहेगी और पात्रता पकने पर काललब्धि आने पर सम्यग्दर्शन भी हो जायेगा क्योंकि

चाहे समझो पलक में, चाहे जन्म अनेक।
जब समझे तब समझे हो, घट में आतम एक ॥

इसलिए निरंतर प्रयासरत रहना चाहिए। स्वाध्याय, सत्संग, तत्व चर्चा में अधिक समय लगायें, जितनी इस ओर की लगन रूचि होगी वैसा ही काम होगा। वैसे -

बात है जरा सी, अफसाना बड़ा है।

चित्त में नहीं बैठती, तो भूत खड़ा है ॥

इसको ही इष्ट मानकर समझने का प्रयास करें तो सहज में सब हो सकता है।

प्रश्न - इसको समझने का मूल आधार क्या है और उसका उपाय क्या है ?

समाधान – तत्व को समझने का मूल आधार है– जिज्ञासा, वस्तु स्वरूप को समझने की तीव्र लगन, रूचि होना। जैसे–धन का अर्थी चौबीस घंटे खाते–पीते, सोते, चलते–फिरते एक ही लगन रहती है कि धन कैसे प्राप्त हो ?

जैसे विद्यार्थी को पढ़ने की लगन रूचि होती है, इसी प्रकार जिसे अपने आत्म कल्याण की रूचि हो तो वैसे योग–निमित्त मिलते ही हैं। जैसे महावीर के जीव को सिंह की पर्याय में यह क्या है ? वस्तु स्वरूप समझने की जिज्ञासा पैदा हुई तो चारण ऋद्धि धारी मुनिराज सामने आये। इसके लिए निम्न आठ उपाय हैं।

(१) सत्संग– ज्ञानी सद्गुरूओं का, धर्मी जीवों का सत्संग करना।

(२) स्वाध्याय– सत्शास्त्रों को पढ़ना–सुनना और अपने आपको देखना, स्व का अध्ययन करना। इसके दो सूत्र हैं–

(i) हम कहां–जहां हमारा उपयोग।

(ii) हम कैसे–जैसे हमारे भाव ॥

(३) श्रवण–जो बिन सुने सयानों होय,तो गुरू सेवा करे न कोय। सद्गुरूओं की वाणी सुनना, तत्व के स्वरूप को समझना और उसका निर्णय करके धारण करना।

(४) मनन– परमात्मतत्व का युक्ति–प्रतियुक्तियों से चिंतवन करना स्व– पर का विचार करना मनन है।

(५) विवेक– सत्–असत् को जानना, हिताहित का विचार निर्णय करना।

(६) वैराग्य– संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होना।

(७) मुमुक्षुता– मुक्त होने की तीव्र भावना, संसार के जन्म–मरण के चक्कर से छूटने की तीव्र उत्कण्ठा होना।

(८) तत्व पदार्थ संशोधन– तत्व क्या है ? पदार्थ क्या है ? मेरा स्वरूप क्या है ? संसार का स्वरूप क्या है ? जीव अजीव का संबंध कैसा है ?

इसका चिन्तवन पूर्वक निर्णय करना। इन उपायों के माध्यम से जो अपनी खोज में लगा रहता है उसे साध्य की सिद्धि होती ही है। शुद्ध स्वरूप का अवलोकन, शुद्ध स्वरूप का प्रत्यक्ष जानपना, शुद्ध स्वरूप का आचरण, ऐसे करण करने से साध्य की सिद्धि अर्थात्-सकल कर्म क्षय, लक्षण मोक्ष की प्राप्ति होती है। (समयसार कलश १९)

प्रश्न – इन उपायों को करते हुए भी साध्य की सिद्धि नहीं होती इसका कारण क्या है ?

समाधान – साध्य की सिद्धि नहीं होने का कारण-लक्ष्य और रूचि की विपरीतता।

(१) लक्ष्य की विपरीतता – हमें कहाँ जाना है ? हम क्या चाहते हैं? इसका कोई निर्णय न होना। जैसे एक व्यक्ति हाथ में बैग लिए-बस स्टेंड पर सब बस वालों से पूछता फिर रहा था कि यह बस कहाँ जायेगी, कब जावेगी, कब पहुंचेगी, इसका किराया क्या लगेगा ? सुबह से शाम हो गई- एक बस वाले ने पूछा कि भाई तुम्हें कहां जाना है ? क्या होना है उसने कहा इसका तो मुझे पता ही नहीं है। जब तक यह लक्ष्य निर्धारित नहीं होगा तो हम बाहर से कितनी ही उठा पटक करते रहें-उसका क्या लाभ मिलेगा ? चर्चा आत्मा परमात्मा की करें और लक्ष्य-धन-विषय भोगादि का होवे- तो क्या काम बनेगा ? जैसे चील आकाश में कितने ऊपर उड़ जाती है पर उसकी दृष्टि लक्ष्य गंदी चीज पर ही रहता है उसे देखते ही वह झपट्टा मारकर नीचे आ जाती है। जैसे विद्यार्थी का लक्ष्य डाक्टर या इंजीनियर बनने का होता है- तो वह उस तरह के प्रयास करके बनता है। हमारा लक्ष्य धन हो और धर्म की चर्चा करें-लक्ष्य शारीरिक-विषय पूर्ति हो और आत्मा की चर्चा करें- यह तो सब विपरीत ही है।

(२) रूचि की विपरीतता– ऊपर से सब निर्णय हो – तद्रूप आचरण भी हो- पर आंतरिक भावना न हो, यह रूचि की विपरीतता है और रूचि अनुगामी पुरूषार्थ होता है। ऊपर से सदाचरण हो-ज्ञान आदि चर्चा भी करते रहें- पर भीतर संसारी कामना-वासना हो तो वह हमारे ज्ञान को साधना को

मिट्टी में मिला देती है। शुभ-अशुभ क्रिया में मग्न होता हुआ जीव विकल्पी है, इससे दु:खी है- क्रिया संस्कार छूटकर शुद्ध स्वरूप का अनुभव होते ही जीव निर्विकल्प है इससे सुखी है। (समयसार कलश १०४)

प्रश्न - यह कामना, वासना क्या है ?

समाधान - काम ही कामना है इसको गीताजी में विशेषता से बताया है। यह कामना, वासना मोह से पैदा होती है। यह शरीर ही मैं हूँ, ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है, जो संसार परिभ्रमण का कारण है और यह शरीरादि मेरे हैं, यह मान्यता मोह है जो अज्ञान रूप दु:ख का कारण है। यह जीव अनादि से इसमें मैं और मेरेपने की मान्यता के कारण ही बंधा है, स्वयं-परमात्म स्वरूप होते हुए दु:ख दुर्गति भोग रहा है। शरीर में अहंता और परिवार में ममता-यही मोह है। अनुकूल पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति घटना आदि के प्राप्त होने पर प्रसन्न होना और प्रतिकूल के प्राप्त होने पर उद्विग्न होना। संसार में, परिवार में, विषमता, पक्षपात, मात्सर्य आदि विकार होना यह सब मोह का दलदल है। इस मोह रूपी दलदल में जब बुद्धि फँस जाती है, तब मनुष्य किं कर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है फिर उसे कुछ भी हिताहित नहीं सूझता। शरीराशक्ति से कामना पैदा होती है, अंत:करण में छिपा हुआ राग रहता है, उसका नाम वासना है, उसे ही आसक्ति और प्रियता कहते हैं। कामना पूर्ति होने की सम्भावना आशा है। कामना पूर्ति होने पर अधिक की चाह लोभ है। विषयों का अनुराग-काम है। इच्छित वस्तुओं में बाधक कारण होने पर अपना संतुलन खो जाना क्रोध है।

पर का शरीरादि विषयों का चिन्तवन करने से आसक्ति पैदा होती है। आसक्ति से कामना पैदा होती है, कामना से उद्वेग काम-क्रोधादि पैदा होते हैं। उद्वेग होने पर सम्मोह मूढ़ भाव हो जाता है, सम्मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है, स्मृति भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश हो जाता है, बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य का पतन हो जाता है। जब तक यह कामना वासना रूप मोह रूपी राक्षस सिर पर चढ़ा रहता है, तब तक जीव की अपने आत्म स्वरूप की दृष्टि नहीं होती।

शुद्ध स्वरूप का अनुभव मोक्षमार्ग है, इसके बिना जो कुछ है शुभ क्रिया रूप अशुभ क्रिया रूप अनेक प्रकार सब बंध का कारण है। (समयसार कलश १०५)

प्रश्न - इससे छूटने, बचने और भेदज्ञान पूर्वक अपना आत्म चिन्तवन करने के लिए क्या करना चाहिए ?

समाधान - इसके भी कुछ बाधक कारण हैं, उन्हें हटाना, उनसे बचना भी जरूरी है क्योंकि संसार में प्रत्येक जीव-द्रव्य (धन) का संग्रह करने और भोग भोगने में ही लगा है, इसके कारण उसे आगे पीछे का कोई होश ही नहीं है। इसके लिये निम्न बातों का पालन करना आवश्यक है -

(१) व्यर्थ चर्चा-विकथाओं से दूर रहना, वाणी का संयम रखना।

(२) बुरी आदतों-व्यसनों का त्याग करना आवश्यक है।

(३) लोभ प्रवृत्ति छोड़ना-अधिक द्रव्य (धन) संग्रह न करना। द्रव्य होने पर दया-दान-परोपकार में लगाना।

(४) लौकिक पदार्थों की आशा छोड़ना।

(५) कामनाओं का त्याग करना।

(६) एकान्त में रहना।

(७) प्रारब्ध वश प्राप्त हुये सुख-दुःख में विचलित न होना।

(८) दुःख के कारण और मोहरूप पर के (अनात्म) चिन्तन को छोड़कर आनन्द स्वरूप आत्मा का चिन्तन करना।

(९) बीती हुई बातों को याद न करना।

(१०) भविष्य की चिन्ता न करना।

(११) वर्तमान में प्राप्त हुये सुख-दुःख में सम भाव में रहना।

(१२) उदासीन वृत्ति होना, इस प्रकार से अपने उपयोग को हटाकर अपने कल्याण, स्वरूप शुद्धात्मा का भेदज्ञानपूर्वक अनुभव करना चाहिए।

प्रश्न – क्या इन सब साधनों से आत्मानुभूति सम्यग्दर्शन हो जायेगा ?

समाधान – आत्मानुभूति, सम्यग्दर्शन तो सहजसाध्य है, अपने स्वरूप का दर्शन ही सम्यग्दर्शन है, अपने स्वरूप का बोध ही सम्यग्ज्ञान है और अपने स्वरूप में लीन रहना ही सम्यग्चारित्र है, बाहरी साधन निमित्त हैं, पात्रता की बात तो अपनी है –

> खुदा की तस्वीर हृदय के आईने में है गालिब।
> जब चाहा, जरा गरदन झुकाई देख ली ॥

गरदन झुक जाये और अपना स्वरूप दिख जाये बस यही महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार स्वर्ण और पाषाण मिले हुये चले आ रहे हैं और भिन्न-भिन्न रूप हैं, तथापि अग्नि के संयोग बिना, प्रगट रूप से भिन्न होते नहीं। अग्नि का संयोग जब पाते हैं, तभी तत्काल भिन्न-भिन्न होते हैं। उसी प्रकार जीव और कर्म का संयोग अनादि से चला आ रहा है। जीव-कर्म भिन्न-भिन्न हैं तथापि भेदज्ञान से शुद्ध स्वरूप अनुभव बिना प्रगट रूप से भिन्न-भिन्न होते नहीं। जिस काल शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है, उस काल भिन्न-भिन्न होते हैं। (समयसार कलश ४५)

प्रश्न – जब यह अपना ही स्वरूप है और सहज साध्य है फिर इसकी अनुभूति हमें क्यों नहीं होती यह हमें क्यों नहीं दिखता ?

समाधान – इसे देखने की इतनी तड़फ लगन हमें हो तो क्यों नहीं दिखाई देगा, अवश्य दिखाई देगा। जैसे सिनेमा देखने, टी.वी. पर कोई कार्यक्रम देखने की हमें कितनी लगन होती है कि सब काम छोड़कर समय से पहले पहुँच जाते हैं। क्या इतनी भी लगन हमें आत्म स्वरूप को देखने जानने की है ? जैसे धन के लिए रात-दिन लगे रहते हैं, खाना-पीना छोड़ देते हैं, मरने जीने की फिकर नहीं करते, जो कि भाग्य से मिलना होगा तो मिलेगा, न मिलना होगा तो कितना ही प्रयत्न करें नहीं मिलेगा। क्या इसका-शतांश भी धर्म की तरफ लगन है ? धर्म को, अपने आत्म स्वरूप सम्यग्दर्शन को हम संसार में ही उलझे हुये वैसे ही चाहते हैं, हमारी लगन रूचि कहाँ की है, क्या है ? कभी इसकी तरफ देखा ? अरे यह तो वह अमूल्य निधि है-जिसके प्राप्त

होने पर तीन लोक चरणों में झुकता है, जिसके होते ही अट्ठावन लाख योनियों का जन्म-मरण का चक्कर छूट जाता है, जीवन मे सुख शांति आ जाती है। क्या कभी हमें ऐसा विचार आया कि अपने स्वरूप को जाने बिना हमारा भला होने वाला नहीं है। धर्म ही एक मात्र कल्याणकारी है क्या कभी ऐसा भाव पैदा हुआ ? हम अपने इस अमूल्य मानव जीवन को कहाँ कैसा गवाँ रहे हैं ? हमें यह कुछ होश ही नहीं है। जबकि यह मनुष्य भव बड़े सौभाग्य से अपना आत्म कल्याण करने मुक्त होने के लिये मिला है, जिसे हम धन, शरीर, परिवार के मोह में कैसे गवां रहे हैं ? इसका भी विचार नहीं है।

जबकि दौलतरामजी ने कहा है -

यह मानुष-पर्याय सुकुल सुनिवो जिनवाणी ।
इहि विधि गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥

मानस में कहा है कि-

बड़े भाग्य मानुष तन पावा, सुर दुर्लभ सद ग्रन्थन गावा ।
साधन धाम मोक्ष करि द्वारा, पाई न जेहि परलोक संभारा ॥
सो नर निंदक मूढमति, आतम हनि गति जाई ।
जो न तरहिं भवसागर, नर समाज अस पाई ॥

स्वयं से विचार करें कि हम क्या चाहते हैं ? हम जो चाहें वह रह सकते हैं, वैसा बन सकते हैं, यह स्वतंत्रता वर्तमान जीवन में हमें मिली है।

प्रश्न - यह बात सत्य है कि हमारी लगन रुचि अपने आत्म कल्याण करने धर्म को इष्ट मानने की नहीं है, अभी तक अपने आपको धोखे में ही रखे रहे और अज्ञान अंधकार में ही डूबे रहे, पर अब यह बात समझ में आई कि वास्तव में धर्म क्या है ? और अब सम्यग्दर्शन पूर्वक मुक्ति पाना ही है, इसके लिये आप उपाय बताईये, अब इस संसार में नहीं रहना, जन्म-मरण के चक्कर से छूटना ही है ?

समाधान - ठीक है, यह भावना शुभ है, श्रेष्ठ है पर यह भावुकता है या

अंतरंग भावना है इसे पक्का करो क्योंकि वैराग्य तीन तरह का होता।

(१) मरघट का वैराग्य

(२) मन्दिर का वैराग्य

(३) अन्दर का वैराग्य

(१) मरघट का वैराग्य – इसमें भी संसार असार लगने लगता है पर, घर पहुँचते–पहुँचते सब साफ हो जाता है।

(२) मन्दिर का वैराग्य – तत्व चर्चा करने, धर्मोपदेश सुनने से ऐसा ही भाव होने लगता है कि संसार असार है पर मन्दिर से बाहर निकलते ही सब साफ हो जाता है।

(३) अन्दर का वैराग्य – जो स्वयं की बुद्धि का निर्णय होता है–वह कल्याणकारी होता है और उस रूप चर्या भी होने लगती है। अब इस चर्चा में कौन सा वैराग्य आया है, वह समझ लो। एक तत्व चर्चा बुद्धि के विकाश के लिये होती है, एक तत्व चर्चा आत्मकल्याण के लिये होती है।

जिज्ञासा भी दो प्रकार की होती है।

(१) स्वयं के आचरण में लाने के लिये।

(२) दूसरी सिद्धांत को समझने और दूसरों को बताने के लिए।

इसमें अपना निर्णय कर लो क्योंकि श्री तारण स्वामी ने इसीलिये पहले विचार मत रखा है कि बुद्धिपूर्वक अपना यथार्थ निर्णय करना, इसी से अपना जीवन और भविष्य बनता है इसी का नाम मालारोहण है।

अगर अपने को आत्मानुभूति, सम्यग्दर्शन करना है, मुक्त होना है तो सावधान तैयार हो जाओ, क्योंकि धर्म चर्चा का विषय नहीं है चर्या का विषय है। सम्यग्दर्शन मुक्ति मार्ग के निम्न साधन हैं।

(१) प्रतिदिन मन्दिर जाने, स्वाध्याय, तत्व चर्चा करने और सामायिक ध्यान करने का संकल्प पूर्वक नियम होना चाहिए।

(२) तत्व चर्चा में ज्ञानी सद्गुरूओं से विनम्रता पूर्वक यह पूछना चाहिए कि मैं कौन हूँ ? संसार कैसा है ? बंधन क्या है ? मोक्ष क्या है ? परमात्म तत्व का अनुभव कैसे हो सकता है ? मेरे साधन में क्या कमीं, क्या बाधाऐं हैं ? उन बाधाओं को कैसे दूर किया जाये? तत्व समझ में क्यों नहीं आ रहा ? इनको समझने की कोशिश करना और निरन्तर ऐसा ही चिंतन अपने में चलते रहना चाहिये।

(३) शरीरादि संयोग से उदासीन रहना, भेदज्ञान करना।

- शरीर के आदर सत्कार, सुख बुद्धि और कल्पित नाम की कीर्ति एवं प्रतिष्ठा की चाह न होना।
- शरीर, मन, वाणी, से किसी भी प्राणी को किसी प्रकार कभी भी किंचित मात्र दु:ख न देना।
- शरीर, मन, वाणी की सरलता निष्कपट भाव रखना।
- जन्म-मरण वृद्धावस्था और रोग आदि में दु:ख रूप दोष के कारणों का बार-बार विचार करना।
- शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदि के प्राप्त होने पर चित्त में सदैव समता का रहना।
- तत्व ज्ञान के अतिरिक्त किसी भी वस्तु की चाह न होना।
- संसारी मनुष्यों के बीच रहते हुये, किसी से द्वेष बुद्धि, बैर विरोध न होना।

(४) प्रमाद नहीं करना, इसके १५ भेद हैं।

चार विकथा - (राजकथा, चोर कथा, भोजनकथा, स्त्री कथा)

चार कषाय - (क्रोध, मान, माया, लोभ)

पांच इन्द्रिय - (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण)

निद्रा, स्नेह – (१५, इनसे सदैव बचते रहना)

(५) भेदज्ञान–तत्वनिर्णय का निरन्तर अभ्यास करना।

भेदज्ञान – इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्व भगवान आत्मा हूँ, यह शरीर आदि मैं नहीं और यह मेरे नहीं।

तत्वनिर्णय – जिस समय जिस जीव का जिस द्रव्य का जैसा जो कुछ होना है, वह अपनी तत् समय की योग्यतानुसार हो रहा है और होगा, उसे कोई भी टाल फेरबदल सकता नहीं।

ऐसा जीवन बनने पर स्वरूप की अनुभूति सम्यग्दर्शन सहज में हो जाता है। आत्म कल्याण, मुक्ति की भावना, संयममय, सदाचारी जीवन, स्वाध्याय, सत्संग और सामायिक ध्यान का अभ्यास करने वाले को सम्यग्दर्शन अवश्य होता है, जिसके होते ही लोकालोक को जानने वाला केवलज्ञान स्वरूप शुद्धात्म तत्व स्पष्ट अनुभव में आ जाता है। अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द अमृत रस झरने लगता है, अनादि अज्ञान अंधकार समाप्त हो जाता है। तीन मिथ्यात्व, चार अनन्तानुबंधी कषाय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो जाता है। ४१ कर्म प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति हो जाती है, १५ कर्म प्रकृतियों की उदय व्युच्छित्ति हो जाती है। सम्यग्दर्शन होते ही संसार की मौत आ जाती है वह फिर संसार में रहता ही नहीं है। दो, चार, दस भव में मुक्त हो जाता है, यह धर्म की, अपने शुद्ध स्वरूप की बड़ी अपूर्व महिमा है।

प्रश्न – सम्यग्दर्शन होने पर क्या विशेषता होती है ?

समाधान – जिसे सम्यग्दर्शन होता है उसकी –

(१) शरीर धनादि की इष्ट बुद्धि समाप्त हो जाती है।

(२) पापों से, विषय भोगों से अरूचि होने लगती है।

(३) व्यर्थ चर्चा, संसारी प्रपंच अच्छे नहीं लगते।

(४) अन्तर से बैर–विरोध भाव मिट जाता है।

(५) धर्म और धर्मी जीवों के प्रति प्रेम, स्नेह,वात्सल्य के भाव होते हैं, धर्म प्रभावना, तन–मन–धन से करता है।

(६) जीने की इच्छा, मरने का भय, पाने का लालच और करने का राग नहीं रहता।

(७) संसारी सात भय विला जाते हैं-इस लोक भय, पर लोक भय, अकस्मात भय, वेदना भय, अगुप्ति भय, अनरक्षा भय, मरण भय यह सात भय नहीं होते।

(८) आठ अंग प्रगट हो जाते हैं-निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना, यह आठ अंग प्रगट हो जाते हैं।

(९) पहली-मेरा अपना कोई नहीं है, कुछ भी नहीं है। दूसरी-मुझे अपने लिये कुछ भी नहीं चाहिए। तीसरी-मुझे अपने लिये कुछ भी नहीं करना है, यह तीन बातें हमेशा उसके अन्तरंग में गूंजती रहती हैं।

(१०) आठ शंकादि दोष, आठमद, छह अनायतन, तीन मूढ़ता, यह पच्चीस दोष विला जाते हैं।

इस प्रकार की कई विशेषतायें उसके जीवन में प्रगट होने लगती हैं। सब जीवों के प्रति, मैत्री, प्रमोद, कारूण्य, माध्यस्थ भाव रहता है। जीव की अपनी पात्रतानुसार-अनेक गुण प्रगट हो जाते हैं। मुख्य बात तो एक ही है कि मैं आत्मा शुद्धात्मा-परमात्मा हूँ यह शरीरादि मैं नहीं और मेरे नहीं हैं। ऐसा भेदज्ञान पूर्वक निर्णय सत्श्रद्धान होने से जीवन में आनन्द ही आनन्द रहता है। फिर बाहर से कैसी परिस्थिति में रहना पड़ता है, क्या करना पड़ता है, इसका कोई महत्व नहीं रहता। इसके लिये एक कथानक है, जिससे अपनी बात स्पष्ट हो जायेगी।

एक गाँव में एक सेठ रहता था, उसकी पत्नी थी और उनके एक ही बालक था, जिसकी उम्र पाँच वर्ष थी। एक बार उस गाँव में डाकू आये और उस बालक का अपहरण करके ले गये, सोचा २-४ लाख रूपया लेकर छोड़ देंगे, पर जब वह अपने ठिकाने पर पहुँचे तो जो डाकुओं का सरदार था, उसने बालक को देखा, बालक की सुन्दरता, होनहारता देखकर उसके मन में उसके

प्रति प्रेम स्नेह उमड़ आया। उस डाकू के कोई भी संतान नहीं थी, उसने उसे अपने पुत्र रूप में रखने का निश्चय कर लिया।

इधर सेठ-सेठानी की बड़ी दयनीय दशा हो गई, एक ही बालक और उसका अपहरण हो जाना, उनके प्राण छटपटाने लगे। उन्होंने बालक की खोज के लिए सारे प्रयत्न किये, राज्य शासन ने भी काफी प्रयास किया। सेठ ने अपनी सारी सम्पत्ति देने की घोषणा कर दी कि बालक के बदले अपनी सारी सम्पत्ति देने को तैयार हूँ , लेकिन जब डाकुओं के सरदार ने अपना निर्णय कर लिया था तो वह बालक को कैसे देता ? ऐसी सम्पत्ति तो वह रोज ही लूटता-बांटता था। पुत्र के वियोग में सेठजी की स्थिति खराब हो गई, खोजते-खोजते दो वर्ष बाद उनकी मृत्यु हो गई।

इधर बालक का अपहरण, उधर पति की मृत्यु से उस बालक की मां की क्या स्थिति हुई ? यह तो अकथनीय है। सेठानी मां ने भी बहुत प्रयास किया, पर कोई पता नहीं मिला, मां भी हताश हो गई। पर मां विवेकवान थी, उसने सोचा पति की तो मृत्यु हो गई, अब वह तो लौटकर आने वाला ही नहीं है परन्तु मेरे बेटे का अपहरण हुआ है, वह मरा नहीं है, कभी न कभी तो मिल सकता है, लौट कर आ सकता है। इस आशा से उसने एक व्यवस्था बनाई कि उस गाँव में बाहर से आने-जाने वाला कोई भी व्यक्ति हो - उस मां के यहाँ जलपान करे, विश्राम करे और फिर जहाँ जाना हो, जावे। इससे उसके दो काम सधते थे कि सम्पत्ति का सदुपयोग होता था और बालक की खोज का भी काम चलता रहता था इससे समय भी सहजता से निकलता था, इस व्यवस्था से चारों तरफ उसकी प्रभावना होने लगी, लोगों की उसके प्रति बड़ी सहानुभूति और श्रद्धा होने लगी और उसका जीवन भी ऐसे ही सत्कार्य में बीतने लगा। इस प्रकार २० वर्ष हो गये, मां वृद्ध हो गई पर उसके इस कार्य में शिथिलता नहीं आई। अनायास एक दिन एक थानेदार चार सिपाहियों सहित एक डाकू को पकड़कर लाया और जैसी व्यवस्था थी, वह उस मां के यहाँ जलपान विश्राम करने के लिये ठहरा। सबने जलपान किया, बैठे। जैसा मां का काम था, भैया कहाँ से आ रहे हो, कहाँ जाना है ? क्या हालचाल है ? यह सब पूछा करती थी, वैसा ही उसने थानेदार से पूछा, थानेदार ने कहा-मां आजकल

डाकुओं का आतंक बहुत बढ़ गया है, हम उन्हीं को पकड़ने के लिये फिर रहे हैं। आज मुश्किल से यह एक डाकू पकड़ में आया है। मां ने डाकू की तरफ देखा, वह नौजवान, हथकड़ी बेड़ियों में जकड़ा हुआ, जिसके कपड़े फट रहे थे और हालत भी बड़ी अस्त-व्यस्त हो रही थी। अपने घुटनों में सिर दिये चुपचाप बैठा यह सब सुन रहा था। पर जैसे ही उस मां ने डाकू को देखा-मां की आंखों से आसुंओं की धारा बहने लगी। थानेदार ने देखा-पूछा मां तू क्यों रो रही है ? बता तेरे को क्या तकलीफ है ? हमने तेरा नमक खाया है, तू हम सबकी इतनी निःस्वार्थ-सेवा कर रही है, हम तुझे दुःखी नहीं देख सकते, बता क्या बात है ? हम अपने प्राणों की बाजी लगा देंगे, पर तुझे कोई तकलीफ नहीं होने देंगे। मां ने कहा-बेटा क्या बताऊँ, मैं बड़ी दुखयारी हूँ अपने दुःख को दबाये बैठी रहती थी। आज इस डाकू को देखकर मुझे अपने बेटे की याद आ गई कि मेरा बेटा भी इतना बड़ा हो गया होगा और इसकी सूरत शक्ल और माथे के यह निशान को देखकर ऐसा लगता है कि हो न हो, यही मेरा बेटा है क्योंकि पाँच वर्ष की उम्र में मेरे बेटे का अपहरण हो गया था आज बीस वर्ष हो गये हैं। मैं उसी की प्रतीक्षा में अपनी जिन्दगी गुजार रही हूँ। उसके वियोग में दो वर्ष बाद ही पति का स्वर्गवास हो गया। मैं दुखयारी अपने पुत्र मिलन की आशा में ही आज तक जिन्दा हूँ। थानेदार ने कहा-मां तू इतनी अधीर मत हो, ऐसा मत कह कि यह डाकू मेरा बेटा है, वरना हम झंझट में पड़ जायेंगे क्योंकि अगर यह डाकू कहने लगे कि मैं ही तेरा बेटा हूँ-तो हम क्या लक्ष्य या सबूत देंगे ? तू अपनी सारी बातें बता, हम खोज करेंगे। अगर तेरा बेटा जिन्दा होगा तो हम जरूर तुझसे मिलायेंगे, हम यह वचन देते हैं। हमने तेरा नमक खाया है, हम उसे पूरा निभायेंगे। बता तेरे बेटे की कैसी हुलिया, सूरत, शक्ल है ? जब यह चर्चा यहाँ चल रही थी तो उधर वह नौजवान डाकू भी यह सब बातें सुन रहा था और उसे भी अपने बचपन की घटना और बीते दिन याद आ रहे थे। डाकूओं से उसे यह भी पता लग गया था कि वह इस डाकू सरदार का बेटा नहीं हैं, किसी सेठ का बेटा है पर अबोध अनभिज्ञ होने के कारण वह भी उनके साथ रहता, डाके डालना सीख गया था और अच्छा डाकू सरदार बन गया था। जब यह सब बातें उसने सुनी, तो उसे भी भीतर से सिहरन पैदा होने लगी। वह भी मां से मिलने के लिए तड़फने लगा। पर मजबूरी थी डाकू भेष में

हथकड़ी-बेड़ियों से जकड़ा और कोई प्रमाण भी नहीं था, जिसको बता कर कह सके कि माँ मैं तेरा बेटा हूँ। वह भी टकटकी लगाये बड़े गौर से इनकी चर्चा सुनने लगा, उसकी आंखों से आँसू टपकने लगे। जब थानेदार ने उसकी शक्ल, सूरत, हुलिया के बारे में पूछा, तो माँ ने कहा – कौन मां अपने बेटे को न पहिचानेगी ? सूरत-शक्ल से तो वह ऐसा ही था और उसके माथे पर भी ऐसा ही निशान था। थानेदार ने कहा – मां ऐसा तो बहुत लोगों के होता है, यह डाकू हैं, लड़ते, मरते, गिरते हैं तो इनको यह निशान होना तो स्वाभाविक है। तू तो कोई गुप्त चिन्ह बता – जिससे हम तेरे बेटे की खोज कर सकें, अभी जेल में ऐसे बहुत से नौजवान डाकू कैदी हैं, हम जरूर उसकी खोज करेंगे।

माँ ने कहा – कि भैया, हर माँ अपने बेटे के गुप्त से गुप्त चिन्ह जानती है, मेरे बेटे के सीने पर तीन तिल के निशान भी हैं।

जैसे ही माँ ने यह कहा, उधर, उस डाकू ने अपनी कमीज फाड़कर अपना सीना देखा और एकदम खड़ा होकर चिल्लाया-माँ ! माँ ! मैं तेरा बेटा हूँ।

माँ दौड़ पड़ी और हथकड़ी बेड़ी से जकड़े हुये, अपने बेटे को सीने से लगा लिया। थानेदार, सिपाही आश्चर्य चकित रह गये, गाँव वालों की भीड़ लग गई, माँ को बधाईयाँ देने लगे।

माँ ने कहा – बेटा ! तूने जो अपराध किये हों, उन्हें स्वीकार कर लेना, सत्य को नहीं छोड़ना, मेरी पूरी सम्पत्ति तेरे लिये है। मैं तुझे छुड़ाकर, मुक्त कराकर ही दम लूंगी। थानेदार ने भी साथ देने का वायदा किया।

जय बोलो, श्री गुरू महाराज की-जय।

यह एक सत्य घटना भी है और कथानक भी है, पर हमें इससे क्या समझना है कि अनादि से यह जीव भी इन कर्म लुटेरों के साथ फंसा है और इन्हीं जैसा हो रहा है। माँ जिनवाणी, सद्गुरू हमें अपने स्वरूप का बोध करा रहे हैं, हम भी संसारी हथकड़ी-बेड़ियों में जकड़े हुये हैं पर हम यह संसारी नर-नारकादि पर्याय वाले पाप, कषाय, मोह-राग, द्वेषादि परिणाम वाले डाकू

नहीं हैं। हम भी परमात्मा के बेटे चिदानन्द चैतन्य लक्षण वाले रत्नत्रय स्वरूपी भगवान आत्मा हैं। अगर हम भी जाग जाते हैं, अपने स्वरूप को देखकर हुंकार भरते हैं कि माँ! मैं तेरा बेटा हूँ तो यह माँ जिनवाणी हमें भी संसार से मुक्त कराकर, परमात्म पद दिला देगी।

हमारे अन्दर से भी ऐसी ही छटपटाहट, तड़फ और हुंकार उठे, हमें भी यह संसारी बंधनों का दुःख लगे, रोना आवे, छूटने की भावना हो और अपने स्वरूप का बोध जागे कि मैं चैतन्य लक्षण वाला, ब्रह्म स्वरूपी, निरंजन, भगवान आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं हैं। तो सम्यग्दर्शन तो सहज साध्य है ही, मुक्ति और परमात्म पद भी सहज में होगा।

भेद विज्ञान जगो जिनके घट, शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन।
केलि करें शिव मारग में, जग माहिं जिनेश्वर के लघु नन्दन॥
सत्य स्वरूप प्रगट्यो तिनको, मिटियो मिथ्यात्व अवदात निकन्दन।
शान्त दशा तिनकी पहिचान, करें कर जोड़ि बनारसि वन्दन॥

इसी बात को यहाँ सद्गुरू आचार्य तारणस्वामी–इस तीसरी गाथा में कह रहे हैं, इतनी सरलता, सहजता से अपनी निधि की विधि, सम्यग्दर्शन, धर्म की उपलब्धि बताई है। सुनें, समझें, मानें तो इसी में अपना भला हो और इसमें ही मनुष्य भव की सार्थकता, यही सच्चा पुरूषार्थ है।

प्रश्न – जिसे सम्यग्दर्शन, निज शुद्धात्मानुभूति हो जाती है वह फिर क्या करता है, कैसा रहता है, संसार कैसा लगता है, यह बतलाइये ?

इस प्रश्न का समाधान करने के लिये सद्गुरू श्रीजिन तारणस्वामी चौथी गाथा कहते हैं–

गाथा–४

संसार दुष्यं जे नर विरक्तं, ते समय सुद्धं जिन उक्त दिस्टं।
मिथ्यात मय मोह रागादि षंडं, ते सुद्ध दिस्टी तत्वार्थ सार्धं॥

शब्दार्थ- (संसार दुष्यं) संसार दु:ख रूप है (जे नर) जो नर (सम्यग्दृष्टि) (विरक्तं) छूटना चाहता है (ते) वह (समय सुद्धं) शुद्ध समय (शुद्धात्मा) को (जिन उक्त) जिनेन्द्र के कहे अनुसार (दिस्टं) देखे (मिथ्यात) मिथ्यात्व (मय) मद (मोह) मोह (रागादि) राग-द्वेष (षंडं) खंडन करें, तोड़ें (ते) वह (सुद्ध दिस्टी) सम्यग्दृष्टि (तत्वार्थ सार्धं) तत्वार्थ के श्रद्धानी साधक हैं।

विशेषार्थ - जो नर (सम्यग्दृष्टि) जिन्हें संसार दु:ख रूप लगने लगा, जो पंच परावर्तन रूप संसार के जन्म-मरण आदि दु:खों से छूटना चाहते हैं, वे जिनेन्द्र भगवान के कहे अनुसार अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखते हैं और मिथ्यात्व, मद, मोह, रागादि को छोड़ते हैं वही शुद्धदृष्टि तत्वार्थ के श्रद्धानी हैं, जो निज शुद्धात्मा की साधना से, संसार के दु:खों से छूट जाते हैं।

सम्यग्दृष्टि क्या करता है ? कैसा रहता है ? संसार कैसा लगता है ? इस प्रश्न के उत्तर में यह चौथी गाथा सद्गुरू कहते हैं कि जो नर (सम्यग्दृष्टि) संसार दु:ख रूप है, ऐसा जानकर इससे विरक्त होते हैं, छूटना चाहते हैं, क्योंकि जिसे संसार सुख रूप लगता है, वह मिथ्यादृष्टि है और जिसे संसार दु:ख रूप लगता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

निश्चय से - अपने स्वरूप से खिसक जाना, हट जाना ही संसार है और यही सम्यग्दृष्टि को दु:ख रूप लगता है और व्यवहार से संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव यह पंच परावर्तन रूप जिसमें चार गति चौरासी लाख योनियों के जन्म-मरण का चक्र चलता है। भय, चिन्ता, शोक, ताप, आक्रन्दन, बध, बंधन, क्षुधा, तृषा, रोग आदि असीम दु:खों की खानि है। इसी बात को श्री गुरू तारणस्वामी ने श्रावकाचार की १५ वीं गाथा में अव्रत सम्यक्दृष्टि का स्वरूप बताते हुए कहा है कि-

संसारे भय दुष्यानि, वैरागं जेन चिंतये।

संसार भय और दु:ख की खानि है, इससे जो वैरागी छूटने का चिन्तवन करता है वह अव्रत सम्यग्दृष्टि है। वर्तमान में मनुष्य का संसार अपना धन, शरीर, परिवार है, जो अपने-अपने संसार में रत रहते हैं। अब यह सब बंधन

दु:ख रूप लगने लगा क्योंकि विकल्प ही दु:ख हैं और सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को विकल्प पुसाते नहीं हैं। तो जो इनसे छूटना चाहता है, वह नर सम्यग्दृष्टि है।

जब तक संयोग, संबन्ध रहेगा विकल्प होते ही हैं।

इसलिये इनसे हटने बचने के लिए मिथ्यात्व, मद, मोह, राग-द्वेषादि का खंडन करता है, तोड़ता है, छोड़ता है तथा जिनेन्द्र सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा है वैसे अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखता है। वह सम्यग्दृष्टि साधक-संसार के दु:खों से छूटता है, मोक्ष को प्राप्त होता है।

इसी बात को समयसार कलश १८१ में कहा है कि-

जीव द्रव्य तथा कर्म पर्यायरूप, परिणत पुद्गल द्रव्य का पिंड इन दोनों का एक बंध पर्याय रूप सम्बंध अनादि से चला आया है, सो ऐसा संबन्ध जब छूट जाये, जीव द्रव्य अपने शुद्ध स्वरूप रूप परिणवे, अनन्त चतुष्टय रूप परिणवे तथा पुद्गल द्रव्य-ज्ञानावरणादि कर्म पर्याय को छोड़े, जीव के प्रदेशों से सर्वथा अबंध रूप होकर सम्बंध छूट जाये, जीव-पुद्गल दोनों भिन्न-भिन्न हो जावें, उसका नाम मोक्ष कहने में आता है, उस भिन्न-भिन्न होने का कारण, ऐसा जो मोह-राग-द्वेष इत्यादि विभाव रूप अशुद्ध परिणति के मिटने पर जीव का शुद्धात्म रूप परिणमन सर्वथा सकल कर्मों के क्षय करने का कारण है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि-

प्रश्न - जिस जीव ने भेदविज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति कर ली, जो सम्यग्दृष्टि हो गया उसे कुछ करने, छोड़ने की तो बात ही नहीं होना चाहिये क्योंकि जब उसने शरीरादि को और अपने शुद्ध स्वरूप को भिन्न-भिन्न जान लिया फिर अब क्या रह गया ?

उसका समाधान करते हैं कि अनादि से जीव अपने स्वरूप को भूला द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म इन तीनों कर्म के बंधन में बंधा है। अभी तक यह मैं हूँ, ये मेरे हैं, मैं इनका कर्ता-भोक्ता हूँ, ऐसी मिथ्या मान्यता से संसार में रुलता चला आ रहा है। अभी उसने भेदविज्ञान पूर्वक अपने स्वरूप को और इनको भिन्न-भिन्न जाना है पर वह अभी इनसे छूटा तो नहीं है। इन

कर्मों का फैलाव और बंधन कैसा है ? कितना है ? यह जानना भी जरूरी है। भेदज्ञान पूर्वक सत्श्रद्धान की अपेक्षा पर का स्वामित्वपना छूट गया, पर अभी संयोग, सम्बंध नहीं छूटा है।

इसी बात को समयसार कलश २९ में कहा है -

अनादि काल से जीव मिथ्यादृष्टि है, इसीलिये कर्म संयोगजनित हैं जो शरीर, दुःख-सुख, राग-द्वेषादि, विभाव पर्याय उन्हें अपना ही जानता है और उन्हीं रूप प्रवर्तता है। हेय-उपादेय नहीं जानता है, इस प्रकार अनन्तकाल तक भ्रमण करते हुय जब थोड़ा संसार रहता है और परमगुरू का उपदेश प्राप्त होता है कि हे भव्य जीव ! जिन शरीर आदि सुख-दुःख, मोह, राग-द्वेष को तू अपनाकर जानता है और इनमें रत हुआ है वे तो सब ही तेरे नहीं हैं, अनादि कर्म संयोग की उपाधि है, ऐसा निश्चय जिस काल हुआ उसी काल सब विभाव भावों का त्याग है। शरीर, सुख-दुःख जैसे थे-वैसे ही हैं, परिणामों से त्याग है क्योंकि स्वामित्वपना छूट गया है इसी का नाम अनुभव है, इसी का नाम सम्यक्त्व है।

उदाहरण - धोबी का बदला हुआ वस्त्र पहिनना, जानकारी होने पर स्वामित्वपना छूट जाना, वस्त्र अभी छूटा नहीं है।

प्रश्न - इन कर्मों का स्वरूप, बन्धन कैसा है, कितना है, यह बताइये?

समाधान - कर्म तीन प्रकार के होते हैं-द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म। संसार संयोगी दशा में जीव का और इन कर्मों का एक क्षेत्रावगाह, निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध है।

(१) द्रव्य कर्म - इसके आठ भेद हैं- चार घातिया, चार अघातिया।

चार घातिया कर्म - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय। जो आत्मा के अनुजीवी गुणों का घात करते हैं अर्थात् अशुद्ध पर्यायरूप परिणमित होते हैं।

चार अघातिया कर्म - आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय। यह जीव के

प्रतिजीवी गुणों का घात करते हैं अर्थात् बाहर की अनुकूलता-प्रतिकूलता रूप शरीरादि संयोग मिलता है।

इन आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियाँ होती हैं, जिनके द्वारा ही जीव का और शरीरादि संसार का परिणमन चलता है। मोह की तीव्रता मन्दता से साता-असाता रूप वेदनीय कर्म का वेदन होता है।

१- ज्ञानावरण - पट वस्त्र (परदा) जैसा अपने स्वरूप को ढ़के रहता है। इसके उत्तर भेद पाँच हैं- मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन:पर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण।

इस कर्म बन्ध के कारण - १. प्रदोष- प्रशंसा योग्य कथनी सुनकर, दुखित वृत्ति व ईर्ष्या भाव से मौन रहें, प्रशंसा नहीं करना।

२. निन्हव - जानते हुये भी ज्ञान को छिपाना।

३. मात्सर्य - मेरी बराबरी करेगा, इस कारण ज्ञान न देना।

४. अन्तराय - ज्ञान-दर्शन के कार्य में विघ्न करना।

५. आसादन - ज्ञान-दर्शन के कार्य में रोक लगाना आदि।

६. उपघात - यथार्थ ज्ञान में दोष लगाकर घात करना, इस कर्म की उत्कृष्ट बन्ध स्थिति ३० कोड़ा कोड़ी सागर है। जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

२- दर्शनावरण - द्वारपाल जैसा अपने शुद्ध स्वरूप का दर्शन नहीं होने देता। इसके उत्तर भेद नौ हैं-चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, निद्रा, प्रचला-इस कर्म बंध के कारण ज्ञानावरण समान हैं, इस कर्म की उत्कृष्ट, जघन्य स्थिति ज्ञानावरण समान ही है।

३- मोहनीय - यह शराब जैसा है, जो जीव को बेहोश-मदहोश रखता है, इसके उत्तर भेद अट्ठाईस हैं। विशेष दो हैं-

१. दर्शन मोहनीय – इसके तीन भेद हैं–(१) मिथ्यात्व (२) सम्यक् मिथ्यात्व (३) सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व।

२. चारित्र मोहनीय – इसके पच्चीस भेद हैं –

अनन्तानुबंधी – क्रोध, मान, माया, लोभ।

अप्रत्याख्यानावरण – क्रोध, मान, माया, लोभ।

प्रत्याख्यानावरण – क्रोध, मान, माया, लोभ।

संज्वलन – क्रोध, मान, माया, लोभ।

नोकषाय – हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद। इस कर्म बंध के कारण – १. केवली का अवर्णवाद २. श्रुत का अवर्णवाद ३. संघ का अवर्णवाद ४. धर्म का अवर्णवाद ५. देव का अवर्णवाद। अवर्णवाद अर्थात् निन्दा करना।

चारित्र मोहनीय – २५ कषायोदय, उसी प्रकार के तीव्र संक्लेश भाव करना, दर्शन मोहनीय की बंध स्थिति उत्कृष्ट ७० कोड़ा–कोड़ी सागर है, जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। चारित्र मोहनीय की बंध स्थिति उत्कृष्ट ४० कोड़ा–कोड़ी सागर है, जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

४– अन्तराय – भंडारी जैसा हर कार्य में बाधा डालता है, इसके उत्तर भेद पांच हैं– (१) दानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय (५) वीर्यान्तराय।

इस कर्म बंध के कारण– (१) पर के दान देने में विघ्न करना (२) पर के लाभ में विघ्न करना (३) पर के भोजनादि में विघ्न करना (४) पर के वस्त्रादि में विघ्न करना (५) पर के बल वीर्य को बिगाड़ना–बाधा डालना। इस कर्म की, उत्कृष्ट बंध स्थिति ३० कोड़ा–कोड़ी सागर है, जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

५–नाम कर्म – चित्रकार जैसा शरीर की रचना करता है। इसके उत्तर भेद ९३ हैं।

गति ४ – नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, देवगति।

जाति ५ – एकेन्द्री, दोइन्द्री, तीनइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्रिय।

शरीर ५ – औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण।

बंधन ५ – औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण।

संघात ५ – औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण।

संस्थान ६ – समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध परिमंडल संस्थान, स्वाति संस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन संस्थान, हुंडक संस्थान।

अंगोपांग ३ – औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक अंगोपांग, आहारक अंगोपांग।

संहनन ६ – वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन।

वर्ण ५ – कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत। **गंध २** – सुरभिगंध, असुरभि गंध।

रस ५ – तिक्त, कटुक, कषैला, आम्ल, मधुर।

स्पर्श ८ – कर्कश, मृदु, गुरू, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष।

आनुपूर्वी ४ – नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व, तिर्यंचगति प्रायोग्यानुपूर्व, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व, देवगति प्रायोग्यानुपूर्व।

अगुरूलघु ६ – अगुरूलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत।

विहायोगति २ – प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति।

त्रसादि १२ – त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश: कीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर।

स्थावरादि १० – स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, अस्थिर,

अशुभ, दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, अयश: कीर्ति। इस कर्म बंध के कारण-

१. योग वक्रता - मन वचन काय की कुटिलता और अन्यथा प्रवृत्ति।

२. विसंवाद - व्यर्थ उठा पटक निष्प्रयोजन प्रवृत्ति करना - यह अशुभ नाम कर्म बन्ध का कारण है।

सरल प्रवृत्ति - मन, वचन, काय की सरल प्रवृत्ति-शुभ योग; यह शुभ नामकर्म बंध के कारण हैं। नाम कर्म की उत्कृष्ट स्थिति-२० कोड़ा कोड़ी सागर है, जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

६-आयु - यह काठ के यंत्र (जेलखाना) रूप जीव को रखता है। इसके उत्तर भेद चार हैं-नरकायु, तिर्यंचायु, देवायु, मनुष्यायु। आयु कर्म बंध के कारण - १. नरकायु - बहु आरम्भ, बहु परिग्रह। २. तिर्यंचायु - मायाचारी। ३. मनुष्यायु - अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह, मृदु स्वभाव। ४. देवायु - सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा, बाल तप,सम्यक्त्व। आयु कर्म की बंध स्थिति उत्कृष्ट - ३३ सागर, जघन्य-अन्तर्मुहूर्त है।

७- गोत्र - यह कुम्भकार जैसा छोटा-बड़ा, नीच-ऊँच गोत्र बनाता है। इसके उत्तर भेद दो हैं- उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

गोत्र कर्म बंध के कारण - उच्च गोत्र - आत्मनिन्दा, पर प्रसंशा, अपने गुण ढांकना, पर गुण प्रकाश, विनीत वृत्ति-निरभिमानी।

नीच गोत्र - परनिन्दा, आत्म प्रसंशा, सद्‌गुणोच्छादन (पर के सद्‌गुणों को ढांकना), असदोद्‌भावन (पर के अवगुणों को उघाड़ना)।

गोत्र कर्म बंध की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ा कोड़ी सागर है, जघन्य स्थिति ८ मुहूर्त है।

८- वेदनीय - यह शहद लपेटी तलवार की धार जैसा काम करता है। इसके उत्तर भेद दो हैं-साता वेदनीय, असातावेदनीय।

इस कर्म बंध के कारण-

१. सातावेदनीय - भूतानुकम्पा (समस्त जीवों पर दया भाव), व्रती

अनुकम्पा, दान, सराग संयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा, बालतप, क्षान्ति (क्षमाभाव शान्त परिणाम), शौच (संतोष वृत्ति)।

२. असातावेदनीय - दु:ख, शोक, ताप, आक्रन्दन (रोना), बध (प्राणों का वियोग करना), परिदेवन (करूणा जनक विलाप करना), वेदनीय कर्म बंध की उत्कृष्ट स्थिति३० कोड़ा कोड़ी सागर है, जघन्य स्थिति १२ मुहूर्त है।

(२) भाव कर्म - मोह-राग-द्वेष आदि विभावों को भाव कर्म कहते हैं, यह अन्त:करण में होने वाले परिणाम हैं, जिनमें जीव एकमेक तन्मय होता है, जिनसे द्रव्य कर्म बंधते हैं। द्रव्य कर्म के उदय से भाव कर्म होते हैं, भाव कर्म के होने से द्रव्य कर्म बंधते हैं। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध है और यही जीव के संसार परिभ्रमण का कारण है।

(३) नो कर्म - शरीरादि संयोगी पदार्थ नो कर्म कहलाते हैं। शरीर के साथ जीव का एक क्षेत्रावगाह संश्लेष सम्बन्ध अर्थात् एकमेक मिला हुआ हर पर्याय हर शरीर में रहता है। जब तक जीव और कर्म का संयोग रहेगा तब तक पूर्णमुक्ति नहीं होती। इन कर्मों का प्रकृति बंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध, यह चार प्रकार का बंध होता है। जिस जीव के साथ जैसे कर्मों का जितने समय का बंध होता है, उतने समय तक उसे उसी रूप में रहना पड़ता है। इन कर्मों की फल दान शक्ति अनुभाग बंध भी बड़ा विचित्र है पुण्य और पाप रूप दो प्रकार के होते हैं।

पुण्य का फल - गुड़, खांड़, शकर, अमृत रूप होता है।

पाप का फल - निम्ब, कांजीर, विष, हलाहल रूप होता है।

जीव के एक समय के विभाव परिणमन से असंख्यात कर्मों का आश्रव बंध होता है। जब तक जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि रहता है तब तक निरन्तर कर्मों का आश्रव बंध होता रहता है और एक समय के परिणाम से ही सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति तक का बंध होता है। (विशेष जानकारी गोम्मटसार, तत्वार्थ सूत्र ग्रंथ से करें)

प्रश्न – जब जीव शुद्ध–बुद्ध अविनाशी, सिद्ध, स्वरूपी शुद्धात्म तत्व है, फिर इन कर्मों से क्या लेना देना, क्या मतलब रहा ?

समाधान – मतलब तो कुछ नहीं रहा पर अभी चक्कर नहीं छूटा है। इस चक्कर से छूटने और बचने के लिए ही यह साधना करनी पड़ती है तभी अपना परमात्म पद सिद्ध स्वरूप प्रगट होता है। इसमें सबसे पहली बात तो यही है कि मैं शुद्ध–बुद्ध, अविनाशी, सिद्ध स्वरूपी, शुद्धात्म तत्व हूँ। ऐसा सत्श्रद्धान, निश्चय सम्यग्दर्शन होना पहले आवश्यक है फिर इनसे छूटने–बचने की बात होती है।

प्रश्न – क्या भेदज्ञान–सम्यग्दर्शन से मुक्ति नहीं होती ?

समाधान – ...नहीं, अकेले सम्यग्दर्शन से मुक्ति नहीं होती और सम्यग्दर्शन के बगैर भी मुक्ति नहीं होती सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है, रत्नत्रय की पूर्णता मोक्ष है। जीव द्रव्य, स्वभाव से शुद्ध है पर वर्तमान में पर्याय में अशुद्धि है। यह अशुद्धि जीव द्रव्य के गुणों पर कर्मों का आवरण होने से हो गई है तथा पर्याय में ही अशुद्धि है। जीव तो एक ही है पर, तत्व, पदार्थ, द्रव्य, अस्तिकाय का भेद क्यों है ? जीव अरूपी चेतन लक्षणवाला, पुद्गल रूपी अचेतन जड़ है फिर यह मिले क्यों हैं ? यह सब जानना आवश्यक है। वर्तमान में हम क्या हैं? यह सब विशेष जानने हेतु श्री (तारण तरण) ज्ञान समुच्चयसार की गाथा क्र. ७६५ से ८३२ तक देखें।

तत्व – श्रद्धा का विषय है। पदार्थ – ज्ञान का विषय है। द्रव्य – चारित्र का विषय है। अस्तिकाय – तप का विषय है। मुक्ति मार्ग के साधक सम्यग्दृष्टि को कैसी साधना करना पड़ती है, यह सदगुरू श्री जिन तारणस्वामी के ग्रंथों का स्वाध्याय मनन करें तब पता चलेगा सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, यह चार आराधना हैं। जो महामुनि इन चार आराधनाओं को आराधते हैं वे ही मुक्ति पाते हैं। अनादि से जीव ने अपने स्वरूप को देखा जाना नहीं है इसीलिये मिथ्यादृष्टि अज्ञानी बना रहा। अपने को जाना तब वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हुआ। जब वह अपने स्वरूप में स्थिर लीन रहेगा यह सम्यग्चारित्र है,

इससे पूर्व बद्ध कर्म क्षय होंगे और वह पूर्ण शुद्ध मुक्त सिद्ध परमात्मा हो जायेगा। सम्यग्दर्शन में एक समय में ही परिपूर्ण अपना पूर्ण शुद्ध मुक्त सिद्ध स्वरूप दिख जाता है, ज्ञान और चारित्र में क्रमश: विकास होता है। जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय की पूर्णता होती है तभी वास्तविक मुक्ति होती है।

प्रश्न – **जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, कर नहीं सकता। एक पर्याय दूसरी पर्याय का कुछ नहीं करती, फिर यह मिथ्यात्व मोह आदि तो पुद्गल कर्म वर्गणायें हैं, इन्हें तोड़ने, छोड़ने की बात समझ में नहीं आती यह कैसा कहा है ?**

समाधान – (समयसार गाथा ८७ से ९० तक) जो मिथ्यात्व कहा है वह दो प्रकार का है – एक जीव मिथ्यात्व और दूसरा अजीव मिथ्यात्व, इसी प्रकार अज्ञान, अविरत, योग, मोह, क्रोधादि कषाय यह सर्व भाव जीव व अजीव के भेद से दो–दो प्रकार के हैं।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि मिथ्यात्वादि कर्म की प्रकृतियां पुद्गल द्रव्य के परमाणु हैं, जीव उपयोग स्वरूप है। उसके उपयोग की ऐसी स्वच्छता है कि पौद्गलिक कर्म का उदय होने पर उसके उदय का जो स्वाद आवे उसके आकार उपयोग हो जाता है। अज्ञानी को अज्ञान के कारण उस स्वाद का और उपयोग का भेदज्ञान नहीं है इसीलिये उस स्वाद को ही अपना भाव समझता है। जब उनका भेदज्ञान होता है अर्थात् जीव भाव को जीव जानता है और अजीव भाव को अजीव जानता है तब मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है। जो मिथ्यात्व योग अविरति और अज्ञान, अजीव हैं वह तो पुद्गल कर्म हैं और जो अज्ञान अविरति और मिथ्यात्व जीव हैं, वह उपयोग है। (गाथा ८८)

अनादि से मोह युक्त होने से उपयोग के अनादि से लेकर तीन परिणाम हैं– वे मिथ्यात्व अविरत और अज्ञान भाव हैं, यद्यपि निश्चय से अपने निजरस से ही सर्व वस्तुओं की अपने स्वभाव भूत स्वरूप परिणमन सामर्थ है तथापि

आत्मा का अनादि से अन्य वस्तु भूत मोह के साथ संयोग होने से आत्मा के उपयोग का मिथ्यादर्शन अज्ञान और अविरति के भेद से तीन प्रकार का परिणाम विकार है। उपयोग का वह परिणाम विकार स्फटिक की स्वच्छता के परिणाम विकार की भांति पर के कारण (पर की उपाधि से) उत्पन्न होता दिखाई देता है।

यद्यपि परमार्थ से तो उपयोग शुद्ध निरंजन अनादि निधन वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्य मात्र भावपने से एक प्रकार का है तथापि अशुद्धपने अनेक भावना को प्राप्त होता हुआ तीन प्रकार का होकर स्वयं अज्ञानी होता हुआ कर्तृत्व को प्राप्त विकार रूप परिणमित होकर जिस जिस भाव को अपना करता है, उस उस भाव का वह उपयोग कर्ता होता है।

आत्मा जो अज्ञान रूप परिणमित होता है, किसी के साथ ममत्व करता है, किसी के साथ राग करता है और किसी के साथ द्वेष करता है, उन भावों का स्वयं कर्ता होता है। उन भावों के निमित्त मात्र होने पर पुद्गल द्रव्य स्वयं अपने भाव से कर्म रूप परिणमित होता है ऐसा परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव मात्र है। कर्ता तो दोनों अपने अपने भाव के हैं यह निश्चय है। इस प्रकार इन मिथ्यात्व मद राग द्वेष भावों को छोड़ने तोड़ने का प्रयास करने वाला सम्यग्दृष्टि साधक है।

प्रश्न – यह मिथ्यात्व मद, मोह, रागादि भाव कैसे और कब छूटते हैं इसका उपाय बताइये ?

समाधान – दृष्टि का विषय द्रव्य स्वभाव है उसमें तो अशुद्धता की उत्पत्ति ही नहीं है। समकिती को किसी एक भी अपेक्षा से अनन्त संसार का कारण रूप मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय का बंध नहीं होता, परन्तु इस पर से कोई यह मान लेवे कि उसे तनिक भी विभाव या बंध ही नहीं होते तो वह एकान्त है। सम्यग्दृष्टि को अन्तर शुद्ध स्वरूप की दृष्टि और स्वानुभव होने पर भी अभी आसक्ति शेष है जो उसे दु:ख रूप लगती है। रूचि और दृष्टि की अपेक्षा से भगवान आत्मा तो आनन्द स्वरूप अमृत का सागर है। जिसके नमूने के रूप में जो समकिती को वेदन वर्तता है उसकी तुलना में शुभ या

अशुभ दोनों राग दुःख रूप लगते हैं वे विष और काले नाग तुल्य प्रतीत होते हैं इसीलिये सम्यग्दृष्टि इनसे छूटने- हटने बचने का प्रयास करता है। जबकि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को निरन्तर इन्हीं का रस आता है और वह इनमें ही सन्तुष्ट रहता है जहाँ मोही मनुष्य ऐसे मनोरथ करता है कि मैं कुटुम्ब और रिश्तेदारों में अग्रणी होऊँ, मेरे धन, घर और पुत्र परिवार की अभिवृद्धि हो तथा मैं अपने परिवार को सर्वांगीण भरा पूरा छोड़कर मरूँ। वहीं गृहस्थाश्रम में रहता हुआ धर्मात्मा आत्मा की प्रतीति पूर्वक पूर्णता के लक्ष्य से ऐसी भावना भाता है कि मैं कब सर्व सम्बंध से निर्वृत्त होऊं। मैं कब सर्व आरम्भ-परिग्रह का त्याग करके निर्ग्रंथ साधु होऊं। मैं अपूर्व समाधि मरण को प्राप्त करूँ, इसी भावना व लक्ष्य से इन भावों से छूट जाता है। वैसे तारण स्वामी ने इसी गाथा में इसका उपाय बताया है कि संसार दुष्यं जे नर विरक्तं, ते समय शुद्धं जिन उक्त दिष्टं।

जो संसार के दुःखों से छूटना चाहते हैं वे जैसा जिनेन्द्र देव ने अपने शुद्धात्म तत्व को कहा है वैसा ही देखें अनुभव करें। इसी बात को समयसार कलश २१८ से २२० तक बताया है, पर से भिन्न हूँ ऐसा भेदज्ञान करना संसार चक्र से छूटने का यही एक मात्र रास्ता है, दुःख से छूटने का अन्य कोई रास्ता नहीं है।

जैसे सत्ता स्वरूप एक जीव द्रव्य विद्यमान है। वैसे राग-द्वेष कोई द्रव्य नहीं, जीव की विभाव परिणति हैं। वही जीव जो अपने स्वभाव रूप परिणमे तो राग-द्वेष सर्वथा मिटे ऐसा होना सुगम है कुछ मुश्किल नहीं है। अशुद्ध परिणति मिटती है शुद्ध परिणति होती है।

कोई ऐसा मानता है कि जीव का स्वभाव राग-द्वेष रूप परिणमने का नहीं है, पर द्रव्य ज्ञानावरणादि कर्म तथा शरीर भोग सामग्री बलात्कार जीव को राग-द्वेष रूप परिणमाते हैं सो ऐसा तो नहीं, जीव की विभावशक्ति जीव में है इसीलिए मिथ्यात्व के भ्रम रूप परिणमता हुआ राग द्वेष रूप जीव द्रव्य आप परिणमता है, पर द्रव्य का कुछ सहारा नहीं हैं। सो जीव द्रव्य का दोष है पुद्गल द्रव्य का दोष नहीं है। इससे छूटने का उपाय यह है कि मैं शुद्ध चिद्रूप,

अविनश्वर अनादि निधन जैसा हूँ वैसा ही विद्यमान हूँ। इस प्रकार अपने शुद्धात्म रूप परिणमे तो अशुद्ध परिणति मिटे।

शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने पर जिस प्रकार नय विकल्प मिटते हैं उसी प्रकार समस्त कर्म के उदय से होने वाले जितने भाव हैं, वे भी अवश्य मिटते हैं ऐसा स्वभाव है।

शुभ-अशुभ क्रिया में मग्न होता हुआ जीव विकल्पी है इससे दुःखी है क्रिया संस्कार छूटकर शुद्ध स्वरूप का अनुभव होते ही जीव निर्विकल्प है इससे सुखी है। इस प्रकार अनादि से मोह युक्त जीव के तीन परिणाम- मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति हैं और इन तीन बंधनों में ही जीव बंधा है।

(१) मिथ्यात्व - विपरीत मान्यता यह शरीर ही मैं हूँ। यह मान्यता ही मिथ्यात्व है, इससे छूटने के लिए भेदविज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन होना कि मैं एक अखंड अविनाशी चेतन तत्व भगवान आत्मा हूँ ध्रुव तत्व सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चय श्रद्धान होने से मिथ्यात्व छूट जाता है यह मिथ्यात्व ही संसार परिभ्रमण का कारण है। मिथ्यात्व के छूटने सम्यग्दर्शन के होने से संसार परिभ्रमण मिट जाता है।

रागादि से भिन्न चिदानन्द स्वभाव का भान और अनुभव होने पर धर्मी को उसका निसन्देह ज्ञान होता है कि आ हा हा, परम सौभाग्य मुझे आत्मा का अपूर्व आनन्द का वेदन हुआ अतीन्द्रिय आनन्द सम्यग्दर्शन हुआ मेरे मिथ्यात्व का नाश हो गया।

मैं समकिती हूँ या मिथ्यादृष्टि ऐसा संदेह जिसे है वह मिथ्यादृष्टि है।

चौथा गुणस्थान वर्ती ही सम्यग्दृष्टि है जिसने आत्मा के आनन्द का रस का आस्वादन किया है वह निजरस से ही राग से विरक्त है। धर्मी को शुद्ध चैतन्य के अमृतमय स्वाद के सामने संसारी विषयादि राग का रस विष-तुल्य भासता है।

ज्ञानी को चाहे जैसे भाव में चाहे जैसे प्रसंग में साक्षी रूप से रहने की

क्षमता है वह सर्व प्रकार के भावों के बीच – साक्षी रूप से रहता है।

(२) अज्ञान – अपने सत्स्वरूप का विस्मरण और यह शरीरादि मेरे हैं– यह मानना अज्ञान है, यही मोह है जो दुःख का कारण है, इसी से जीव हमेशा दुःखी रहते हैं इसी के कारण राग–द्वेष होते हैं। जहाँ अपनत्व (अपनापन) होता है वहीं अच्छा बुरा लगता है, जहाँ अपनत्व नहीं होता वहाँ अच्छा–बुरा सुख दुःख रूप कुछ लगता ही नहीं है।

जब सम्यग्दर्शन पूर्वक संशय विभ्रम विमोह रहित सम्यग्ज्ञान हो जाता है तब फिर यह अज्ञानरूप मोह राग द्वेष रूप भाव होते ही नहीं हैं। स्व–पर का यथार्थ निर्णय, ज्ञान होने पर फिर यह अज्ञान रूप (मोह राग द्वेष) विभाव परिणमन होता नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि अशुद्ध परिणामों का स्वामित्वपना नहीं है इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीव कर्ता नहीं है।

मिथ्यादृष्टि जीव के रागादि अशुद्ध परिणामों का स्वामित्वपना है इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव कर्ता है। (कलश – १७६ – १७७)

जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध स्वरूप को अनुभवता है वह सम्यग्दृष्टि जीव, कर्म की उदय सामग्री में अभिलाषा नहीं करता और जो कोई मिथ्यादृष्टि कर्म की विचित्र सामग्री को आप जानकर अभिलाषा करता है वह मिथ्या दृष्टि जीव शुद्ध स्वरूपी आत्मा को नहीं जानता। (समयसार कलश १६७)

जब तक किसी को भी संसार परिवार धन वैभव शरीरादि को अपना मानता है तथा मन में चलने वाले भाव विभाव अथवा एक समय की चलने वाली अशुद्ध पर्याय को अपनी मानता है तब तक मोह में जकड़ा अज्ञानी है तथा इनमें से किसी को भी अच्छा बुरा मानता है तब तक राग द्वेष से ग्रसित अज्ञानी है।

इन सबसे भिन्न मैं ध्रुव तत्व सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा हूँ ऐसा सत्श्रद्धान ज्ञान हो जाने पर मोह राग द्वेष के भावों से छूट जाता है।

सम्यग्दृष्टि को राग या दु:ख नहीं, ऐसा तो दृष्टि की प्रधानता से कहा है परन्तु पर्याय में जितना आनन्द है उसे भी ज्ञान जानता है और जितना राग है उतना दु:ख भी साधक को है। ज्ञान यह भी जानता है पर्याय में राग है दु:ख है, उसे जो नहीं जानता उसके तो धारणा ज्ञान में ही भूल है। सम्यग्दृष्टि को दृष्टि की महिमा बल बतलाने के लिये कहा है कि उसे आश्रव नहीं परन्तु जो आश्रव सर्वथा नहीं तो मुक्ति होनी चाहिये।

(३) अविरति – अपने शुद्धात्म स्वरूप में रति न होना, पाप विषय कषाय शरीरादि में रत रहना अविरति भाव है। असंयम, अविरत भाव यही कर्तृत्व भोक्तृत्व भाव हैं और यह मद के अन्तर्गत होते हैं। जीव का शरीर से जुड़े रहना ही मद है, इसी अविरति के कारण चारित्र नहीं होता।

सम्यग्दर्शन का बाधक मिथ्यात्व भाव है, ज्ञान का बाधक कारण अज्ञान भाव है, चारित्र का बाधक कारण अविरति भाव है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र का होना मोक्षमार्ग है इनके होने पर ये तीनों भाव विला जाते हैं।

इसके लिये पांच पापों से, पांच इन्द्रियों के विषयों से, मन की चंचलता से कषायों की प्रवृति से हटना बचना आवश्यक है क्योंकि द्रव्य संयम के बिना भाव संयम नहीं होता। जब तक यह सब संयोग संबंध रहे, तब तक अविरति भाव से छूटना मुश्किल है। अपने सत्स्वरूप का अतीन्द्रिय आनन्द आवे, मुक्ति के परमानन्द का बहुमान उत्साह होवे, अपने परमात्म पद का स्वाभिमान जागे, मैं ब्रह्म स्वरूपी शुद्धात्मा हूँ। स्वयं सिद्ध परमात्मा हूँ इतनी दृढ़ता निर्भयता निस्पृह वृत्ति से आगे बढ़े, वीतरागी निर्ग्रंथ साधु पद होवे तब इनसे छूटने का क्रम शुरू होता है और पूर्ण शुद्ध सिद्धपद होने पर पूर्ण मुक्त परमात्मा हो जाता है यही साधक की साधना का क्रम है।

श्री तारणस्वामी तो स्वयं निश्चय व्यवहार के समन्वयवादी साधक थे उनके अपने जीवन साधना का अनुभव इन गाथाओं में दिया है जो साधक इस रूप आचरण करेगा वह अपने पूर्ण शुद्ध मुक्त परमात्म पद को अपने मे प्रगट करेगा संसार के दु:खों से छूट जायेगा।

सम्यग्दृष्टि जीव सकल कर्मों का क्षय कर अतीन्द्रिय सुख लक्षण-मोक्ष को प्राप्त होता है, राग-द्वेष, मोह रूप अशुद्ध परिणति से भिन्न होता हुआ द्रव्य के स्वभाव गुण रूप निर्मल धारा प्रवाह रूप परिणमन शील चेतना गुण उस रूप जो अतीन्द्रिय सुख उसके प्रवाह से जो तन्मय है सर्व अशुद्ध पना मिटने से शुद्धपना होता है, शुद्ध चिद्रूप का अनुभव मोक्षमार्ग है।

(समयसार कलश ४९१)

मोक्ष का उपाय हर जीव कर सकता है, ग्रहस्थ के व्यापार धन्धे में उलझा हुआ मानव भी मुक्ति का साधन कर सकता है, यह बात समझनी चाहिये कि मोक्ष आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, वह तो स्वयं आप ही है, इस पर जो कर्म का आवरण है उसको दूर करना है, उसका साधन भी एक मात्र अपने ही आत्मीक स्वभाव का दर्शन या मनन है।

सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा के भीतर भेदविज्ञान की कला प्रगट हो जाती है। जिसके प्रभाव से वह सदा ही अपने आत्मा को सर्वजाल से निराला वीतराग विज्ञान मय शुद्ध सिद्ध के समान श्रद्धान करता है, जानता है तथा उसका आचरण भी कर सकता है, जिसकी रूचि हो जाती है उस तरफ चित्त स्वयमेव स्थिर हो जाता है। आत्मस्थिरता भी करने की योग्यता अविरत सम्यक्त्वी ग्रहस्थ को हो जाती है, वह जब चाहे तब सिद्ध के समान अपनी आत्मा का दर्शन कर सकता है। (योगसार दोहा १८ ब्र. शीतल प्रसादजी कृत टीका)

ज्ञानी विषयों का सेवन करते हुये विषय सेवन के फल को नहीं भोगता है। वह तत्व ज्ञान की विभूति एक वैराग्य के बल से सेवते हुये भी सेवनेवाला नहीं हैं, समभाव से कर्म का फल भोगने पर कर्म की निर्जरा बहुत होती है, बन्ध अल्प होता है इसीलिये सम्यग्दृष्टि ग्रहस्थ निर्वाण (मोक्ष) का पथिक होकर संसार घटाता है। उसकी दृष्टि स्वतंत्रता पर रहती है। संसार से उदासीन है। प्रयोजन के अनुकूल अर्थ व काम पुरूषार्थ साधता है व व्यवहार धर्म पालता है ; परन्तु उन सबसे वैरागी है। प्रेमी मात्र तो अपने आत्मानुभव का है। इससे वह शीघ्र ही मुक्ति पाने की योग्यता बढ़ा लेता है।

(समयसार कलश १३५ टीका ब्र. शीतलप्रसाद)

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यह सब सुविधा महिमा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की अपेक्षा ही बताई है पर हम अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवों का क्या होगा ? हम भी इस संसार के दु:खों से छूट सकते हैं कि नहीं ?

समाधान - भाई अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होता है। यह कोई अलग से पैदा होकर नहीं आता। जो जीव भेदज्ञान का अभ्यास करता है, जिसे संसार के जन्म-मरण से ऊब आ गई, जो रात-दिन के भय, चिन्ता, विकल्पों से छूटना चाहता है उसके लिये तो यह मुक्ति का मार्ग बताया जा रहा है कि तीसरी गाथा के अनुसार वह इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चेतन तत्व भगवान आत्मा हूँ ऐसा अनुभूति युत सत्श्रद्धान करे वही तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होता है फिर इसके बाद का यह क्रम अपने आप बन जाता है। संसार में प्रत्येक जीव के साथ यह पाँच बातें लगी हैं- (१) मिथ्यात्व (२) ममत्व (३) कर्तृत्व (४) चाह (५) लगाव।

इनको तोड़ना, छोड़ना, इनसे हटना बचना ही आनन्द में रहना मुक्ति का मार्ग है इसी से इस संसार से छूट सकते हैं।

धर्म की चर्चा सामूहिक होती है चलना व्यक्ति गत होता है।

इसके लिये ही यह स्वाध्याय सत्संग किया जाता है और अपने पुरुषार्थ के बल पर इनको जीता जाता है, इसके लिये एक कथानक के माध्यम से समझने का प्रयास करें जिससे अपनी बात स्पष्ट हो जायेगी।

दिल्ली का राजा पृथ्वीराज चौहान था जो बड़ा शूरवीर योद्धा था। विदेशी राजा मोहम्मद गौरी ने दिल्ली पर आक्रमण किया पर सत्रह बार उसे पराजित होना पड़ा, अन्त में संयोगिता की आसक्ति और जयचन्द के छल के कारण पृथ्वीराज चौहान को पराजित होना पड़ा। मुहम्मद गौरी पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर अपने देश ले गया और जेलखाने में बन्द कर दिया। एक दिन मुहम्मद गौरी पृथ्वीराज से मिलने आया और उसने सामान्यत: कुशल पूछी, पृथ्वीराज चौहान ने कड़क कर कहा कि तुझे एक राजा से बोलने का भी तमीज नहीं है और जैसे ही उसकी ओर घूरकर देखा मुहम्मद गौरी डर गया, काँपने लगा और तुरन्त ही वहाँ से चला गया।

जल्लादों को हुक्म दिया कि लोहे के सूजे गरम करके इसकी (पृथ्वीराज की) आखें फोड़ दी जायें, जल्लादों ने वैसा ही किया। अब पृथ्वीराज चौहान हथकड़ी बेड़ियों से जकड़ा हुआ और आखें फूटजाने से बड़ा दु:खी और परेशान रहने लगा। उसका एक मित्र चन्द्रवरदाई जो कवि भी था उससे मिलने आया, कोशिश करके पृथ्वीराज से मिला। पृथ्वीराज ने कहा कि मित्र ! अब तो मुक्त होना है, इस प्रकार हथकड़ी बेड़ियों में जकड़े हुये पराधीन रहते नहीं मरना। कोई ऐसी युक्ति करो कि इस बंधन से मुक्त हो जायें। पृथ्वीराज चौहान लक्ष्यभेदी वाण चलाना जानता था, वह इसमें बहुत ही निपुण था। चन्द्रवरदाई ने कोशिश कर मुहम्मद गौरी को इसके लिये तैयार कर लिया कि वह पृथ्वीराज चौहान का यह कर्तव्य देख ले, दिन निश्चित किया गया, सारे राज्य के लोग इसको देखने आये। एक बहुत ऊँचा मंच बनाया गया जिस पर मुहम्मद गौरी बैठा, पृथ्वीराज चौहान आया चारों तरफ रस्सियों से कसा हुआ, हथकड़ी बेड़ियों में बंधा जकड़ा हुआ, आंखें फूटी हुई, इस पर भी मुहम्मद गौरी उससे डरता था। योजना के अनुसार उसे धनुषवाण दिया गया और डंके की चोट पर निशाना,वाण मारने को कहा, पृथ्वीराज चौहान तैयार हुआ तब चन्द्रवरदाई ने एक दोहा कहा कि–

चार बांस चौबीस गज, अंगुल अष्ट प्रमाण।
ता ऊपर है मुहम्मद, मत चूके चौहान॥

जैसे ही यह पृथ्वीराज ने सुना उसने निशाना साधा और वाण छोड़ दिया, मुहम्मद गौरी जो मंच पर बैठा था नीचे गिर पड़ा।

यह तो एक सत्य घटना भी है और कथानक है पर यह हमको भी इस मोह मद को पछाड़ने के लिए पुरुषार्थ जाग्रत करता है कि हम भी अपने ध्रुव तत्व सिद्ध पद का श्रद्धान करते हुये इस संसार से मुक्त होने के लिए यह मिथ्यात्व मोह मद को पछाड़ें। इस मोह मद ने भी अनादि से इस जीव को (हमें) भी ऐसा ही जकड़कर बांध रखा है, दर्शन मोह से हमारी आखें भी अन्धी हो रही हैं। हम भी पृथ्वीराज चौहान बनकर कि मैं अनन्त चतुष्टय का धारी सर्वज्ञ स्वभावी परमात्मा हूँ अपनी सत्ता शक्ति को जाग्रत करें और इस

मोह मद रागादि को खंड-खंड करें, हमें भी वर्तमान में यह मनुष्य भव पुरुषार्थ योनि मिली है, सद्गुरू मार्ग दर्शक हैं, जो हमें इससे छूटने की विधि बता रहे हैं। इस कथानक की एक एक बात मार्मिक और मार्गदर्शक है स्वयं ही बुद्धि पूर्वक अपना निर्णय करें तो अपना भला होवे।

प्रश्न - यह बात तो बहुत अच्छी तरह समझ में आ गई इस संसार के चक्र इन संकल्प विकल्पों के दु:खों से छूटने के लिये और क्या करना पड़ेगा सम्यग्दृष्टि साधक और क्या करता है बताइये ?

इनके समाधान में सद्गुरू आचार्य तारण स्वामी पांचवीं गाथा कहते हैं जो अपूर्व रहस्य से भरी हुई है साधक के लिये अमृत रसायन है -

गाथा -५

सल्यं त्रियं चित्त निरोध नित्वं, जिन उक्त वानी हिदै चेतयत्वं।
मिथ्यात देवं गुरू धर्म दूरं, सुद्धं सरूपं तत्वार्थ सार्धं ॥

शब्दार्थ - (सल्यं त्रियं) तीनों शल्यों (मिथ्या माया निदान) को (चित्त) अपने हृदय से (निरोध) बंद करके, समाप्त करके (नित्वं) हमेशा (जिन उक्त वानी) जिनेन्द्र की कही हुई वाणी (जिनवाणी) का (हिदै चेतयत्वं) हृदय में चिन्तवन करता है (मिथ्यात देवं गुरू धर्म दूरं) मिथ्यादेव, मिथ्यागुरू, मिथ्या धर्म से दूर रहकर (सुद्धं सरूपं) अपने शुद्ध स्वरूप का (तत्वार्थ सार्धं) प्रयोजन भूत तत्व की साधना श्रद्धान करता है।

विशेषार्थ- जो नर संसार के दु:खों से अर्थात् भय चिन्ता संकल्प-विकल्पों से छूटना चाहता है, उसके लिये चौथी गाथा में बताया कि निश्चय से अपने शुद्धात्म स्वरूप की साधना आराधना करे, शुद्धात्म तत्व को ही देखे, उसी में रहे तथा व्यवहार में अपने मिथ्यात्व, मद, मोह, राग द्वेषादि भावों को तोड़े छोड़े वह शुद्ध दृष्टि तत्वार्थ का श्रद्धानी साधक है।

जब यह प्रश्न किया - कि क्या इतने से ही काम चल जायेगा, संसार के दु:खों से छूट जायेगा या और कुछ करना पड़ता है ? इसके समाधान में सद्गुरू

श्री तारण स्वामी यह पांचवीं गाथा कहते हैं। मुक्ति मार्ग के पथिक साधक को अध्यात्म साधना करने के लिए कितना सावधान होना चाहिये और कितना सूक्ष्म मार्ग है यह सब जानना जरूरी है। संसार में जीव को भेदज्ञान के अभाव में संकल्प-विकल्प होते हैं, जो हमेशा दुःखी चिन्तित भयभीत करते रहते हैं तथा तत्व निर्णय के अभाव में शल्यें होती हैं जो हमेशा छिदती रहती हैं। शल्य अर्थात् कांटा यह शल्यें तीन तरह की होती हैं - मिथ्या, माया, निदान। जब तक जीव निराकुल निःशल्य नहीं होता तब तक वह आनन्द में नहीं रह सकता इसीलिये तत्वार्थ सूत्र में "निःशल्योव्रती" कहा है।

अब यह शल्य क्या है ? इनका स्वरूप और इनसे छूटने का उपाय बताया है।

"शल्यंत्रियं" - शल्यें तीन होती हैं - (१) मिथ्याशल्य (२) मायाशल्य (३) निदानशल्य।

(१) मिथ्याशल्य - मिथ्या अर्थात् झूठी, शल्य अर्थात् कल्पना या भ्रम अर्थात् झूठी कल्पना "ऐसा न हो जाये" यह शल्य मोह की तीव्रता में ज्यादा पेरती है, चैन से नहीं रहने देती। जैसे कोई कार्य करना हो, होना हो वहाँ यह मिथ्या शल्य आ जाती है "ऐसा न हो जाये" तो सब कुछ करते, होते हुये भी निश्चिन्त नहीं रह सकते जैसे कोई परिवार का सदस्य बाहर जा रहा हो, गया हो और बीच में यह मोह की शंका कुशंका रूपी मिथ्या शल्य आ जाये कि "ऐसा न हो जाये, ऐसा न हो गया हो", तो समझ लो वह व्यक्ति जब तक लौटकर नहीं आता तब तक चैन नहीं पड़ती।

(२) मायाशल्य - कंचन कामिनी कीर्ति की चाह "ऐसा नहीं ऐसा होता" सब कुछ होते हुये मिलते हुये यह तृप्त संतुष्ट नहीं रहने देती। वर्तमान का सुख भी नहीं भोगने देती, हमेशा माया के चक्कर में ही घुमाती रहती है। शेखचिल्ली जैसी कल्पनाओं का जाल इसी शल्य के अन्तर्गत चलता है। जैसे भोजन की थाली सामने आई और उसमें यह शल्य आ गई, ऐसा नहीं ऐसा होता तो, सारे भोजन का स्वाद गया। ऐसे ही धन मकान कपड़ा या कोई वस्तु

भी मिली और वहाँ यह शल्य आ गई ''ऐसा नहीं ऐसा होता'' तो समझ लो भोगते हुये रहते हुये क्या दशा होती है।

(३) निदानशल्य – ''ऐसा करता या ऐसा करूँगा'' कर्तृत्व का अहंकार, यह भूत भविष्य में ही घुमाता रहता है, वर्तमान में टिकने नहीं देता। यह शल्य हिंसादि पापों में प्रवृत्ति कराती है। मन सक्रिय और कठोर इसी के कारण रहता है। यह द्वेष की तीव्रता में विशेष सक्रिय रहती है, जैसे–सामने कोई बात या कार्य आया वहाँ भीतर से यह अहंकार बोलता है कि ''मैं होता तो ऐसा करता या यह हो गया पर अब ऐसा करूँगा'' यह निदान शल्य है।

जब तक कोई सी भी शल्य रहेगी, जीव अपने में स्वस्थ्य नहीं रह सकता अपनी सुरत नहीं रख सकता तो जो नर(सम्यग्दृष्टि) संसार से छूटना चाहता है, वह इन तीनों शल्यों को अपने चित्त से बिल्कुल निकाल दे (निरोध) बन्द कर दे, पैदा ही न होने दे, कैसे निकाल दे ?

''जिन उक्त वानी ह्रिदैय चेतयत्वं'' जिनेन्द्र परमात्मा के द्वारा कही हुई वाणी का अपने हृदय में हमेशा चिन्तवन करे। अब जिनेन्द्र परमात्मा ने क्या कहा है, यह पूछने पर सद्गुरु कहते हैं कि पहली बात–

काया प्रमानं त्वं ब्रह्मरूपं, निरंजनं चेतन लष्यनेत्वं।

इस शरीर के प्रमाण, शरीर से भिन्न, तुम ब्रह्म स्वरूपी, निरंजन चेतन लक्षण भगवान आत्मा हो, ऐसा भेदज्ञान करना और दूसरी बात जिनवाणी का सार तत्व निर्णय यह है कि त्रिलोक की त्रिकालवर्ती पर्याय क्रमबद्ध निश्चित अटल है। जिस समय, जिस जीव का, जिस द्रव्य का, जैसा जो कुछ होना है वह अपनी तत्समय की योग्यतानुसार हो रहा है और होगा, उसे कोई भी टाल फेर बदल सकता नहीं है। इस बात का दृढ़ श्रद्धान अटल विश्वास करने से ये तीनों शल्यें विला जाती हैं। यही भेदज्ञान तत्वनिर्णय करने पर मिथ्यात्व, मद, मोह रागादि गलते विलाते हैं। साधक और क्या करता है?

मिथ्यात देवं गुरू धर्म दूरं, सुद्धं सरूपं तत्वार्थ सार्धं।

मिथ्यादेव, मिथ्यागुरू, मिथ्याधर्म से दूर रहता है।

समाधान- (१) मिथ्यादेव - झूठे देव को मिथ्या देव कहते हैं।

मिथ्यादेव के दो भेद हैं, कुदेव - अदेव।

कुदेव - देवगति के देवों को देव मानना यह कुदेव कहे जाते हैं क्योंकि इनमें देवत्वपना नहीं है।

अदेव - चित्र, लेप, पाषाण, धातु आदि की मूर्ति को देव मानना यह अदेव है क्योंकि चेतनपना ही नहीं हैं तो देवत्वपना कैसे होगा ?

देव अर्थात् परमात्मा, इष्ट, भगवान, जो जीव को कल्याणकारी उद्धार कर्त्ता मुक्ति देने वाले को देव कहते हैं। सच्चे देव का स्वरूप इस प्रकार है-

सच्चे देव - वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी को कहते हैं।

व्यवहार से - सच्चे देव अरहंत सिद्ध परमात्मा होते हैं।

निश्चय से - निज शुद्धात्मा ही सच्चा देव है।

(२) मिथ्यागुरू- झूठे गुरू को मिथ्यागुरू कहते हैं। मिथ्यागुरू के भी दो भेद, कुगुरू-अगुरू होते हैं।

कुगुरू - जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि किसी प्रकार का रूप भेष बनाकर संसारी प्रपंच, शुभाशुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति करते कराते हैं, पुण्य को धर्म बताते हैं, वह कुगुरू हैं।

अगुरू - जिनमें कोई गुरूता नहीं है जो स्वयं संसार में फंसे हैं, जैसे माता-पिता, पत्नी-पति, मित्र बंधु, शिक्षा गुरू इनकी बातें मानना जो विषय कषाय में फंसाते हैं, अगुरू हैं।

सच्चे गुरू - हित का मार्ग बताने वाले धर्म का उपदेश देने वाले को गुरू कहते हैं। सच्चे गुरू वीतरागी निर्ग्रन्थ सम्यग्दृष्टि साधु होते हैं जो स्वयं तरते हैं, औरों को तरने का मार्ग बताते हैं।

(३) मिथ्याधर्म - क्रियाकांड पुण्य-पाप को धर्म मानना मिथ्या धर्म है। मिथ्या धर्म के भी दो भेद हैं - कुधर्म, अधर्म।

किसी भी शुभाशुभ क्रिया रूप आचरण को धर्म मानना कुधर्म है। किसी भी शुभाशुभ भाव, पुण्य पाप कर्म को धर्म मानना अधर्म है। यह सब संसार के कारण हैं। सम्यग्दृष्टि साधक इनसे दूर रहता है अर्थात् न राग करता है, न द्वेष करता है। न अच्छे मानता है, न बुरे मानता है, न बैर करता है, न विरोध करता है, न निन्दा करता है, न स्तुति करता है, वह दूर ही रहता है क्योंकि "निज हेर बैठो नहीं तो रार करो" इस सिद्धान्त को मानता है। जैसे अपने को कहीं जाना है और मार्ग में कांटे पड़े हों गड्ढा हो या सांप बिच्छू शेर बैठा हो, तो दूर से बच कर निकल जाते हैं इसी प्रकार इनसे दूर रहो क्योंकि जरा भी बोलोगे-मिलोगे तो अपने मार्ग में व्यवधान पड़ जायेगा।

सच्चा धर्म अपना चेतन लक्षणमयी शुद्ध स्वभाव है।

धर्म जो धारण किया जाता है, जिससे जीवों का कल्याण होता है, वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं।

शुद्धं स्वरूपं, तत्वार्थ सार्धं अपने शुद्ध स्वरूप प्रयोजन भूत तत्व की साधना श्रद्धान करता है। इससे संसार के दु:खों से छूट जाता है क्योंकि संसार के मूल दु:ख शल्य और विकल्प ही हैं। इनसे छूट जाना ही मुक्ति है। इसी बात को समयसार के सर्व विशुद्धि अधिकार में कहा है।

शुद्ध नय का विषय जो ज्ञान स्वरूप आत्मा है। वह कर्तृत्व भोक्तृत्व के भावों से रहित है। बंध-मोक्ष की रचना से रहित है पर द्रव्य से और पर द्रव्य के समस्त भावों से रहित होने से शुद्ध है। निज रस के प्रवाह से पूर्ण दैदीप्यमान ज्योति रूप है और टंकोत्कीर्ण महिमामय है ऐसा ज्ञान पुंज आत्मा अपना निज शुद्ध स्वरूप है।

यह आत्मा अनादि संसार से ही अपने और पर के भिन्न-भिन्न निश्चल स्व लक्षणों का ज्ञान, भेदज्ञान न होने से दूसरे का और अपना एकत्व का अध्यास करने से कर्ता होता हुआ प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होता है। प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होती है अर्थात् आत्मा के परिणामानुसार परिणमित होती है इस प्रकार यद्यपि आत्मा और प्रकृति के कर्ता कर्म भाव का अभाव है तथापि परस्पर निमित्त नैमित्तिक

भाव से दोनों के बंध देखा जाता है। इससे संसार है और इसी से आत्मा और प्रकृति के कर्ता कर्म का व्यवहार है।

जब तक आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजना विनशना न छोड़े तब तक वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि असंयत है। अज्ञानी को तो शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं है इसीलिए जो कर्म उदय में आता है उसी को वह निज रूप जानकर भोगता है और ज्ञानी को शुद्धात्मा का अनुभव हो गया है इसलिए वह उस प्रकृति के उदय को अपना स्वरूप नहीं जानता हुआ उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है भोक्ता नहीं होता।

ज्ञानी कर्म का स्वाधीनतया कर्ता भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है इसलिए वह मात्र शुद्ध स्वभाव रूप होता हुआ मुक्त ही है। कर्म उदय में आता है फिर भी वह ज्ञानी का क्या कर सकता है, जब तक निर्बलता रहती है तब तक कर्म जोर चला लें किन्तु ज्ञानी क्रमशः शक्ति बढ़ाकर अन्त में कर्म का समूल नाश करेगा ही।

जब तक ज्ञान, ज्ञान रूप न हो और ज्ञेय, ज्ञेय रूप न हो, तब तक राग द्वेष उत्पन्न होता है, इसलिए इस ज्ञान अज्ञान भाव को दूर करके ज्ञान रूप होओ कि जिससे ज्ञान में जो भाव और अभाव रूप दो अवस्थायें होती हैं वे मिट जायें और ज्ञान पूर्ण स्वभाव को प्राप्त हो जाये।

वर्तमान काल में कर्म का उदय आता है उसके विषय में ज्ञानी विचार करता है कि पहले जो कर्म बांधा था उसका यह कार्य है मेरा तो यह कार्य नहीं है। मैं इसका कर्ता नहीं हूँ मैं तो शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा हूँ। उसकी दर्शन ज्ञान रूप प्रवृत्ति है। उस दर्शन ज्ञान रूप प्रवृत्ति के द्वारा मैं इस उदयागत कार्य को देखने जानने वाला हूँ मैं अपने स्वरूप में ही प्रवर्तमान हूँ ऐसा अनुभव करना ही निश्चय चारित्र है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत दशा में तो ऐसा ज्ञान श्रद्धान ही प्रधान है। जब जीव अप्रमत्त दशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव साक्षात् होता है। इस प्रकार ज्ञानी अपने स्वरूप की साधना करता है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यह तीन शल्यें जिनवाणी का चिंतवन करने से कैसे मिट जाती हैं ?

समाधान – जिनवाणी का सार तत्व निर्णय क्या है इसको समझना ही जिनवाणी का चिन्तवन है। जब यह निर्णय हो गया कि जिस समय जिस जीव का जिस द्रव्य का जब जैसा जो कुछ होना है वह अपनी तत्समय की योग्यतानुसार हो रहा और होगा, उसे कोई टाल फेर बदल सकता नहीं है।

फिर शल्य विकल्प रहते ही नहीं हैं क्योंकि जब यह निर्णय है कि जब जो होना है वह निश्चित अटल है जैसा केवलज्ञानी के ज्ञान में झलका है वह कभी परिवर्तन हो सकता नहीं तो फिर ''ऐसा न हो जाये'' यह मिथ्या शल्य कहाँ रहेगी, ''ऐसा नहीं ऐसा होता'' यह माया शल्य किसे होगी, ''ऐसा करता ऐसा करूँगा'' यह निदान शल्य भी कैसे होगी, जिसे भेदज्ञान तत्वनिर्णय नहीं हुआ उसे तो यह निरन्तर होती ही हैं। जिनवाणी का सही श्रद्धान ज्ञान करना उस पर विश्वास होना ही इन तीन शल्यों से मुक्त करता है।

प्रश्न – जब जो होना है वह सब निश्चित अटल है जैसा केवल ज्ञान में आया वैसा ही हो रहा है फिर पुरूषार्थ क्या है, हमें कुछ करने की जरूरत क्या है ?

समाधान – भाई ! इस बात को स्वीकार कर लेना ही सबसे बड़ा पुरूषार्थ है। जीव तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। न कुछ करता है न कर सकता है। यह ज्ञाता दृष्टा रहे, अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में रहे यही सबसे बड़ा पुरूषार्थ है। जहाँ सब करना धरना छूट जाता है तो हाथ पर हाथ रख कर बैठ जाता है, वही तो परमात्मा होता है। जिसे संसार के दु:खों से छूटना है। जिसे जन्म मरण के चक्र से मुक्त होना है, परमात्मा बनना है। उसे यह भेदज्ञान तत्व-निर्णय ही स्वीकार करना अनिवार्य है। इसी बात को अध्यात्म अमृत कलश १५ में कहा है-

अपनी स्वाधीनता से जो पदार्थ जिस प्रकार के स्वभाव वाला है। उसका स्वभाव उसी प्रकार ही है। उसे दूसरा पर पदार्थ किसी अन्य स्वभाव वाला करने में किसी भी प्रकार समर्थ नहीं है। त्रिकाल ज्ञानस्वरूपी आत्मा कभी

अज्ञान नहीं बन सकता अतएव आचार्य कहते हैं कि हे ज्ञानी पुरूष ! तेरे ज्ञान भाव में रहते हुये भी विविध प्रकार के पूर्व में बांधे हुये शुभाशुभ कर्म का उदय आयेगा वह रूकेगा नहीं और तुझे दोनों प्रकार के कर्म भोगने होंगे तथापि तू अपने ज्ञान स्वभाव की भूमिका में क्रीड़ा करता रहा तो तुझे कर्म बंध न होगा।

वस्तुत: पर पदार्थ अपनी अपनी सत्ता में अक्षुण्ण हैं। उनका जीव भोग नहीं करता, न कर सकता, मैंने पदार्थ भोगा यह तो उपचरित कथन है। पदार्थ का ज्ञान ही पदार्थ का वेदन है और उसके प्रति राग ही उस पदार्थ को भोगना कहा जाता है। आचार्य कहते हैं हे आत्मन् ! तू पर की ओर दृष्टि करके दीन हुआ ललचाता फिरता है। तूने कभी अपनी निज निधि का दर्शन नहीं किया तेरे भीतर तेरी ज्ञान कला ऐसी अपूर्व निधि है, जो तेरे सम्पूर्ण प्रयोजनों को साधने वाली है वही तेरे लिए चिन्ता मणि रत्न के समान शक्तिशाली वस्तु है। जिसकी शक्ति चिन्तवन में नहीं आती पर स्वयं अनन्त शक्ति उसमें है। उसका आश्रय कर, तेरे सर्व मनोरथ पूर्ण होंगे।

उस आत्मानुभव के उद्योत होने पर मिथ्यात्व का अन्धकार स्वयं लुप्त हो जाता है। ज्ञान की किरणें स्वयं उद्योत करने लगती हैं। वस्तु का यथार्थ बोध हो जाता है, पर से राग द्वेष दूर होकर समता रस का स्वयं उछाल होकर सम्यग्दृष्टि हो जाती है।

ऐसा ज्ञानी अपनी आत्मानुभव की लहरों में ही मगन रहता है, पराश्रय की दीनता दूर हो जाती है, मोक्ष पथ उसकी दृष्टि में सहज दीखता है। उसका मन संसार की समस्त वासनाओं से दूर हो जाता है और बंध मार्ग छूट जाता है।

प्रश्न – पर संसार में और सब जीव अपने पुरूषार्थ से जो करना चाहें कर सकते हैं या नहीं ?

समाधान – भाई ! वस्तु स्वरूप को समझो, द्रव्य की स्वतंत्रता को स्वीकार करो तो यह प्रश्न नहीं उठेगा, अभी वस्तु स्वरूप द्रव्य की स्वतंत्रता को नहीं जाना है इसलिए यह भेद विकल्प उठते हैं। जीव तो मात्र ज्ञान स्वभावी ज्ञाता दृष्टा ही है, चाहे वह ज्ञानी हो चाहे वह अज्ञानी संसारी हो, द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र है और वह अपने में स्वतंत्रतया परिणमन कर रहा है। जीव

मात्र ज्ञाता दृष्टा है पर अपने स्वरूप का बोध न होने, वस्तु के स्वरूप को न जानने के कारण अज्ञानी पर द्रव्य का कर्ता बनता है। जीव किसी का कुछ कर ही नहीं सकता, वह तो जैसा कर्मोदय परिणमन चल रहा है वही हो रहा है, होता है, और होगा। जीव का पर में कुछ करने का सामर्थ्य ही नहीं हैं और न उसके पुरूषार्थ से पर में कुछ होता, हाँ स्वयं का स्वयं में पुरूषार्थ करे इसके लिए स्वतंत्र है और उसका पुरूषार्थ एक मात्र ज्ञायक ज्ञान स्वभाव में रहना ही है इसके अतिरिक्त तो कोई कुछ कर ही नहीं सकता। संसारी अज्ञानी जीव जिसे अपना पुरूषार्थ मानता है वह उसका अज्ञान भाव का कर्तृत्व का अहंकार है जो बंधन का कारण है। अध्यात्म अमृत कलश में कहा है कलश १९४ - **अज्ञान दशा में जीव अपने रागादि का अज्ञान भाव का कर्ता तो है पर वह शरीरादि पर पर्याय का कर्ता अज्ञान दशा में भी नहीं है, वह अपने को पर का कर्ता मानता है यही उसकी अज्ञानदशा है।**

प्रश्न - ज्ञान, अज्ञान दशा में जीव में क्या अन्तर पड़ता है?

समाधान - अज्ञान दशा में स्वभाव का बोध उसे नहीं होता अतः पर पदार्थ के संचय में, उसके निर्माण में, वह होता तो निमित्त मात्र है पर अपने को पर का कर्ता मान लेता है, यह मान्यता ही उसका भ्रम है और भ्रम के कारण ही वह दुःखी है। वह दुःखी इसीलिए होता है कि अपनी गलत मान्यता में पर को अपने अनुकूल बनाना चाहता है परन्तु पर द्रव्य पर जीव तो स्वयं अपनी परिणति के अनुरूप परिणमता है इसकी इच्छानुसार परिणमन नहीं करता, तब यह अपनी इच्छानुकूल पर परिणमन के अभाव में स्वयं दुःखी होता है। इसी प्रकार पर में अपना कर्तृत्व देखकर जब पर की निमित्तता में भी अपनी स्थिति, अपनी इच्छानुसार नहीं पाता तब उसका दोष पर को देता है और स्वयं दुःखी होता है।

ज्ञानी की स्थिति इसके विपरीत है वह जानता है कि पर द्रव्य अपने द्रव्य की योग्यतानुसार तथा अपनी पर्यायधारा के अनुसार, आने वाले परिणमन के अनुसार ही परिणमन करेगा, अतः दुःखी नहीं होता, इसी प्रकार मेरा परिणमन पर के आधीन नहीं है। संसारी दशा में पूर्व कर्मोदय के निमित्त को

पाकर अपनी पर्यायधारा के अनुसार आने वाले परिणमन के अनुकूल ही मेरा परिणमन होगा, मेरी मात्र इच्छा के अनुसार नहीं होगा, ऐसा जानकर दु:खी नहीं होता यही उसके तत्व ज्ञान का फल है।

प्रश्न – ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को पूर्व कर्म बन्धोदय जन्य विषयादि रोगों की पीड़ा बराबर ही भोगना पड़ती है बाहर से दोनों की स्थिति देखने में एक सी लगती है फिर इनमें अन्तर क्या है?

समाधान – भोगते दोनों हैं पर अज्ञानी कर्मोदय जन्य स्थिति से भिन्न जो अकर्म स्वरूप आत्मा है ऐसे अपने स्वरूप को नहीं जानता अत: उसे तन्मय होकर भोगता है, उसमें उसे आत्मबुद्धि है अत: दु:खी होता है, इसे ही कर्म दंड का भोगना कहते हैं। इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान स्वरूप का ज्ञायक है और कर्म के स्वरूप का ज्ञायक है तथा कर्म के उदय और उसके फल का भी ज्ञायक है, कर्ता भोक्ता नहीं है वह उसे अपने से भिन्न नैमित्तिक भाव जानकर उससे तन्मय नहीं होता क्योंकि तन्मयता को ही भोगना कहते हैं , अत: अज्ञानी, कर्ता, भोक्ता बना है, ज्ञानी, अकर्ता, अभोक्ता, अबन्ध मात्र ज्ञायक है।

प्रश्न – यदि कोई ऐसा सुनकर उन्मत्त हो जाये कि ज्ञानी, अकर्ता–अभोक्ता अबन्ध मात्र ज्ञायक है, कैसा भी रहे कुछ भी करे, तत्व की चर्चा सुनकर अपने को सम्यग्दृष्टि मानने लगे और स्वच्छन्दता बरते, संयम सदाचार भी छोड़ दे तो क्या होगा ?

समाधान – यह चर्चा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की है और ज्ञानी सम्यग्दृष्टि बनने के लिए है, इसे सुनकर धर्म का बहुमान जागे, भेदज्ञान पूर्वक शरीर से भिन्न अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति श्रद्धान करे तो उसका भला हो, इस चर्चा को सुनकर पढ़कर कोई स्वच्छंदता बरते, स्व पर का भेदज्ञान न करे अपने आपको सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मानने लगे तो वह सम्यक्त्व शून्य अभिमानी नरक निगोद जावेगा, कर्तृत्व का अहंकार, राग की रुचि, कर्म बंधन के कारण हैं, धर्म का मार्ग एकान्त पक्ष नहीं है, सम्यग्दर्शन से हीन मिथ्या दृष्टि हर दशा में पापी ही है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होने के बाद कोई स्वच्छन्द नहीं होता वह

विबेक पूर्वक अपनी पात्रतानुसार परिणमन करता है, तत्व की चर्चा जीव को ऊपर उठाने मुक्त होने परमात्मा बनने के लिए है। स्वच्छन्दी, मानी विवेकशून्य प्रमादी होने के लिये नहीं है। इसके बाद जो जैसा हो उसका फल वह भोगेगा अपने को अपनी सावधानी और संभाल रखना अति आवश्यक है।

प्रश्न – स्वच्छन्दपना कैसा होता है उसका स्वरूप क्या है?

समाधान – जीव को संसार में भटकने वाले अधबीच में डुबोने वाले दो भाव हैं –

(१) संशय (२) स्वच्छन्दता

(१) संशय– यह सत्य है या यह सत्य है, मैं जीव तो हूं पर कुछ न कुछ तो करना चाहिए ? मैं सम्यग्दृष्टि हुआ या नहीं ? अपने को कभी सम्यग्दृष्टि मानना, कभी मिथ्यादृष्टि मानना, यह संशय पतन का कारण है– ''संशयात्मा विनश्यति''।

(२) स्वच्छन्दता– शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर अपने को सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मान लेना और मनमानी करना यह स्वच्छन्दपना है जो जीव को दुर्गति का पात्र बनाता है। इसका स्वरूप निम्न प्रकार है–

(१) शास्त्र संगत या विसंगत ज्ञान के क्षयोपशम संबंध में मैं समझता हूं ''सब जानता हूं'' ऐसा भाव होने से जिज्ञासा का अभाव रहना।

(२) ज्ञानी सत्पुरुष के वचन में शंका और उसकी भूल देखने की वृत्ति होना।

(३) ज्ञानी सत्पुरुषों का विरोध करना।

(४) दूसरे के चारित्र दोष देखना, स्वयं असंयम अव्रत में रत रहना।

(५) धर्म, धर्म कार्य, धर्म प्रभावना की अपेक्षा कुटुम्ब परिग्रहादि के प्रति अधिक राग रहना।

(६) प्रत्यक्ष सत्पुरुष का योग होने पर भी शास्त्र स्वाध्याय को अधिक महत्व देकर सत्संग को गौण करना।

(७) हर कार्य में हर बात में अपनी महत्ता प्रदर्शन का हेतु मुख्य रहना यह स्वच्छन्दता का अंतरंग स्वरूप है। बाहर में मनमानी करना सिद्धांत का दुरुपयोग चर्चा में करना, इस तरह के परिणाम अपने को ज्ञानी मानने वाले जीव के होते हैं।

प्रश्न – वस्तु स्वरूप और द्रव्य की स्वतंत्रता क्या है ?

समाधान – वस्तु दो हैं– **''जीवमजीवं दव्वं''**, जीव और अजीव, जड़ और चेतन, ब्रह्म और माया, प्रकृति और पुरुष, नाम शब्द भाषा के भेद हैं पर स्वरूप एक ही है।

१. जीव – तत्व दृष्टि वस्तु स्वरूप से जीव ज्ञान मात्र चेतन सत्ता है जो एक अखंड अविनाशी, ध्रुव तत्व, ममल स्वभावी अभेद सिद्ध स्वरूपी, शुद्धात्म तत्व है। विशेषण लगाने और भेद कर कहने की अपेक्षा द्रव्य, पदार्थ, तत्व, अस्तिकाय रूप अनन्त चतुष्टय धारी, रत्नत्रयमयी, पंचज्ञान वाला परमेष्ठी पद धारी, परमात्मा जिसे कई नामों से कहा जाता है वस्तुतः अबद्ध, अस्पर्श, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त ज्ञान स्वभावी है। जो जीव द्रव्य की अपेक्षा अनन्त हैं। जिसे संसारी अपेक्षा चौदह जीव समास, चौदह मार्गणा, चौदह गुणस्थान वाला कहा जाता है।

२. अजीव – जो जड़, माया, प्रकृति, अचेतन कहा जाता है। चेतन सत्ता (जीव) के अतिरिक्त पूरा विश्व अजीवमय है। जैन दर्शन के अनुसार अजीव के पांच भेद हैं– पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल तथा तेईस सत्ता स्वरूप हैं जिसमें पुद्गल रूपी जड़ द्रव्य है शेष चार अरूपी अचेतन हैं। वैदिक दर्शन के अनुसार माया के तीन गुण– रजो गुण, तमोगुण, सत्वगुण जो पूरे विश्वमय हो रहे हैं, जो अन्धकार रूप मात्र भ्रम है। पुद्गल के ही भेद रूप– द्रव्यकर्म, भावकर्म, नो कर्म हैं। तत्व दृष्टि, वस्तु स्वरूप से पुद्गल अंजीव शुद्ध परमाणु मात्र हैं। जो द्रव्य अपेक्षा अनन्तान्त हैं। इनमें स्कंधरूप अनन्त आकार रूप परिणमन करने की शक्ति हैं। इसका मिलना और बिखरना स्वभाव है। यह वस्तु का स्वरूप है जिसे जानने वाला सम्यग्ज्ञानी होता है। छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश

काल। इनमें चार द्रव्य तो अपने में पूर्ण शुद्ध स्थित हैं। जीव और पुद्गल-यह दो ही द्रव्य हैं जो अनादि से एक दूसरे में मिले हुये निमित्त नैमित्तिक संबंध द्वारा अशुद्ध पर्याय रूप परिणमन चल रहा है, यही संसार चक्र है। इसमें भी दोनों द्रव्य अपनी-अपनी क्रियावती शक्ति अनुसार परिणमन कर रहे हैं। अनादि से एक क्षेत्रावगाह, निमित्त-नैमित्तिक, श्लेष्म सम्बन्ध होने पर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, एक दूसरे को छूता नहीं है क्योंकि जीव, चेतन अरूपी अस्पर्शी है और पुद्गल, अचेतन, रूप, रस, गंध, वर्णवाला है। दोनों का परिणमन अपने-अपने में भिन्न स्वतंत्र चल रहा है। इनके गमन करने चलने में धर्म द्रव्य सहकारी है। रुकने ठहरने में अधर्म द्रव्य सहकारी है। परिणमन में काल द्रव्य सहकारी है। सबको स्थान देने वाला आकाश द्रव्य है। छहों द्रव्य अपने-अपने में पूर्ण स्वतंत्र हैं। इनमें जीव द्रव्य अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्य परमाणु रूप अनन्तानन्त हैं। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य एक-एक हैं। काल द्रव्य असंख्यात कालाणु हैं। जो अपने-अपने में अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता से परिणमन कर रहे हैं। इसे जानने मानने वाला ज्ञानी होता है।

प्रश्न - जब सब द्रव्य अपने-अपने में स्वतंत्र परिणमन कर रहे हैं फिर यह संसार चक्र क्या है ?

समाधान - यह जीव की अज्ञानता मिथ्या मान्यता का परिणाम है जो अनादि से चल रहा है क्योंकि अनादि से सब जीव अपने स्वरूप को भूले हैं और यह शरीर ही मैं हूँ यह शरीरादि मेरे हैं और मैं इन सब का कर्ता हूँ। इस कारण चार गति चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण करते संसार चक्र में घूम रहे हैं।

प्रश्न - इससे छूटने का उपाय क्या है?

समाधान - इससे छूटने मुक्त होने का ही उपाय बताया जा रहा है कि जो जीव भेदज्ञान पूर्वक अपने स्वरूप का सत्श्रद्धान कर लेता है तत्व निर्णय द्वारा वस्तु स्वरूप जान लेता है वह सम्यग्दृष्टी ज्ञानी हो जाता है फिर अपने स्वरूप की साधना से सारे कर्म बंधनों से मुक्त पूर्ण शुद्ध परमात्मा हो जाता है।

प्रश्न – यह हृदय चित्त क्या है, इसका स्वरूप क्या है?

समाधान – यह हृदय अन्त:करण को कहते हैं इसके चार भेद हैं- मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। यह मनुष्य की विशेष उपलब्धि है। जो घातक भी है और साधक भी है। यह शरीर और जीव के अन्दर बीच में चलने वाली कर्मो की फिल्म है जो दोनों को ही प्रभावित करती है। इनका अलग-अलग स्वरूप निम्न प्रकार है-

(१) मन – मोह माया से ग्रसित, कर्मोदय जन्य क्षणभंगुर नाशवान विचारों के प्रवाह को मन कहते हैं। **"मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो:"**। मन ही मनुष्य के बंध का कारण और यही मोक्ष का कारण है। इसके चक्कर में फंसा हुआ मनुष्य हमेशा सुखी-दु:खी भयभीत चिन्तित परेशान रहता है, संकल्प-विकल्प करना ही मन का काम है, यह मोहनीय कर्म की पर्याय है।

(२) बुद्धि – जिसके द्वारा हित-अहित अच्छे बुरे का निर्णय किया जाता है। बुद्धि ही मनुष्य भव की विशेषता है। यह अज्ञान दशा में कुबुद्धि और ज्ञान दशा में सुबुद्धि कहलाती है। इसी को विवेक कहते हैं। यह ज्ञानावरणी कर्म की पर्याय है।

(३) चित्त – जिसमें धारणा श्रद्धान शक्ति होती है। जो चिंतवन करता है उसे चित्त कहते हैं। यह चंचल स्थिर, दृढ़-अदृढ़, मजबूत, कमजोर होता है। इसके द्वारा ही मन, बुद्धि को संयमित किया जाता है। यह दर्शनावरणी कर्म की पर्याय है।

(४) अहंकार – कषाय रूप परिणति को अहंकार कहते हैं। इसके द्वारा ही संसार का सारा खेल चलता है। इसके मिटते ही संसार मिट जाता है। यह जीव के पुरूषार्थ को ढ़के रखता है, यह अन्तराय कर्म की पर्याय है।

यह अन्त:करण चतुष्टय ही जीव के अनन्त चतुष्टय को आवृत किये हैं। इसका जैसा परिणमन चलता है। वैसा जीव कहने में आता है वैसे जीव का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे – सिनेमा में जो फिल्म परदे पर चलती

है। उस रूप ही दिखता है पर फिल्म अलग है परदा अलग है। उसी प्रकार यह अन्त:करण चतुष्टय अलग है और अनन्त चतुष्टय वाला मैं जीव आत्मा अलग हूँ, ऐसा समझ लेना ही जिनवाणी को समझ लेना है क्योंकि सच्ची समझ का नाम ही मुक्ति है।

प्रश्न – सच्ची समझ क्या है?

समाधान – चाहे समझो पलक में, चाहे जन्म अनेक।

जब समझे तब समझे हो, घट में आतम एक॥

मैं आत्मा कैसा हूँ? इस बात को समयसार में कहा है आत्मा न प्रमत्त है न अप्रमत्त है, न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है, मात्र अभेद अखंड एक ज्ञायक भाव रूप है, परम शुद्ध है। परम ध्यान का ध्येय एकमात्र श्रद्धेय यह भगवान आत्मा न तो कर्मो से बद्ध ही है और न कोई पर पदार्थ उसे स्पर्श कर सकता है। वह ध्रुव तत्व पर से पूर्णत: असंयुक्त अपने में ही सम्पूर्णत: नियत अपने से अनन्य एवं समस्त विशेषों से रहित है, पर से भिन्न और अपने से अभिन्न, इस भगवान आत्मा में प्रदेश भेद, गुण भेद एवं पर्याय भेद का भी अभाव है, भगवान आत्मा के अभेद अखंड इस परम भाव का ग्रहण करने वाला नय ही शुद्धनय है।

जो व्यक्ति इस शुद्ध नय के विषय भूत भगवान आत्मा को जानता है। वह समस्त जिन शासन का ज्ञाता है क्योंकि समस्त जिन शासन का प्रतिपाद्य एक शुद्धात्मा ही है-इसके आश्रय से ही निश्चय सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, रूप मोक्ष मार्ग प्रगट होता है। मोक्षार्थियों के द्वारा एक मात्र यही आराध्य है, यही उपास्य है। इसकी आराधना उपासना का नाम ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। यही सच्ची समझ है, अपने स्वरूप में रमने जमने से मुक्ति होती है।

प्रश्न – यह मन आदि अन्त:करण को रोकने शुद्ध करने का क्या उपाय है?

समाधान – अन्त:करण की शुद्धि होती, ज्ञान भाव में रहने से।
सारे भाव विला जाते हैं, ॐ नम: के कहने से ॥

इनकी तरफ से दृष्टि हटा लेना अपने ध्रुव तत्व सिद्ध स्वरूप का स्मरण ध्यान करना, ज्ञान स्वभाव में रहना ही इष्ट प्रयोजनीय है, इससे ही यह अपने आप रूक जाते हैं और शुद्ध भी होते जाते हैं, इनको रोकना या शुद्ध करना नहीं है क्योंकि जब यह सिद्धान्त है, निर्णय है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, कर नहीं सकता। एक द्रव्य की पर्याय आगे आने वाली पर्याय को रोक बदल नहीं सकती, इस बात को न मानना ही अज्ञान है। पर का कर्तृत्व ही मिथ्यात्व है। अत: इनको रोकना या शुद्ध करना नहीं है इनसे अपनी दृष्टि को हटा लेना है और अपने शुद्ध स्वरूप में रहना ही इसके रोकने और शुद्ध होने का उपाय है।

प्रश्न – जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता–सब अपने में पूर्ण शुद्ध और स्वतंत्र हैं फिर यह शरीरादि संयोग, कर्म, अन्त:करण आदि का चक्कर कहां से आया, फिर यह सब क्या है?

समाधान – बस इसी को समझने का नाम मालारोहण है, यही समयसार है। यह जिज्ञासा जगना और इसको समझ लेना ही वर्तमान का पुरूषार्थ है। वस्तु स्वरूप समझने और द्रव्य की स्वतंत्रता को जानने का मतलब भी यही है कि हमारे भीतर ऐसा विचार, छटपटाहट, जिज्ञासा पैदा हो जाये और इसे सही ढंग से अर्थात् अपने आत्म कल्याण, मुक्त होने की भावना से समझ लें तो भेदज्ञान, सम्यग्दर्शन, सहज में हो जाये। मूल बात – जीव शुद्ध–बुद्ध अविनाशी चेतन तत्व भगवान आत्मा है। ममल स्वभावी, ध्रुव तत्व सिद्धस्वरूपी शुद्धात्मा है यह अपने ब्रह्मस्वरूप परमात्म तत्व को भूलकर अनादि से यह शरीर ही मैं हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं और मैं इनका कर्ता हूँ, ऐसा मानता चला आ रहा है,यही अज्ञान मिथ्यात्व संसार परिभ्रमण का कारण है।

अब यह शरीरादि संयोग कर्म अन्त:करण आदि कहां से आये ? तो यह भी अनादि से हैं। इन्हें किसी ने बनाया नहीं है। यह जीव अनादि से इनमें मिला एकमेक हो रहा है। जीव अनन्त हैं और सबकी यही दशा हो रही है,

अनादि से सब जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही हैं।

अब जब जिस जीव को काल लब्धि के वश सम्यग्सद्‌गुरू के उपदेश निमित्त से, मिथ्यात्वादि प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से जब सम्यग्दर्शन हुआ, तभी स्व-पर भेदविज्ञान होने से आत्मा ने अपने स्वरूप को पहिचाना, वही अपने स्वरूप की साधना करके इनसे मुक्त होता है, अपने उपयोग को अपने स्वभाव में स्थिर करना ही सबसे बड़ा-कड़ा पुरूषार्थ है जो कि अभ्यास साध्य है।

जब जीव अपने ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभव करने में समर्थ हुआ, तबसे समस्त जगत का साक्षी हो गया, पर वस्तु मेरी है ऐसी दृष्टि छूटने से वह उसका साक्षी हुआ है। पर मेरा है और मैं उसका हूँ, ऐसी मान्यता छूट गई है वह सकल पर द्रव्यों का जानने वाला हो गया। उसकी दृष्टि में कोई परमात्मा हो तो भी वह उसका जानने वाला है और स्त्री-पुत्रादि हों उनका भी जानने वाला है। मेरा कोई नहीं है, कुछ भी नहीं है। ऐसा उसके ज्ञान श्रद्धान में आ गया है। वह तो ज्ञानानन्द स्वरूप ही बस मैं हूं, इस प्रकार निज वस्तु का स्वयं के द्वारा अनुभव करता है और निज स्वरूप को जानना ही इनसे छूटना है। जो जीव इस प्रकार भेदज्ञान तत्वनिर्णय करके वस्तु स्वरूप को नहीं जानता, वह इनके चक्कर में ही फंसा रहता है। अपनी अज्ञानता से, भाव कर्म से द्रव्य कर्म, द्रव्य कर्म से भाव कर्म का बंध होता रहता है। यही निमित्त नैमित्तिक सम्बंध अनादि संसार परम्परा का कारण है।

जो भव्य जीव अनेकान्त स्वरूप जिनवाणी के अभ्यास से उत्पन्न सम्यग्ज्ञान द्वारा तथा निश्चल आत्म संयम के द्वारा स्वात्मा में उपयोग स्थिर करके बार-बार अभ्यास द्वारा एकाग्र होता है, वही शुद्धोपयोग के द्वारा केवलज्ञान रूप अरिहन्त पद तथा सर्व कर्म शरीरादि से रहित सिद्ध परम पद पाता है।

बस यह अपना आत्म स्वभाव तथा पुद्‌गलादि कर्म स्वभाव और उससे होने वाले यह शरीरादि संयोग अन्त:करण का परिज्ञान ही सबसे कठिन है। जब तक आत्मा अपने परम पुरूषार्थ को निज बल से प्रगट कर अनादि कालीन

कर्म निमित्तजन्य विभावों और विकल्पों से अपने को नहीं निकालता तब तक इस संसार रूपी गहन जंगल में नाना दु:खों की परम्परा को प्राप्त होता है।

प्रश्न – क्या शुद्धनय को मानने से सांख्य मत न हो जायेगा तथा तत्व निर्णय (जिनवाणी का सार) को मानने से नियतिवाद न हो जायेगा इससे कायरता, प्रमाद, पुरूषार्थ हीनता कहलायेगी या नहीं?

समाधान – भाई ! एकान्तवाद से किसी नय को ग्रहण करना ही अज्ञान मिथ्यात्व है। वस्तु या धर्म अनेकान्तमय है। जब तक संयोग है तब तक दोनों नयों को समझना, जानना, मानना जरूरी है। जब मुक्त हो जायेंगे तो स्वत: शुद्ध वस्तु ही रहेगी। जैसे – रेलगाड़ी दो पटरी पर ही चलती है पर जब स्टेशन आता है, उतरना होता है तब एक ही तरफ से उतरते हैं। इसी प्रकार शुद्ध नय का लक्ष्य श्रद्धान किये बिना सार भूत नहीं है और तत्वनिर्णय को स्वीकार किये बिना शुद्ध नय से काम नहीं चलता। जैन दर्शन के अनुसार कोई भी कार्य पांच समवाय से ही होता है–

(१) स्वभाव (२) निमित्त (३) पुरूषार्थ (४) काललब्धि (५) नियति (होनहार)।

इसमें कथन एक पक्ष से ही किया जाता है, पर साथ में चार गौण रहते हैं। इस बात का जिसे ज्ञान नहीं है। वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही नहीं है। जब तक संयोग में संसार में जीव है, तब तक व्यवहार निश्चय के समन्वय पूर्वक ही चलना पड़ेगा तभी मोक्ष मार्ग पर चल सकता है; इसीलिए भेदज्ञान पूर्वक शुद्ध नय को स्वीकार करना तथा तत्वनिर्णय द्वारा अपने में शान्त निर्विकल्प रहना यही मुक्ति का मार्ग है। इससे न सांख्य होता, न नियतिवाद होता और न कायरता, प्रमाद, पुरूषार्थ हीनता कहलाती, यह तो शूरवीर, क्षत्रिय, योद्धा नरों का मार्ग है। इस बात को स्वीकार कर लेना एकत्व, अपनत्व, कर्तृत्व, छोड़ देना यह सामान्य बात नहीं है; यह बड़े पुरूषार्थ की बात महावीर बनने वालों की है। संसार में अज्ञानी जनों की अपेक्षा निकम्मा, कायरता आदि यह कहने में आता है पर वह इस बात को जानते ही नहीं हैं।

तत्व का निर्णय पुरूषार्थ से होता है, जिस समय जो होने वाला है, सो

होने ही वाला है। ऐसा निर्णय पुरूषार्थ से होता है। पुरूषार्थ स्वभाव में रहना है तथा स्वभाव ज्ञान स्वरूप है।

आध्यात्मिकता मनुष्य को पलायन नहीं सिखलाती है बल्कि उसके अन्तर जगत को सुव्यवस्थित कर उसे कर्म की ओर प्रवृत्त करती है तथा उसे समभाव जनित स्थायी सुख एवं शांति प्रदान करती है।

अध्यात्म एक विज्ञान है, एक कला है, एक दर्शन है। अध्यात्म मानव के जीवन में जीने की कला के मूल रहस्य को उद्‌घाटित कर देता है।

काल नय की अपेक्षा जिनकी सिद्धि समय पर आधारित है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र, केवलज्ञान आदि जिस समय प्रगट होने वाले हैं, उसी समय प्रगट होते हैं। जिस समय जो होना है वह उसी समय होता है, परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पुरुषार्थ बिना हो जाता है।

कालनय से ज्ञान करने वाले साधक की दृष्टि काल ऊपर नहीं वरन् स्वभाव पर होती है अत: वे काल नय से जानते हैं कि जिस समय चारित्र प्रगट होना है, उसी समय प्रगट होगा जिस काल केवलज्ञान होना है, उसी समय प्रगट होगा।

किसी मुनि को लाखों वर्षों तक चारित्र पालन करने पर भी केवलज्ञान प्रगट होने में समय लगता है। किसी मुनि को अल्पकाल में ही केवलज्ञान हो जाता है अत: दीर्घ काल तक चारित्र पालन करने वाले मुनि को अधीरता नहीं होती क्योंकि वे जानते हैं कि केवल ज्ञान होगा ही, वह अपने स्वकाल में ही प्रगट होगा। (परमागमसार २८२)

सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि शुद्ध निश्चय नय से मैं मोह, राग-द्वेष रहित हूँ। वह स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति नहीं करता। सम्यग्दृष्टि अशुभ से छूटने हेतु वांचन, श्रवण, विचार, भक्ति, संयम आदि करता है। प्रयत्न करके ही अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवृत्त होता है। शास्त्र में भी ऐसा उपदेश है परमार्थ दृष्टि से शुभ और अशुभ समान हैं। फिर भी स्वयं की भूमिकानुसार अशुभ से छूटकर शुभ में प्रवृत्त होने का विवेक रहता है और वैसे ही विकल्प भी आते हैं।

इस प्रकार वस्तु स्वरूप को जानने वाला ही पुरूषार्थी होता है। यह बात इस कथानक के माध्यम से और स्पष्ट हो जायेगी।

एक गांव में एक सेठ रहता था, जो कपड़े का व्यापार करता था। एक दिन सेठ जी एक गांव का हाट करने के लिए गाड़ी में माल भरकर और नौकर को साथ लेकर रात्रि में रवाना हो गये, ठंड के दिन थे, प्रात: एक गांव के पास पहुँचे, सेठजी ने नौकर से कहा–कुछ ईंधन इकट्ठा कर जलाओ, ताप कर फिर आगे चलेंगे। नौकर ने कहा–सेठ जी थोड़ी देर और चले चलो, वह सामने जो लकड़ी का टाल दिख रहा है, उसमें अभी आग लगने वाली है, सो खूब ताप लेना। सेठ चुपचाप बैठे रहे–थोड़ी देर बाद देखते हैं कि अनायास लकड़ी के टाल में आग लग गई और सब लकड़ी जलने लगीं, सेठजी पास पहुँचे, देखा टाल जल रहा है। गाँव के लोग आग बुझाने में लगे हैं। पर टाल का मालिक शांत खड़ा था और लोगों से कह रहा था – सावधानी से आग बुझाना किसी को चोट न लगे। सेठ जी ने देखा–बड़े आश्चर्यचकित हुये कि यह कैसा आदमी है! जो इतना नुकसान होने पर भी शान्त है। न रो रहा न चिल्ला रहा। नौकर से पूछा–यह क्या बात है ? नौकर ने बताया कि जो होने वाला है, उसे टाला नहीं जा सकता फिर उसमें विकल्प करने रोने से क्या फायदा है ? सेठ जी ने पूछा– तुझे यह जानकारी कहाँ से हुई और इस व्यक्ति को इतनी शान्ति कैसे है ? नौकर ने बताया कि यहाँ पास में ही जंगल है, वहाँ एक साधु रहते हैं। उनके सत्संग में हम लोग जाते हैं। उन्होंने बताया है कि इस शरीर में चैतन्य तत्व भगवान आत्मा अजर अमर अविनाशी है। जो ब्रह्म स्वरूपी परमात्मा है और यह सब शरीरादि संयोग छूटने वाले, गलने, विलाने वाले हैं तथा इन सबका जिस समय जैसा होना है वह अटल है, उसे कोई टाल नहीं सकता। एक दिन इसी चर्चा में पूछने पर उन्होंने यह घटना होना बताया था जो सामने घटित हो रही है इसीलिए यह व्यक्ति शान्त है। सेठ जी ने कहा –यह तो अकर्मण्यता है। अपना पुरूषार्थ तो करना चाहिए फिर जो होना हो, हो। नौकर ने कहा कि सेठ जी आत्मा का पर में कोई पुरूषार्थ नहीं है। आत्मा अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में रहे–यही उसका पुरूषार्थ है और जो कुछ जैसा हो रहा है। उसे समता शांति से ज्ञायक रहकर देखें यह उसका ज्ञानीपना है। पर

वस्तु का, पर जीव का, अपने से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक दूसरे में अत्यन्त अभाव है। इसलिए पर वस्तु में किसी का कोई पुरूषार्थ नहीं चलता। सेठ जी ने कहा– वह साधु कहाँ रहता है ? चलो, उससे ही यह चर्चा करेंगे। नौकर ने कहा कि अगले गांव के बाद थोड़ी दूर जंगल में रहते हैं।

सेठ जी वहाँ से आगे बढ़े, दूसरे गाँव में पहुंचे, वहाँ क्या देखते हैं कि एक वृद्ध किसान अपने घर के सामने बैठा अर्थी बना रहा है, सेठ जी ने पूछा– यह क्या कर रहा है ? इसके घर में कोई मरा नहीं है फिर यह अर्थी क्यों बना रहा है ? नौकर सेठजी को लेकर वृद्ध किसान के पास गया और पूछा कि यह क्या कर रहे हो ? किसान ने बताया मेरा नौजवान बेटा खेत पर गया है हल चला रहा है, अभी थोड़ी देर बाद बैल के सींग मारने से उसकी मृत्यु हो जायेगी, उसकी तैयारी कर रहा हूँ, जिससे रात्रि न होने पावे वरना लाश को रात भर रखना पड़ेगा।

सेठ जी सुनकर घबरा गये, बोले–कैसे पागल आदमी हो अरे ! अपने बेटे को बचाने का पुरूषार्थ करो, उसे खेत से वापिस बुला लो, बैलों को दूर रखो। वृद्ध बोला – जो होने वाला है उसे टाला नहीं जा सकता, मेरे गुरूदेव ने बताया है, वह सत्य है, ध्रुव है, प्रमाण है। सेठजी ने कहा–यह कायरता है, मूर्खता है, पुरूषार्थहीनता है इससे तो लोग अकर्मण्य बन जायेंगे।

बताओ, तुम्हारा लड़का कहाँ है, किस खेत पर है? मैं उसे बचाकर लाता हूँ। गाड़ी बैल को वहीं खोल कर सेठ जी नौकर के साथ खेत पर गये, देखा वह नौजवान – भजन गाता हुआ हल चला रहा था। सेठ ने उसे अपने पास बुलाया, नौकर को हल खोलकर बैलों को दूर बांधने को कहा और उस लड़के को लेकर घर की तरफ रवाना हुआ, सेठजी बातचीत करते अपने मन में प्रसन्न होते घर के पास आ गये, पर जैसे ही लड़का गाड़ी के पास से निकलने लगा वैसे ही एक बैल ने सींग मार दिया, सींग लड़के के पेट में घुस गया और वह वहीं गिरकर मर गया। सेठजी ने यह सब देखा तो उनके होश गायब हो गये, घबरा गये और किसी झंझट में न फंस जायें इसलिये गाड़ी जोतकर वहाँ से रवाना हो गये। नौकर से कहा कि उस साधु के पास ले चलो,

यह सब तो बड़ा विचित्र हो रहा है।

नौकर सेठजी को लेकर थोड़ी देर बाद साधु के पास पहुँच गया, गाड़ी ढील कर सेठ जी, साधु के पास पहुँचे नमस्कार किया और कहा-महाराज यह सब क्या हो रहा है ? आपकी ऐसी चर्चा से तो लोग निरूद्यमी, अकर्मण्य, पुरूषार्थहीन प्रमादी हो रहे हैं।

साधु ने कहा कि सेठ जी इसमें मेरा क्या है - जैसा जिनवाणी में आया, जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है वैसा मैं बता रहा हूँ।

अरे ! यह वीतराग देव की वाणी-जिनवाणी तो परम शांति और परम आनन्द को देने वाली है। इस जीव के संसार के जन्म मरण के चक्र को मिटाने वाली है। जीव को अपने सत्स्वरूप परमात्म तत्व को बताने वाली और संसार के कर्तृत्व के अहंकार से छुड़ाकर, परम शांति, परमानंदमय करने वाली है। अभी तक इस जीव ने पर के कर्तृत्व के अहंकार में ही अपना जीवन गंवाया है। स्व-पर का ज्ञान नहीं किया, अपने सत्स्वरूप को नहीं जाना इसीलिए ऐसा मर रहा है। स्व-पर का यथार्थ निर्णय करे, वस्तु के स्वरूप को जैसा का तैसा जाने माने, तो परम शान्तिमय हो जाये, मुक्ति का मार्ग बन जाये। सेठ जी ने कहा कि महाराज यह सब कैसे क्या हो रहा है ? इसका रहस्य बताइये, वरना इससे तो बड़ी भ्रान्ति पैदा हो रही है।

साधु ने कहा-सेठजी अज्ञान दशा में ऐसा ही होता है। सत्य को सुनना, समझना और स्वीकार कर लेना बड़ा कठिन है जो इसे सुन समझ कर स्वीकार करते हैं वह नर ही शूरवीर, पुरूषार्थी हैं जो महावीर बनते हैं।

इस शरीर में शरीर से भिन्न चैतन्य तत्व जीवात्मा है, वह मैं हूँ-यह शरीरादि मैं नहीं हूँ, यह मेरे नहीं हैं। इस बात को स्वीकार कर लेने वाला ही सम्यग्दृष्टि नर है और यही जीव का सच्चा पुरूषार्थ है। यह जीव आत्मा, अरस अरूपी ज्ञानानन्द स्वभावी परमात्म तत्व मात्र ज्ञायक स्वभावी है। यह सिर्फ देखता जानता है, कुछ करता धरता नहीं है। अपने सत्स्वरूप को भूलकर यह जीव पर के कर्तृत्व में मर रहा है जबकि प्रत्येक द्रव्य का, प्रत्येक जीव का जिस समय जैसा होना है वह अपनी तत्समय की योग्यतानुसार हो

रहा है और होगा उसे कोई भी टाल फेर बदल सकता नहीं। एक-एक समय का परिणमन क्रमबद्ध निश्चित है। यह निर्णय स्वीकार हो तो परम शांति होती है।

सेठजी ने कहा – महाराज फिर इसमें पुरूषार्थ क्या रहा, यह मनुष्य भव पुरूषार्थ योनि है, इसमें अपना पुरूषार्थ तो करना चाहिए, फिर जो होना होवे, होवे। साधु ने कहा-सेठ जी यही सबसे बड़ी भूल हो रही है। पुरूषार्थ का मतलब क्या है ? पुरूष+अर्थ मिलकर पुरूषार्थ बना है तो जो पुरूष का अर्थ अर्थात् प्रयोजन है उसे ही सिद्ध करना पुरूषार्थ है। पुरूष का मतलब जीव आत्मा ब्रह्म है। यह मनुष्य होने का नाम पुरूष नहीं है। अब बताओ पुरूष का अर्थ (प्रयोजन) क्या है ?

सेठजी ने कहा-महाराज पुरूषार्थ तो चार बताये गये हैं-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इनको प्राप्त करना ही पुरूषार्थ है।

साधु ने कहा-सेठ जी इनका अर्थ भी बताओ ?

सेठजी ने कहा-धर्म अर्थात् सत्कार्य करना, अर्थ अर्थात् धन कमाना, काम अर्थात् शरीर विषय भोगादि परिवार का पालन पोषण करना और मोक्ष अर्थात् संसार के जन्म मरण के चक्कर से छूट जाना।

साधु ने कहा-सेठ जी बताओ, इसमें तुम्हारा सच्चा पुरूषार्थ क्या है ?

सेठजी ने कहा- यह चारों ही पुरूषार्थ करना चाहिए।

साधु ने कहा-सेठजी यह भूल ही संसार का कारण बनी हुई है। धर्म का अर्थ सत्कार्य करना नहीं, अपने सत्स्वरूप को जानना है। इस शरीर में शरीर से भिन्न मैं एक अखंड, अविनाशी, चेतन तत्व भगवान आत्मा हूँ। मैं स्वयं ब्रह्म स्वरूपी परमात्मा हूँ। ऐसा सत्श्रद्धान करना ही धर्म है और अपने ब्रह्म स्वरूप में लीन होना ही मोक्ष पुरूषार्थ है। यह अर्थ और काम तो कर्माधीन हैं। उसमें जो कुछ जैसा मिल जाये, जो होवे उसमें समता, शान्ति रखना, किसी तरह का हर्ष, विषाद, न करना, यह अर्थ और काम पुरूषार्थ है। यह मनुष्य भव पुरूषार्थ योनि अपना प्रयोजन सिद्ध करने अर्थात् मोक्ष पाने के लिए ही

मिली है। इसे पर के कर्तृत्व में संसारी व्यामोह में गंवाना अपनी मूर्खता है।

सेठजी ने कहा–ठीक है महाराज, पर में हम कुछ नहीं कर सकते, वह सब प्रारब्धाधीन परिणमन है पर हम अपने में अपने लिये तो कुछ कर सकते हैं ?

साधु बोले – देखो सेठजी, यह धर्म का मर्म, तत्व का निर्णय बड़ा ही सूक्ष्म है। इसमें हम अपने में अपने लिये भी कुछ नहीं कर सकते।

सेठजी बोले – महाराज यह कैसे हो सकता है ? इससे तो संसार की सारी व्यवस्था गड़बड़ हो जायेगी।

साधु ने कहा – देखो सेठ जी, अभी तुमने लकड़ी का टाल जलता देख लिया और लड़का भी मरता देख लिया पर अभी भी तुम्हारा कर्तृत्व का अंहकार नहीं टूटा तो सुनो, अब तुम्हें कल शाम को ६ बजे वह सामने के पेड़ पर, जहाँ राज्य का फांसीघर है, वहां फांसी लगने वाली है, अब तुम अपनी सुरक्षा कर लो।

सेठजी ने जैसे ही यह सुना, घबरा गये, पसीना छूटने लगा, वैसे ही प्राण निकलने लगे। सेठजी ने अपने नौकर से कहा कि जल्दी एक तेज दौड़ने वाला, अच्छा घोड़ा ले आओ। गाड़ी बैल सामान जो भी देना होवे, दे दो और बाकी जो कुछ बचे उसे लेकर घर लौट जाओ, मैं कुछ दिन बाद लौटकर आऊंगा। नौकर ने एक अच्छा घोड़ा लाकर सेठजी के हवाले कर दिया। सेठजी तुरन्त उस घोड़े पर बैठकर रवाना हो गये, तेजी से दौड़ाते हुए घोड़े को, वह रात भर चले। प्रात: एक शहर में पहुँचे जो उस राज्य की राजधानी थी। रात भर जागने और चलने से सेठ जी तथा घोड़ा दोनों बहुत थक गये थे। सेठजी एक बगीचे में कुयें के पास रूक गये और घोड़े से उतरे, उतरते ही बेहोश होकर गिर पड़े, वहाँ एक बुढ़िया बैठी थी, उसने पानी सींचकर सेठजी को होश में किया, सेठजी ने पीने के लिये पानी मांगा। बुढ़िया ने कहा कि बेटा कुछ खाकर पानी पियो वरना ऐसे में पानी लग जायेगा और तुम मर जाओगे।

सेठजी ने कहा माँ मेरे पास तो कुछ है ही नहीं तुम ही कुछ खाने को दो,

बुढ़िया ने कहा बेटा मेरे पास भी खाने को कुछ नहीं है। यह अंगूठी है तू ले जा और इसे बेच कर खाने का सामान ले आ मैं यहीं बैठी मिलूंगी।

सेठ अंगूठी लेकर बेचने गया, हीरे की अंगूठी थी दूकानदार ने पूछा यह कहाँ से आई, सेठ ने बताया मैं बाहर से आया हूँ, एक बुढ़िया ने दी है जो कुयें पर बैठी है।

वह अंगूठी राजा की थी, जो कुछ दिन पहले चोरी हो गई थी, दुकानदार ने सेठ को पुलिस के हवाले कर दिया और वह अंगूठी दे दी, सिपाही सेठ को पकड़कर राजा के पास ले गया।

राजा ने पूछा–यह अंगूठी कहाँ से आई ? सेठजी ने अपनी सारी व्यथा और बुढ़िया ने अंगूठी दी है, सब बता दिया। सिपाही बगीचे में गये, वहाँ पर बुढ़िया नहीं थी। सेठ का घोड़ा बंधा था, उसे लेकर सिपाही, राजा के पास आ गये। घोड़े को देख कर राजा ने कहा– यह तो कोई डाकू है। झूठ बोलता है, इसे फांसी की सजा दी जाये, उसी घोड़े की पीठ पर सेठजी को बांधकर सिपाही फांसी घर लेकर चल दिये।

संध्या के पूर्व फांसी घर के पास पहुँचकर सिपाही ने पूछा –सेठ जी कोई इच्छा हो तो बताओ ?

सेठ ने कहा–और कोई इच्छा नहीं है। सिर्फ यहाँ एक साधु रहते हैं, उन से मिलना है, उनके दर्शन करना है। सिपाही सेठ को लेकर साधु के पास पहुँचे।

सेठ साधु के चरणों में गिर पड़ा–बोला गुरुदेव मुझे बचाओ, बताओ अब मैं क्या करूँ ?

साधु ने कहा – सेठ कर्तृत्व का अहंकार तोड़ो, यह शरीरादि को अपना मानना छोड़ो, निज स्वभाव से नाता जोड़ो पर से अपनी दृष्टि को मोड़ो, संयम की चादर ओढ़ो, अब इस स्थिति में बचाने वाला कोई नहीं है। भेदज्ञान पूर्वक, समाधिमरण करो।

होनी को टाला नहीं जा सकता, जो नहीं होना उसे किया नहीं जा सकता, आत्मा का शरीरादि पर से कोई सम्बंध नहीं है।

जिनवाणी पर श्रद्धा लाओ, अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव करो, ध्याओ और समता शांति से संयम स्वीकार कर समाधिमरण करो, सद्गति और मुक्ति पाओ।

सेठ ने उसी समय सारे पाप परिग्रह-विषय कषायों का त्याग कर दिया, संयम धारण कर लिया, सबसे क्षमायाचना कर शुद्धात्म तत्व अपने सिद्ध स्वरूप का आराधन करते हुए सारे विकल्प जालों को तोड़कर समता पूर्वक समाधिमरण किया।

जा भवितव जा जीव की, जा विधान करि होय।
जोन क्षेत्र जा काल में, सो अवश्य करि होय॥

हानि लाभ जीवन मरण, जो होना सो होय।
देव इन्द्र परमात्मा, टाल सके न कोय॥

इस कथानक से सारी बात स्पष्ट हो गई, अगर हमें भी इस संसार के दुःख शल्य-विकल्पों से बचना है तो जिनेन्द्र परमात्मा के कहे अनुसार वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करें, भेदज्ञान तत्व निर्णय के बगैर जीवन में समता शांति आ ही नहीं सकती, स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान ही जिनवाणी का सार है। जिसके जीवन में समता शांति होती है वही वर्तमान में मुक्ति का सुख भोगता है।

प्रश्न - यह मुक्ति का सुख कैसा होता है और किसे तथा कैसे मिलता है ?

इसके समाधान में वीतरागी संत श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्यजी महाराज आगे गाथा कहते हैं-

गाथा-६

जे मुक्ति सुष्यं नर कोपि सार्धं, संमिक्त सुद्धं ते नर धरेत्वं।
रागादयो पुन्य पापाय दूरं, ममात्मा सुभावं ध्रुव सुद्ध दिस्टं॥

शब्दार्थ - (जे) जो (मुक्ति सुष्यं) मुक्ति का सुख (नर) मुमुक्षु-जिज्ञासु मनुष्य (कोपि) कोई भी (सार्धं) साधक है चाहता है (संमिक्त सुद्धं) शुद्ध सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व (निश्चय सम्यग्दर्शन) (ते) वह (नर) पुरुषार्थी वीर (धरेत्वं) धारण करे (रागादयो) रागादि के उदय (पुन्य पापाय) पुण्य और पाप से (दूरं) दूर, अत्यन्त भिन्न (ममात्मा) मेरा आत्मा (सुभावं) स्वभाव से (ध्रुव) ध्रुव-अटल (सुद्ध) शुद्ध (दिस्टं) देखता है, देखे।

विशेषार्थ - जो कोई नर निराकुल परमानन्द मई, मुक्ति का सुख प्राप्त करना चाहते हैं, वे पुरुषार्थी नर, निज शुद्धात्मा की निश्चय अनुभूति रूप शुद्ध सम्यक्त्व को धारण करें तथा कर्मोदय जनित-रागादि परिणामों से और पुण्य-पाप रूप क्रिया से अत्यन्त भिन्न शुद्ध प्रकाशमयी मेरा आत्मस्वरूप सदाकाल ध्रुव और शुद्ध है, ऐसा देखें, अनुभव करें, वह मुक्ति के अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करते हैं। मुक्ति का सुख कैसा होता है और किसे मिलता है ? यह प्रश्न पूछे जाने पर सद्गुरू कहते हैं- जो कोई नर मुक्ति के सुख को चाहते हैं अर्थात् निराकुल आनन्द में रहना चाहते हैं, वे आकुलता रहित निज शुद्ध स्वभाव का अनुभव करें क्योंकि-

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माहिं न तातें, शिव मग लाग्यो चहिये॥

अब मुक्ति का सुख कैसा होता है। इसके लिए तो संसार में किसी वस्तु से कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती। जैसे अमृत का स्वाद कैसा होता है या घी का स्वाद कैसा होता है, यह बताना-असम्भव है। ऐसे ही मुक्ति का सुख जो कि अतीन्द्रिय है अवक्तव्य है, इसको कैसे बताया जावे, जैसे-गूंगा गुड़ खाये और पूछा जाये कि स्वाद बताओ ? तो वह प्रसन्न आनन्दित हो सिर हिलाता है और हूँ-हूँ करता है। इसी प्रकार मुक्ति का सुख तो अतीन्द्रिय,

अवक्तव्य, अनुपमेय है वह तो जो जीव अपने स्वभाव में रहता है वही जानता है, उसे दूसरा कौन जान सकता है या बता सकता है।

जैसे–कोई भिखारी किसी राजा का अतिथि बने और राजमहल में राजा जैसा सुख भोगे और फिर भिखारियों के बीच आवे और भिखारी पूछें कि बताओ राजा के यहाँ कैसा सुख भोगा ? तो वह भिखारियों के बीच कौन सी उपमा देकर राज्य के सुख का वर्णन कर सकता है। इसी प्रकार यह तो अपूर्व बात है। जिसके लिए जीव अनादि से खोजता फिर रहा है। जैसा कि छहढ़ाला में कहा है कि –

"जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुख ते भयवन्त"॥

जिस सुख के प्राप्त होने पर फिर कभी दु:ख होता ही नहीं है बस वही मुक्ति सुख है। जिस सुख के प्राप्त होने पर जो सादि अनन्त काल तक छूटता नहीं वही मुक्ति सुख है जिस सुख के प्राप्त होने पर संसार की सारी चाह, कामना, वासना समाप्त हो जाती है वह मुक्ति सुख है। जिस सुख की एक झलक मिलने पर संसार के सारे सुख धूल में मिल जाते हैं। जैसा आचार्यों ने कहा है–

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग।
काक वीट सम लखत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥

जो ऐसे अतीन्द्रिय सुख को चाहते हैं, वे सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु नर होते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि ही मुक्ति सुख चाहता है। दूसरा प्रश्न है किसे मिलता है ? तो सद्गुरू कहते हैं–

"संमिक्त सुद्धं, ते नर धरेत्वं" जो नर शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व को धारण करते हैं अर्थात् मैं आत्मा, शुद्धात्मा, परमात्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं हूँ, ऐसे भेदज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति करते हैं वे नर हैं। रागादि से भिन्न चिदानन्द स्वभाव का भान और अनुभव हुआ, वहाँ धर्मी को नि:संदेह ज्ञान होता है कि मुझे आत्मा का कोई अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मा में से मिथ्यात्व का नाश हो गया।

जिस धर्मात्मा को निज शुद्धात्मानुभूति हुई वह प्रतिक्षण मुक्ति की ओर गतिशील हो गया, मुक्ति का सुख वर्तमान पर्याय में आने लगा। सम्यग्दृष्टि ने शुद्ध स्वरूप का अनुभव किया, उसे अतीन्द्रिय सुख का अनुभव धारा प्रवाह रूप से होता है।

सम्यग्दृष्टि की पूरी दुनियां से रूचि उड़ गई है। उसे एक आत्मा में ही रूचि है। वह एक आत्मा को ही विश्राम स्थल मानता है। एक आत्मा की ओर ही उसकी परिणति रह-रह कर जाती है।

सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अति सूक्ष्म है, फिर भी वह राग और स्वभाव के बीच की संधि में ज्ञान पर्याय का प्रवेश होते ही प्रथम बुद्धिगम्य भिन्नता करता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने और सम्यग्दर्शन को कायम रखने के मार्ग की यह बात है। प्रथम यह बात सुने, सुनकर विचार करें; पीछे प्रयत्न करें।

तीसरा प्रश्न कैसे मिलता है ? **''रागादयो पुन्य पापाय दूरं, ममात्मा सुभावं, धुव सुद्ध दिस्टं ।''**

रागादि के उदय और पुण्य-पाप की क्रिया, शुभाशुभ भाव से दूर अत्यंत भिन्न मेरा आत्मा स्वभाव से ध्रुव शुद्ध है। ऐसे अपने सत्स्वरूप को देखे तद्रूप रहे, वह मुक्ति सुख पाता है।

ज्ञान होने के बाद राग-द्वेष को ज्ञानी अपना नहीं मानता, ज्ञान अपने को जानता है और ज्ञान, राग द्वेष मेरे में नहीं हैं ऐसा भी जानता है। ऐसा ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। ज्ञान, अपने श्रद्धा आदि अनन्त गुणों को जानता है और राग द्वेष मेरे में नहीं हैं ऐसा भी जानता है, ऐसा ज्ञान का जानने का स्वभाव है। मैं मेरे रूप से हूँ और शुभाशुभ भाव मेरे में नहीं हैं। अपनी अपने में अस्ति और पर की अपने में नास्ति, इस प्रकार अस्ति-नास्ति जिस प्रकार है वैसा ज्ञान जानता है। वही निर्विकल्प आनन्द मुक्ति सुख में रहता है।

प्रश्न - क्या इतना जानने से पूर्ण दशा को प्राप्त हो गया?

समाधान - सम्यग्दृष्टि पूर्ण दशा को प्राप्त नहीं हुआ परन्तु पूर्ण दशा

का भान हो गया है। जिस प्रकार चन्द्रमा की दूज ऊगे, उसमें पूर्ण चन्द्र दिख जाता है। दूज स्वयं को भी दिखाती है। पूर्ण चन्द्रमा को भी दिखाती है। पूर्ण उघड़ना बाकी है। उसे दिखाती है और आवरण में भी दिखाती है उसी प्रकार जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान रूप प्रगट हुई पर्याय को जानता है। पूर्ण स्वभाव को जानता है। पूर्ण स्वरूप जो प्रगट होना बाकी है, उसे जानता है और निमित्त रूप आवरण को भी जानता है। ऐसी सम्यग्दर्शन की महिमा है परन्तु अभी अधूरी पर्याय है। केवलज्ञान नहीं प्रगट हुआ है। दृष्टि से बंध है-दृष्टि से मुक्ति है।

ज्ञानी को अस्थिरता का राग होने पर ज्ञान दशा और आनन्द की दशा-वर्तती ही रहती है, उसे भेद नहीं करना पड़ता है। स्वभाव सन्मुख हुआ है और राग से विमुख हुआ है। उसे इस तरफ का स्वभाव तरफ का प्रयत्न चालू ही है, करना नहीं पड़ता।

आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है। इस पूर्णानन्द के नाथ का पर्याय में ज्ञान हुआ इस त्रिकाली ज्ञान स्वभावी आत्मा का जो ज्ञान और श्रद्धान पर्याय में हुआ उसका जीवन नियम से राग के अभाव रूप वैराग्य मय ही होता है।

पुण्य-पाप रहित निज शुद्धात्मा की अन्तर में दृष्टि होने पर स्वानुभूति प्रगट होती है और वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान रूप समयसार है।

स्व-पर का श्रद्धान होने पर संवर, निर्जरा रूप, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र होता है। इससे पर के लक्ष्य से होने वाले पुण्य-पाप व आश्रव बंध से छूटने का सहज उपाय बनता है तथा पूर्ण दशा सहज में ही प्रगट होती है।

प्रश्न - अभी वर्तमान संसार संयोगी दशा अशुद्ध पर्याय में अपने को पूर्ण शुद्ध मानना क्या अहितकर न होगा ?

समाधान - अध्यात्म में सदैव शुद्ध निश्चय नय ही मुख्य है। इसी के आश्रय से धर्म होता है। व्यवहार नय के आश्रय से कभी अंश मात्र भी धर्मनहीं होता अपितु उसके आश्रय से तो राग-द्वेष के विकल्प उपजते हैं।

अनन्त गुण स्वरूप आत्मा उसको एक रूप, शुद्ध स्वरूप, ध्रुव तत्व को, दृष्टि में लेकर, उसे एक को ध्येय बनाकर, उसमें एकाग्रता का प्रयत्न करना, यही प्रथम से प्रथम सुख शांति और मुक्ति का उपाय है।

आत्मा, पर का कर्ता नहीं राग का भी कर्ता नहीं, राग से भिन्न ज्ञायक मूर्ति हूँ, ऐसी प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन की विधि है।

राग से भिन्न होना पर पदार्थ और एक समय की अशुद्ध पर्याय से भिन्न होना यह साधन है। प्रज्ञा छैनी को साधन कहो, या अनुभूति को साधन कहो, यह एक ही बात है कि मैं पर से भिन्न हूँ, शुद्ध हूँ, ध्रुव तत्व शुद्धात्मा हूँ ऐसा भेदज्ञान करना संसार चक्र से छूटने का यही एक मात्र रास्ता है। दु:ख से छूटने का अन्य कोई रास्ता नहीं है।

भाई ! जन्म-मरण और उसके दु:खों से रहित होने मुक्ति सुख पाने के लिए एक मात्र मार्ग भेदज्ञान तत्वनिर्णय करना ही है। बाहर में लाखों रूपये पड़े हों किन्तु जब शरीर में रोग आवे तब तड़फना पड़ता है। कोई अनुकूलता-प्रतिकूलता हो जावे तो रात - दिन, हाय-हाय, चिन्ता कर मरना पड़ता है। यहाँ कोई साथ देने वाला, बचाने वाला नहीं है। यह शरीर परिवार और सारी सम्पदा छोड़कर जाना पड़ेगा अगर अपने ध्रुव तत्व ज्ञायक स्वभाव का ज्ञान श्रद्धान होगा तो यहाँ भी सुख शांति रहेगी और यही ज्ञान साधना साथ में जायेगी।

भेदज्ञान के अभाव में अज्ञानी यह शरीरादि संयोग, राग जनित अशुद्ध पर्याय और अपने को एकमेक मानता है। इसी से यह संसार परिभ्रमण चल रहा है जो प्रत्यक्ष अहितकर है।

मैं जानने वाला देखने वाला-मात्र ज्ञाता हूँ। ऐसा बारम्बार अन्तर्मुख अभ्यास करने से ज्ञाता पना प्रगट होता है। तभी विकल्प का कर्तृत्व छूटता है और तभी भूतार्थ का आश्रय रूप सम्यग्दर्शन कहने में आता है यही हितकारी प्रयोजनीय इष्ट है।

जिज्ञासु जीव को सत्य स्वीकार होने के लिए अन्तर विचार में

सत्य समझने का अवकाश अवश्य रखना चाहिए।

इस काल में बुद्धि, आयु अल्प व सत्समागम दुर्लभ है। इसलिए जिसमें अपना हित हो जन्म-मरण का नाश हो, वही सीखने समझने योग्य है।

हजारों शास्त्राभ्यास से, एक समय का अनुभव अधिक होता है, जिसे भव-समुद्र से पार होना है उसे स्वानुभव कला सीखने योग्य है।

वस्तु की सिद्धि करने के लिए दो नय हैं लेकिन मोक्षमार्ग तो एक निश्चय को ही मुख्य करने से होता है। व्यवहार की उपेक्षा ही उसकी सापेक्षता है। आत्मा आनन्द स्वरूप है, शरीरादि संयोग, अशुद्ध पर्याय मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसा भान होते ही पर्याय में आनन्द का अंश प्रस्फुटित होता है तभी रागादि से रहित दशा होती है, यही अनेकान्त है।

मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ, शुद्ध हूँ, ध्रुव हूँ ऐसा भान होते ही उसी समय वीतरागी नहीं हो जाता, अल्प राग द्वेष होता है, उसे टाल कर स्थिर होना, वह प्रत्याख्यान है।

मैं शुद्ध हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, रागादि विकार हैं होते हैं वे मेरी अवस्था में होते हैं परन्तु वे मेरे स्वरूप में नहीं हैं, ऐसा जानना मानना ही हितकारी है। इसी से अनादि अज्ञान, भ्रम, मिथ्यात्व दूर होते हैं।

जो आत्मा को हितकर हो, जिससे निज शुद्धात्मा की दृष्टि, उसका ज्ञान एवं आनन्द प्राप्त हो। राग-द्वेष, पुण्य-पाप तथा बंधन का लक्ष्य छोड़कर उसकी रूचि छोड़कर, नित्य ज्ञायक स्वभावोन्मुख हो तो धर्म का मुक्ति सुख प्रारम्भ और मोक्ष प्रगट हो, यह इष्ट उपदेश है।

तीन काल तीन लोक में जीव को सम्यग्दर्शन के समान कल्याण रूप अन्य कोई पदार्थ नहीं है। सम्यग्दर्शन के बिना शुभ कर्म चाहे जितना करे तो भी किंचित् भी कल्याण नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बाद ही सम्यग्चारित्र होता है। मिथ्या श्रद्धा के समान कोई शत्रु नहीं हैं। सम्यग्दर्शन के समान कोई हितरूप नहीं है।

बहिर्दृष्टि लोगों को सम्यग्दर्शन की महिमा ख्याल में नहीं आती। आत्मा के पूर्ण प्रयत्न से शुद्ध चिदानन्द, ध्रुव स्वभाव की पहिचान करके सम्यग्दर्शन करना ही जिनेन्द्र परमात्मा महावीर भगवान और सब संतों का महान उपदेश है। जैसे बने तैसे इस बात का उपाय और उद्यम करना, जिससे मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यक्त्व प्रगट हो यही सद्गुरू का संदेश-उपदेश है।

प्रश्न - क्या सम्यग्दर्शन ऐसी बात करने अथवा अपने को आत्मा परमात्मा ध्रुव-शुद्ध मान लेने से होता है तथा क्या मुक्ति सुख ऐसी दशा में रहते हुये मिल जाता है?

समाधान - गाथा क्र.२ से ५ तक जैसा-भेदज्ञान तत्वनिर्णय करने को कहा गया है। वैसी यथार्थ में अन्तर दृष्टि बदले और निज शुद्धात्मानुभूति होवे तो सम्यग्दर्शन हो जाता है। कहने बातें करने या मान लेने की बात नहीं है। व्यवहार में यह सब उस ओर की रूचि जगाने, पुरूषार्थ करने की अपेक्षा कहा जाता है क्योंकि अनादि से यह जीव अपने सत्स्वरूप को भूला यह शरीर ही मैं हूँ। यह शरीरादि मेरे हैं और मैं इन सबका कर्ता हूँ - ऐसे अपने अज्ञान मिथ्यात्व के वशीभूत, चारगति-चौरासी लाख योनियों में भव भ्रमण कर रहा है। इससे इसकी यह दशा हो रही है। ज्ञानार्णव में कहा है -

''महा आपदाओं से पूर्ण दु:ख रूपी अग्नि से प्रज्वलित और गहन इस संसार रूपी मरूस्थल में यह जीव अकेला ही भ्रमण करता है। यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्म फल भोगता है और सर्व प्रकार से एकाकी है। समस्त गतियों में एक गति से दूसरे शरीर को धारण करता है।''

संयोग-वियोग में, जन्म-मरण में तथा सुख दु:ख भोगने में कोई भी इसका साथी नहीं होता। यह जीव मित्र, स्त्री, पुत्रादि को मोह का निमित्त बनाकर उनके सम्बंध से अपने संतोष के लिए जो कुछ पुण्य- पाप, अच्छा-बुरा कार्य करता है। उसका फल भी नरकादि गतियों में स्वयं अकेला ही भोगता है, कोई दूसरा हिस्सेदार नहीं बनता। अनेक प्रकार के पापों द्वारा धनोपार्जन होता है, उसके भोगने में तो पुत्र -मित्रादि अनेक साथीदार हो जाते हैं परन्तु अपने बांधे हुये पापकर्म

के सम्बंध से होने वाले घोर दु:ख को सहन करने में कोई साथी नहीं होता। प्रत्यक्ष में देखता है कि संसार में मोहवश, प्राणी अकेला ही जन्म-मरण पाता है, उसके किसी भी दु:ख में कोई साथी नहीं, शरण नहीं है फिर भी जीव अपने अनादि-अनन्त, एकत्व स्वरूप को नहीं देखता यह बड़ी भारी भूल है, उसका कारण स्वयं कृत अज्ञान है।

यह मूढ़ जीव जिस समय मोहवश पर को अपना मानता है। मिथ्यात्व रागादि को कर्तव्य मानता है और तद्रूप परिणमन करता है। उस समय जीव अपने को अपने ही दोष से बांधता है। अत: सद्गुरू कहते हैं कि-

लेहु रे लेहु, जैसे ले सकहु तैसे लेहु, उठ जागहु, का सोवत हो, अनन्त भव भवान्तर भ्रमण करते भये, अवहिं न लेहु रे। (छद्मस्थ वाणी)

इसलिए जाग्रत हो आत्मा का भान कर ले। आत्मा को पहिचाने बिना छुटकारा नहीं है। यह दु:ख दूर करने के लिए तीनों काल के ज्ञानी एक ही बात बता रहे हैं। "आत्मा को पहिचानो-अप्प दीपो भव"।

जिसने खेत में बीज नहीं बोया और वर्षा हुई तो उस वर्षा से उसे कुछ भी लाभ नहीं होता, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन न होने से यह मानव जीवन व्यर्थ चला जायेगा। सद्गुरू के वचन सुनकर भी उनका अभिप्राय ध्यान में रखना दुर्लभ है, क्योंकि जीवादि वस्तु का स्वरूप सूक्ष्म होने से तथा पहले कभी सुनने में आया न होने से उनका अभिप्राय समझना कठिन है। श्रद्धा प्रगट करना तो दुर्लभ है।

मनुष्य को सत्धर्म का स्वरूप महा पुरूषार्थ से समझ में आता है, ज्ञान होने के बाद धर्म में प्रवृत्ति करने में उससे भी अधिक पुरूषार्थ की आवश्यकता है। यह बातें करने का समय नहीं है, यह तो ऐसा सत्श्रद्धान करके अपने में उतर जाने का समय है।

सम्यग्दर्शन सहज साध्य है। अपनी रूचि और पुरूषार्थ की बात है। दृष्टि पलटने में देर नहीं लगती और दृष्टि बदलते ही सृष्टि बदल जाती है। जैसे-अपनी बच्ची का सम्बंध कर देने पर उसकी दृष्टि अन्तर भावना बदल

जाती है। फिर उसकी क्या दशा होती है। यह सब अनुभव प्रमाण है।

ऐसे ही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की अन्तरदृष्टि भावना बदल जाती है तो मुक्ति सुख अभी इसी समय मिल जाता है। हम भी अपने सत्स्वरूप को जान लें और भेदज्ञान पूर्वक इन शरीरादि संयोगों से भिन्न न्यारे हो जायें, तो अपनी भी सारी झंझट मिट जाये, यह भय, विकल्प, चिन्ता सब खत्म हो जाये।

शल्य, विकल्प से रहित हो जाने का नाम ही मुक्ति सुख है। निर्विकल्प निजानन्द में होना ही मुक्ति सुख है। बंधन से छूट जाने का नाम मुक्ति है।

जीव अपनी मिथ्या मान्यता से बंधा है। सत्श्रद्धान से अभी मुक्त हो सकता है। मुक्ति का सुख सम्यग्दर्शन होने चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है। उस अतीन्द्रिय आनन्द निराकुल निर्विकल्प अनुभूति का नाम ही मुक्ति सुख है, जब ऐसी अनुभूति होती है तभी जीव को संसार दु:ख रूप लगता है और वह उससे छूटने के लिए छटपटाने लगता है तथा अतीन्द्रिय आनन्द मुक्ति सुख पाने के लिए पुरुषार्थ करने लगता है।

आत्म ज्ञानी संत ग्रहवास में रहते हुये भी अन्तर से विरक्त होते हैं। उनकी अन्तर दशा की बात बड़ी अलौकिक है। उसे अज्ञानी नहीं जानते न जान सकते।

ज्ञानी गृहस्थ आश्रम में रहने पर भी उसका अन्तर हृदय जुदा ही होता है। वह समझता है कि मैं परमानन्द मयी स्वयं सिद्ध परमात्मा हूँ, राग का एक कण भी मेरा नहीं है। निर्बलता के कारण इस अस्थिरता में जुड़ता हूँ। यह मेरी कमजोरी है। मुझे कलंक है, इसी क्षण वीतराग होना बने तो अन्य कुछ भी नहीं चाहिए। भले चौथे या पांचवे गुणस्थान में हो तथापि चैतन्य के भान सहित ज्ञानानंद स्वरूप मुक्ति का सुख भोगता है। उसे मरण की पीड़ा की अपेक्षा विषयों की पीड़ा बहुत असह्य, असाध्य लगती है अत: ज्ञानी, ज्ञान स्वभाव की प्रीति करना सुखदायक मानते हैं और इससे जब वह निर्ग्रंथ वीतराग दशा प्रगट होती है, तब तो प्रत्यक्ष ही मुक्ति श्री से रमण करते हैं। इन सारी बातों का वर्णन सद्गुरू तारण स्वामी ने ममल पाहुड़ ग्रंथ में किया है।

जिन्हें आत्मा को समझने के लिए अन्तर में सच्ची धुन और छटपटी लगे उन्हें अन्तर मार्ग समझ में आये बिना रहे ही नहीं।

स्वरूप लीला जात्यन्तर है, मुनि की दशा अलौकिक है, मुनिराज स्वरूप उपवन में रमते रमते कर्मों का नाश करते हैं यह "लीला अप्प सहावं "(ज्ञान समुच्चयसार)।

सम्यग्दृष्टि की लीला भी जात्यन्तर है, कोई सम्यग्दृष्टि युद्ध में हों वह वहाँ से घर लौट कर ध्यान में बैठते ही निर्विकल्प आनन्द का अनुभवन करते हैं। अरे ! कभी तो लड़ाई के प्रसंग में हों तो भी समय मिलते ही ध्यानस्थ हो जाते हैं। संसार के अशुभ भावों में पड़े हों तो वहाँ से भी खिसककर दूसरे ही क्षण ध्यान में बैठते ही निर्विकल्पता हो जाती है, यह वस्तु अन्तर में मौजूद है, उसके माहात्म्य के जोर से निर्विकल्पता हो जाती है।

जिसे राग से भिन्नता हुई, स्वरूप में एकता हुई आनन्द के खजाने के ताले खुल गये वह अशुभ भाव से खिसककर ध्यान में निर्विकल्प मगन हो जाता है।

यह सब चमत्कार पूर्णानन्द के नाथ को जानने का है। सम्यग्दर्शन में पूर्णानंद के नाथ के प्रगट होने का है, सम्यग्दर्शन में पूर्णानन्द का सम्पूर्णतः कब्जा हो जाता है, यह उसकी जात्यन्तर लीला है।

अरे ! कोई जीव तो निगोद से निकलकर आठ वर्ष की आयु में सम्यग्दर्शन या तुरन्त मुनि हो स्वरूप में एकाग्र होते ही अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट कर लेते हैं और अन्तर्मुहूर्त में देह छोड़ सिद्ध हो जाते हैं।

स्वरूप की जात्यन्तर लीला तो कोई अद्भुत है परन्तु सम्यग्दर्शन बिना, व्रत करे, तप करे, घरद्वार छोड़कर मुनि हो जाये तो भी इसकी लीला जात्यन्तर नहीं होती, संसार की लीला थी और वही की वही रहती है।

(परमागम सार ३६३)

अतः सम्यग्दर्शन और मुक्ति सुख एकार्थ है और यह अभी इसी दशा में हो सकता है।

प्रश्न – यह कैसे समझ में आवे कि जीव को सम्यग्दर्शन हो गया, यह ज्ञानी है और मुक्ति के सुख में मगन है?

समाधान – भाई ! यह पर की अपेक्षा समझने की बात नहीं है यह तो निज की अपेक्षा की बात है, कौन कैसा है, उसकी वह जाने; जो जैसा है उसका फल वह भोगेगा क्योंकि धर्म–कर्म में कोई किसी का साथी नहीं है, जो जैसा करेगा, वह उसका फल भोगेगा। हमें तो अपने को देखना चाहिए, सद्गुरू तो अपनी बात बता रहे हैं जैसे–इतने तीर्थंकर परमात्मा हो गये, उनको जान लेने से, अपने को क्या लाभ है। जब तक स्वयं वैसे नहीं होते, तब तक अपने को क्या मिलता है ?

अरे ! सम्यग्दृष्टि जीव को छह खंड के राज्य में संलग्न होने पर भी ज्ञान में तनिक भी ऐसा भाव नहीं आता कि ये मेरे हैं। छियानवे हजार अप्सरा जैसी रानियों के वृन्द में रहने पर भी उनमें तनिक भी सुखबुद्धि नहीं होती तथा कोई नरक की भीषण वेदना में पड़ा हो तो भी अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन की अधिकता नहीं छूटती है। इस सम्यग्दर्शन का क्या माहात्म है। संसारी जीव को इस मर्म को बाह्य दृष्टि से समझना बहुत कठिन है।

जैसे खीर के स्वाद के आगे लाल ज्वार की रोटी अच्छी नहीं लगती वैसे ही जिन्होंने प्रभु आनन्द स्वरूप है ऐसा स्वाद लिया है उन्हें जगत की किसी भी वस्तु में रूचि नहीं होती, रस नहीं आता, एकाग्रता नहीं होती, निज स्वभाव के सिवाय जितने विकल्प और बाह्य ज्ञेय हैं उन सभी का रस टूट जाता है।

चौथे गुणस्थान में विषय कषाय के परिणाम होने पर भी सम्यग्दर्शन को बाधित नहीं करते और सम्यग्दर्शन के अभाव में अनन्तानुबंधी आदि कषाय की मन्दता होने पर भी मिथ्यात्व का पाप बंध करता है।

सम्यग्दृष्टि ने शुद्ध स्वरूप का अनुभव किया उसके पश्चात् उसे ऐसी भावना रहती है कि वह एक क्षण के लिए भी छोड़ने योग्य नहीं है, जो विकल्प उठते हैं उन्हें जानता है पर वह उन विकल्पों का कर्ता नहीं है।

आत्म अनुभव के बिना सब कुछ शून्य है। लाख कषाय की मन्दता करो या लाख शास्त्र पढ़ो किन्तु अनुभव बिना सब व्यर्थ है। यदि कुछ भी न सीखा हो, उसे बात करना भले ही न आये तो भी वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा।

(जैसे – शिवभूति मुनि)

ज्ञायक स्वभाव का जहाँ अन्तर में भान हुआ-जानने वाला जाग उठा कि मैं तो एक ज्ञायक स्वरूप हूँ, ध्रुव हूँ, शुद्ध हूँ ऐसा जब अनुभव में आया तब ज्ञान धारा को कोई रोक नहीं सकता।

सम्यग्दृष्टि को तो बाहर के विकल्पों में आना रूचता ही नहीं। ज्ञानी की ऐसी भावना होती है कि शुद्ध स्वभाव में ही लीन रहूँ मुझे बाहर आना ही न पड़े।

सद्गुरू कहते हैं कि ज्ञायक ध्रुव शुद्ध तत्व उसका ज्ञान कर, उसकी प्रतीति कर, उसमें रमण कर यही मुक्ति सुख मुक्ति का मार्ग है, पर की ओर से दृष्टि हटाकर निज की ओर देखें इसी में अपना भला है।

प्रश्न - जब सद्गुरू की वाणी, शुद्धात्मा की चर्चा सुनते हैं तब अपूर्व आनन्द आता है, लगता है ऐसी दशा में डूबे रहें, पर यह स्थिति रहती क्यों नहीं है ?

समाधान - शुद्धात्मा की चर्चा सुनने में आनन्द आता है, यह अच्छी होनहार का प्रतीक है। ऐसी दशा में रहते क्यों नहीं हैं ? यह पात्रता और पुरूषार्थ की बात है। जिस भूमिका में बैठे हैं उसी अनुसार सब होगा यही धर्म का मर्म है और निश्चय व्यवहार की संधि है। धर्म की चर्चा, जिनवाणी सुनना अच्छा लगता है यह बड़े सौभाग्य की बात है।

आत्मार्थी को सम्यग्दर्शन के पूर्व स्वभाव समझने का इतना तीव्र रस होता है कि श्री गुरू की वाणी सुनते ही उसका ग्रहण होकर आत्मा में उतर जाता है। आत्मा में परिणमित हो जाता है। जिस प्रकार कोरे घड़े पर पानी की बूंद गिरते ही वह उसे चूस लेता है अथवा गरम लोहे पर पानी की बूंद गिरते ही वह उसे सोख लेता है। उसी प्रकार संसार दुःख से संतप्त आत्मार्थी जीव को श्री गुरू का शाश्वत शांति का उपदेश मिलते ही वह उसे चूस लेता है अर्थात् उसे तुरन्त अपने आत्मा में परिणमित कर लेता है। शुद्धात्मा निज शुद्ध स्वभाव की बात सुनते ही रोम-रोम में उत्साह जाग्रत होता है और वीर्य का (आत्मबल) वेग स्वभाव की ओर ढल जाता है।

ऐसी दशा ही आत्मा की सच्ची लगन कही जाती है। जिसे आत्मा का हित करना हो उसे सत्संग स्वाध्याय करके आत्म स्वभाव का सच्चा निर्णय

करना चाहिए पश्चात् उसमें लीन हो तो आत्मा के अपूर्व आनन्द का अनुभव हो। इसके लिए पुरूषार्थ करके विकल्प तोड़कर आत्मा में लीन होना उससे अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा यही सम्यग्दर्शन है।

यह मनुष्य भव प्राप्त करके यदि आत्मा में भव के अंत की झंकार जाग्रत नहीं हुई तो जीवन किस काम का ?

जिसने जीवन में भव से छूटने का उपाय नहीं किया उसके और कीड़े – कौओं के जीवन में क्या अन्तर है ? एक बार तो ज्ञान स्वभाव का ऐसा दृढ़ निर्णय हो जाना चाहिए कि बस मैं आत्मा–शुद्धात्मा–परमात्मा हूँ फिर पुरूषार्थ स्वोन्मुख ही ढलता है। सारा जगत भले ही बदल जाये किन्तु स्वयं ज्ञान स्वभाव शुद्धात्म तत्व का जो निर्णय किया वह नहीं बदलता, उस निर्णय मे शंका नहीं होती ऐसे निशंक निर्णय के बिना पुरूषार्थ स्वोन्मुख ढलता ही नहीं है। ऐसी ही वस्तु की स्थिति है।

एक समय का भूला हुआ भगवान दूसरे समय भूल का नाश कर भगवान बन सकता है। कल का लकड़हारा आज भगवान बन गया ऐसे कई उदाहरण सामने हैं।

किसी भी पर द्रव्य में शक्ति नहीं है कि जीव को संसार मे भटकाये, जीव स्वयं अपनी ही भूल से भटकता है, तब कर्म निमित्त होते हैं व स्वयं अपनी ही समझ से मुक्ति पाता है। स्वयं की बात है, स्वयं देखे जाने और उस तरफ का पुरूषार्थ करे तो सब कुछ सहज में हो सकता है। भाई ! व्यर्थ कोलाहल करने से क्या प्रयोजन है ? पांच इन्द्रियों के विषयों को देखना बन्द करके अन्दर देखो तो अन्दर एक चैतन्य धारा बह रही है। उसका शरीर वाणी और पुण्य–पाप के परिणाम के साथ कोई संबन्ध नहीं है।

जिसको यथार्थ द्रव्य दृष्टि प्रगट हुई, वह शुद्ध द्रव्य के अवलम्बन द्वारा अन्तर स्वरूप स्थिरता में वृद्धि करता जाता है परन्तु जब तक अपूर्ण दशा है, पुरूषार्थ मन्द है, पूर्ण रूप से शुद्ध स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता। तब तक वह शुभ परिणाम में संयुक्त होता है परन्तु वह उन्हें आदरणीय नहीं मानता है, उनकी स्वभाव में नास्ति है ; अतएव दृष्टि उनका निषेध करती है। ज्ञानी को हर समय यही भावना वर्तती है कि इसी क्षण पूर्ण वीतरागी हुआ जाता हो तो मुझे यह शुभ परिणाम भी नहीं चाहिए परन्तु उसे अपूर्ण दशा वश शुभ

भाव आये बिना नहीं रहते । अत: स्वरूप में स्थित रहने के लिए निर्मोही, निस्पृह, आकिंचन, वीतरागी होना आवश्यक है तभी उस दशा में रह सकते हैं।

प्रश्न – यह सब तो त्यागी साधु संयमी होने पर ही संभव है यहाँ घर परिवार संसार में रहते तो यह नहीं हो सकता है ?

समाधान – नहीं, यह पहले घर परिवार संसार में रहते हुये इसी दशा में साधना पड़ता है। जिसकी घर माहिं न बनी वह वन माहिं क्या करेगा ? धर्म का मार्ग घर से ही शुरू होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को ही होता है । अनादि से सभी जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं जब भेदज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान हुआ तब सम्यग्चारित्र होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है, यही धर्म का सनातन मार्ग है । जिसकी दृष्टि पलट जाती है उसकी बुद्धि सुलट जाती है। उसके विवेक का जागरण हो जाता है और वह स्वत: ही धर्म के मार्ग पर चलने लगता है। उसे पाप – विषय – कषायों से स्वत: अरूचि विरक्ति होने लगती है । उसके जीवन में व्रत, नियम , संयम, त्याग, होने लगता है और इसी क्रम से साधु पद से सिद्ध पद होता है। सद्गुरू श्री तारण स्वामी ने इसीलिए चौथी गाथा में नर और छठी गाथा में दो बार नर की बात कही। धर्म का मार्ग चर्चा करने, बातें मारने से नहीं चलता, वह तो स्वयं जीवन में आचरण रूप होता है, इसके लिए पहले सुनें समझें, वस्तु स्वरूप तत्व का निर्णय करें, भेदज्ञान पूर्वक सम्यग्दृष्टि बने । सत्समागम द्वारा आत्मा को पहिचान कर आत्मानुभव करना यही प्रथम कर्तव्य है, वही पुरुषार्थी नर है ।

आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है कि कैसे ही कर्मोदय आने पर सम्यग्दृष्टि विचलित नहीं होता, तीनों काल व तीनों लोक की प्रतिकूलताओं के ढेर एक साथ आ जायें तो भी ज्ञाता रूप से रह कर उन सभी को सहन करने की शक्ति आत्मा के ज्ञायक स्वभाव की एक समय की पर्याय में विद्यमान है ।

जिसने आत्मा को शरीरादि व रागादि से भिन्न जाना है, उसे यह कर्मों के उदय संयोगादि जरा भी प्रभावित नहीं कर सकते, चैतन्य अपनी ज्ञातृधारा से जरा भी विचलित नहीं होता।

जो जीव पाप कषायों में तो उत्साह पूर्वक अपना समय और धन-खर्च करते हैं और धर्म कार्यों में फुरसत नहीं है। जिन्हें मन्दिर जाने स्वाध्याय सत्संग करने का समय नहीं है। धर्म कार्यों में कृपणता करते हैं उन्हें धर्म के प्रति सच्चा प्रेम नहीं है। धर्म के प्रेमी ग्रहस्थ को संसार की अपेक्षा धर्म कार्यों में विशेष उत्साह वर्तता है।

ज्ञानी को भगवान आत्मा आनन्द स्वरूप और राग आकुलता स्वरूप ऐसे दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं। त्रिकाली नित्यानन्द चैतन्य प्रभु ऊपर दृष्टि प्रसरने पर साथ में जो ज्ञान होता है, वह चैतन्य व राग को अत्यन्त भिन्न जानता है। जिसकी तत्व की दृष्टि हुई है उसी को सम्यग्ज्ञान होता है। जिसको दृष्टि प्राप्त नहीं है उसमें, चैतन्य व राग को भिन्न जानने की क्षमता नहीं होती। दृष्टि का विषय तो द्रव्य स्वभाव है, उसमें तो अशुद्धता की उत्पत्ति ही नहीं है। समकिती को किसी एक भी अपेक्षा से अनन्त संसार का कारण रूप मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय का बंध नहीं होता परन्तु इस पर से कोई यह मान लेवे कि उसे तनिक भी विभाव व बंध ही नहीं होता तो वह एकान्त है, मिथ्यात्व है। समकिती को अन्तर शुद्ध स्वरूप की दृष्टि और स्वानुभव होने पर भी अभी आसक्ति शेष है जो उसे दुःख रूप लगती है। रूचि और दृष्टि की अपेक्षा से भगवान आत्मा तो अमृत स्वरूप आनन्द का सागर है, जिसका स्वाद समकिती को आता है। उसकी तुलना में शुभ या अशुभ दोनों राग दुःख मय लगते हैं, वे विष और काले नाग तुल्य प्रतीत होते हैं।

ज्ञानी तत्व ज्ञान होने के पश्चात् स्वयं की पात्रता, पुरूषार्थ, शक्ति एवं बाहर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर शरीर संहनन, कर्मों के उदय, स्थिति, अनुभाग को जानकर ही प्रतिमा, श्रावक के व्रत या मुनिव्रत लेता है। देखा देखी कोई व्रत नियम नही लेता, यह सभी दशाऐं सहज होती हैं।

धर्मात्मा को अपना रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही परम प्रिय है। संसार सम्बंध अन्य कुछ प्रिय नहीं है।

कोई जीव नग्न दिगम्बर मुनि हो गया हो, वस्त्र का एक धागा भी उसके पास न हो परन्तु पर वस्तु मुझे लाभकारी है ऐसा अभिप्राय हो तब तक उसके

अभिप्राय में से एक भी वस्तु छूटी नहीं है।

भाई ! यह धर्म का मार्ग बड़ा अपूर्व और सूक्ष्म है। इसे यथार्थ समझने पर यह दशा सहज बनती है।

भरत चक्रवर्ती, रामचन्द्र जी, पांडव वगैरह धर्मात्मा संसार में थे परन्तु उन्हें निरपेक्ष निज आत्म तत्व का भान था। धर्मात्मा यह भली भांति समझते हैं कि अन्य को सुखी-दु:खी करना, मारना - जिलाना वह आत्मा के अधिकार में नहीं है, तिस पर भी अस्थिरता शेष है। जिसके कारण लड़ाई में जुड़ने वगैरह के पाप भाव और अन्य को सुखी करने, जिलाने व भक्ति वगैरह के पुण्य भाव आते हैं। वे जानते हैं कि यह भाव पुरूषार्थ की शिथिलता वश आते हैं पर उन्हें ऐसी भावना का बल निरन्तर वर्तता है कि मैं स्वरूप लीनता का पुरूषार्थ करके अवशिष्ट राग को टाल कर मोक्ष पर्याय प्रगट करूँगा।

भरत चक्रवर्ती और बाहुबली दोनों भाइयों के बीच युद्ध हुआ, सामान्य व्यक्ति को ऐसा लगे कि दोनों भाई व दोनों सम्यग्ज्ञानी और तद्भव मोक्षगामी फिर यह क्या ? परन्तु लड़ते वक्त भी उन्हें यह भान है कि मैं इन सबसे भिन्न हूँ। वे युद्ध के ज्ञाता हैं और जो क्रोध होता है, उस क्रोध के ज्ञाता हैं। उन्हें निज शुद्ध पवित्र आनन्द घन स्वभाव का भान वर्तता है, परन्तु अस्थिरता है जिससे लड़ाई में खड़े हैं। भरत चक्रवर्ती जीत न सके तो अन्त में उन्होंने बाहुबली जी के ऊपर चक्र चला दिया ऐसे में बाहुबली जी को वैराग्य आया कि धिक्कार है इस राज्य को. . . .

अरे ! इस जीवन में राज्य के लिये यह क्या ? वस्तुत: ज्ञानी पुण्य से भी प्रसन्न नहीं होते और पुण्य के फल से भी प्रसन्न नहीं होते। बाहुबली जी विचारते हैं कि मैं चिदानन्द चैतन्य मय आत्मा पर से भिन्न हूँ। इसे यह योग्य नहीं यह शोभा नहीं देता, धिक्कार है इस राज्य को....

ऐसे वैराग्य स्फुरित होने से उन्होंने मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली, अपने को भी यह संसार असार लगे, आत्मा की महिमा आये तो मुक्ति का मार्ग सहज बनता है। मुनिराज को चलते फिरते, खाते पीते निज स्वरूप का भान वर्तता है। यह अतीन्द्रिय आनन्द अमृत रस का वेदन करते हैं। मुनिदशा कैसी होती है, इसका विचार तो करो, छठे सातवें गुणस्थान में झूलते ये मुनिराज

स्वरूप में गुप्त हो गये होते हैं। प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिंग है और देह की नग्न दशा, वस्त्र पात्र रहित निर्ग्रंथदशा मुनि का द्रव्यलिंग है। ऐसा अपना भाव भी जगे और इस मुक्ति मार्ग पर चलें इसी में इस मनुष्य भव की सार्थकता है। पर पहले मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा रत्नत्रय मयी अनन्त चतुष्टय का धारी हूँ ऐसा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्चारित्र धारण करना ही श्रेयस्कर है।

प्रश्न – मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा रत्नत्रय मयी अनन्त चतुष्टय का धारी हूँ यह बात कैसे मान लें उसके लिये प्रमाण क्या है ?

इसके प्रमाण में आगे सद्‌गुरू सातवीं गाथा कहते हैं–

गाथा – ७

श्री केवलं न्यान विलोकि तत्वं, सुद्धं प्रकासं सुद्धात्म तत्वं।
संमिक्त न्यानं चरनंत सुष्यं, तत्वार्थ सार्धं त्वं दर्सनेत्वं ॥

शब्दार्थ - (श्री केवलं न्यान) श्री केवली परमात्मा ने ज्ञान में (विलोकि तत्वं) इस तत्व को देखा है (सुद्धं प्रकासं) शुद्ध प्रकाश मयी मात्र ज्योति स्वरूप (सुद्धात्म तत्वं) सुद्धात्म तत्व है (संमिक्त न्यानं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, (चर) सम्यग्चारित्र मयी (नंत सुष्यं) अनन्त सुख स्वभावी है। (तत्वार्थ सार्धं) इस प्रयोजन भूत तत्व की श्रद्धा करो (त्वं दर्शनेत्वं) और तुम भी हमेशा देखो।

विशेषार्थ- श्री केवलज्ञानी परमात्मा (महावीर स्वामी) ने अपने केवल ज्ञान में प्रत्यक्ष आत्म तत्व को देखा है कि शुद्धात्म तत्व शुद्ध प्रकाश मयी अर्थात् ज्ञान मात्र चैतन्य ज्योति स्वरूप है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र मयी, अनन्त चतुष्टय का धारी है। हे भव्यात्मन ! ऐसे इष्ट और प्रयोजनीय निज शुद्धात्मा का श्रद्धान कर तुम भी हमेशा उसे देखो।

मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा रत्नत्रयमयी अनन्त चतुष्टय का धारी हूँ यह बात कैसे मान लें इसके लिए प्रमाण क्या है ?

इसके लिये सद्गुरू तारण स्वामी कहते हैं कि यह बात मैं ही नहीं क
रहा, यह तो केवलज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा भगवान महावीर स्वामी ने अप
ज्ञान में प्रत्यक्ष देखा है। अनुभव प्रमाण कहा है कि आत्मा तो शुद्धं प्रका
शुद्धात्मतत्व ही है। यह अपने स्वभाव रत्नत्रयमयी (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञा
सम्यग्चारित्र) अनन्त सुख स्वभावी, अनन्त चतुष्टय धारी है। इसमें यह रागा
कर्म मल हैं ही नहीं, ऐसे प्रयोजन भूत शुद्धात्म तत्व का श्रद्धान करो और तु
भी देखो अर्थात् ऐसी अनुभूति करो। द्रव्य दृष्टि या शुद्ध निश्चय नय से स
ही आत्मायें एक समान शुद्ध-बुद्ध परमात्मा एवं ज्ञानानन्द मय हैं कोई भे
नहीं है। केवलज्ञानी ने जैसा अपना शुद्धात्म तत्व प्रत्यक्ष देखा है औ
सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र मयी, अपने अनन्त सुख स्वरूप अनन
चतुष्टय को प्रगट कर लिया है, वैसे ही प्रत्येक जीव द्रव्य का स्वभाव सत् है
सदा रहने वाला है।

''सत् द्रव्य लक्षणं।''उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्।''(तत्वार्थ सूत्र

हर एक द्रव्य अपने सर्व सामान्य तथा विशेष गुणों को अपने भीत
सदा बनाये रहता है। उनमें एक भी गुण कम या अधिक नहीं होता इसीलि
द्रव्य ध्रौव्य होता है। हर एक गुण परिणमन शील है, कूटस्थ नहीं है। य
कूटस्थ हो तो कार्य-क्रिया न हो सके। गुणों के परिणमन को पर्याय कहते
एक गुण में एक-एक समय होने वाली अनन्त पर्यायें होती हैं। पर्यायें स
नाशवान होती हैं। जब एक पर्याय होती है तब पूर्व पर्याय का नाश हो जात
है। पर्यायों की अपेक्षा हर समय द्रव्य उत्पाद, व्यय स्वरूप है।

हर एक जीव में अपने सर्व गुणों की शुद्ध या अशुद्ध परिणमन की शत्ति
है। प्रत्येक जीव में स्वभाव विभाव रूप शक्ति है। जिसके कारण यह ती
प्रकार का कहा जाता है- (१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा।

(१) बहिरात्मा - जिस जीव ने अपने चेतना स्वरूप को नहीं जान
है। यह अचेतन शरीरादि ही मैं हूँ ऐसा मानता है, वह बहिरात्मा है।

(२) अन्तरात्मा - जिसने भेद ज्ञान के द्वारा शरीरादि से भिन्न अप
सत्स्वरूप को जान लिया वह अन्तरात्मा है।

(३) परमात्मा - जो अपने पूर्ण शुद्ध स्वभाव में स्थित-पूर्ण शु

मुक्त हो गया वह परमात्मा है।

इसी बात को निम्न आचार्यों ने कहा है, योगसार में योगिन्दु देव कहते हैं-

तिपयारो अप्पा मुणहि, परू अंतरू बहिरप्पु।
पर झायहि अंतर सहिउ, बाहिरू चयहि णिभंतु ॥६॥

आत्मा के तीन प्रकार जानो परमात्मा, अन्तरात्मा, बहिरात्मा भ्रांति या शंका रहित होकर बहिरात्मपना छोड़ दे, अन्तरात्मा होकर परमात्मा का ध्यान कर।

पूज्यपाद स्वामी ने समाधि शतक में कहा है -

बहिरन्त : परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं, मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ॥४॥

सर्व ही प्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा तीन प्रकार पना है उनमें से बहिरात्म पना छोड़े, अन्तरात्मा के उपाय से परमात्म पने को सिद्ध करे।

योगिन्द्राचार्य परमात्म प्रकाश में कहते हैं-

अप्पा तिविहु मुणेवि बहु, मूढउ भेल्लहि भाउ।
मुणि सण्णाणे णाणमऊ, जो परमप्प सहाउ ॥२॥

आत्मा को तीन प्रकार का कहा है- बहिरात्म स्वरूप भाव को शीघ्र ही छोड़े और जो परमात्मा का स्वभाव है, उसे स्वसंवेदन ज्ञान से अन्तरात्मा हुआ जान वह स्वभाव केवलज्ञान से परिपूर्ण है।

श्री तारण तरण मंडलाचार्य, श्री श्रावकाचार में कहते हैं-

आत्मा त्रिविधि प्रोक्तं च, परू अंतरू बहिरप्पयं।
परिणामं जं च तिस्टंते, तस्यास्ति गुन संजुतं ॥४७॥

आत्मा तीन प्रकार का कहा गया है- परमात्मा,अन्तरात्मा, बहिरात्मा जो जीव जैसे परिणामों में ठहरता है वह उन गुणों से संयुक्त है अर्थात् वैसा कहा जाता है।

(१) अब बहिरात्मा कौन है, कैसा होता है ? इसे कहते हैं-

मिच्छादंसण मोहियउ परू अप्पा ण मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिण भणिउ पुण संसारू भमेइ ॥७॥ योगसार॥

मिथ्यादर्शन से मोही जीव परमात्मा को नहीं जानता है वही बहिरात्मा है वह बारम्बार संसार में भ्रमण करता है ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।

श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासन में कहते हैं-(श्लोक १४ से १६)

बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव ममकार व अहंकार के दोषों से लिप्त रहता है। शरीर, धन, परिवार, देश, ग्रामादि, पदार्थ जो संयोग में अपने आत्मा से जुड़े हैं व जिनका संयोग कर्म के उदय से हुआ है उनको अपना मानना ममकार है। जैसे यह शरीर मेरा है। जो कर्म के उदय से होने वाले रागादि भाव निश्चय से आत्मा से भिन्न हैं। उन रूप ही अपने को रागी द्वेषीआदि मानना, अहंकार है। जैसे - मैं राजा हूँ, यह प्राणी इन्द्रिय से पदार्थों को जान कर उसमें मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है तब कर्मों को बांध लेता है। इस तरह यह बहिरात्मा-मोह की सेना में प्राप्त हो, संसार में रूलता है।

श्री तारण स्वामी जी, श्री तारण तरण श्रावकाचार में कहते हैं-

बहिरप्पा पुद्गलं दिस्टा, रचनं अनन्त भावना।
परपंचं जेन तिस्टंते, बहिरप्पा संसार स्थितं ॥५०॥
बहिरप्पा परपंच अर्थं च, तिक्तते जे विचषना।
अप्पा परमप्पयं तुल्यं, देव देवं नमस्कृतं ॥५१॥

बहिरात्मा, पुद्गल शरीरादि को ही देखता है और उनकी रचना की अनन्त भावनायें करता है। जो हमेशा प्रपंचों में ही लगा रहता है वह बहिरात्मा संसार में ही स्थित रहता है।

बहिरात्मा अपने स्वरूप को नहीं जानता है कि मैं आत्मा स्वयं परमात्मा के समान हूँ, देवों के देव द्वारा वंदनीय हूँ ऐसे अपने विलक्षण स्वरूप को छोड़कर प्रपंचों अर्थात् शरीरादि संयोग को प्रयोजनीय मानता है।

(२) अन्तरात्मा का स्वरूप-

जो परियाणइ अप्प परू, जो पर भाव चएइ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहि, सो संसार मुएइ॥ गाथा ८ योगसार॥

जो कोई आत्मा और पर को अर्थात् आपसे भिन्न शरीरादि पदार्थों को भले प्रकार पहिचानता है तथा जो अपने आत्मा के स्वभाव को छोड़कर अन्य सब भावों को त्याग देता है, वही पंडित भेदज्ञानी अंतरात्मा है वह अपने आप

का अनुभव करता है। वही संसार से छूट जाता है।

देह विभिण्णउ णाण मउ, जो परमप्पु णिएई।

परम समाहि परिट्ठियउ, पंडिउ सो जि हवेई ॥१४गा.परमात्म प्रकाश॥

जो कोई अपनी देह से भिन्न अपने आत्मा को ज्ञान मई परमात्मा रूप में देखता है। वह परम समाधि में स्थित होकर ध्यान करता है वही पंडित अंतरात्मा है।

विन्यानं जेवि जानंते, अप्पा पर परषये।

परिचये अप्प सद्भावं, अंतर आत्मा परषये ॥ ४९ गा. तारण तरण श्रा.॥

जो जीव भेद विज्ञान के द्वारा आत्मा और पर को भिन्न जानते हैं। अपने आत्म स्वभाव की अनुभूति हो गई वही अन्तरात्मा जानो।

(३) परमात्मा का स्वरूप

णिम्मलु णिक्कलु सुद्ध जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु।

सो परमप्पा जिण भणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥ गा. ९ योगसार॥

जो कर्म मल व रागादि मल रहित है। जो निष्कल अर्थात् शरीर रहित है जो शुद्ध व अभेद एक है। जो जिन है, विष्णु है, बुद्ध है, शिव है, परमशांत वीतराग है, वही परमात्मा है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। इस बात को शंका रहित जानो।

परमात्म प्रकाश में कहा है (गाथा १५-१७-२३)

जिसने सर्व कर्मों को दूर करके व सर्व देहादि पर द्रव्यों का संयोग हटाकर अपने ज्ञानमय आत्मा को पाया है। वही परमात्मा है उसे शुद्ध मन से जान।

वह परमात्मा नित्य है। निरंजन, वीतराग है, ज्ञानमय है, परमानंद स्वभाव का धारी है, वही शिव है, शांत है। अपने शुद्ध स्वभाव को पहिचानों जिसको वेदों के द्वारा, शास्त्रों के द्वारा, इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जा सकता मात्र निर्मल ध्यान में वह झलकता है। वही अनादि, अनंत, अविनाशी, शुद्ध आत्मा परमात्मा है।

समन्तभद्राचार्य स्वयं भू स्तोत्र में कहते हैं- (श्लोक ५७-११५)

परमात्मा वीतराग है वह हमारी पूजा से प्रसन्न नहीं होते, परमात्मा बैर रहित हैं, हमारी निंदा से अप्रसन्न नहीं होते तथापि उनके पवित्र गुणों का

स्मरण मन को पाप के मैल से साफ कर देता है।

अनुपम योगाभ्यास से जिसने आठ कर्म के कठिन कलंक को जला डाला है व जो मोक्ष के अतीन्द्रिय सुख को भोगने वाला है वही परमात्मा है।

आत्मा परमात्म तुल्यं च, विकल्प चित न क्रीयते।
सुद्धभाव स्थिरी भूतं, आत्मनं परमात्मनं ॥

(गा. ४८ तारण तरण श्रावकाचार)

जिस समय चित्त कोई विकल्प न करता हो अर्थात् निर्विकल्प दशा हो उस समय आत्मा परमात्मा के बराबर है और जब आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में स्थित हो जाये ४८ मिनिट लीन रहे, वही आत्मा परमात्मा है।

मैं वह हूं जो है भगवान, जो मैं हूं वह है भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहां राग वितान ॥

"एकं जिनं स्वरूपं।" एक जिन को स्वरूप सोई-२४ जिन को, सोई ७२ जिन को, सोई १४९ चौबीसी को और सो ही प्रत्येक जीव को जामें कोई भेद नाहीं। (महावीर वाणी)

स्वामी देहालय सोई सिद्धाले, भेउ न रहे।
जन जाके अन्मोय, सो न्यानी मुक्ति लहे ॥

(श्री तारण स्वामी ममल पाहुड)

जो आत्मा इस शरीर में है, वैसा ही आत्मा सिद्धालय में है। इनके स्वरूप में कोई भेद नहीं है, जो जीव इस बात को स्वीकार करते हैं, वह ज्ञानी मुक्ति प्राप्त करेंगे।

जो निगोद में सोई मुझमें सो ही मोक्ष मंझार।
निश्चय भेद कछु भी नांही, भेद गिने संसार ॥

इस प्रकार भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट यह वस्तु स्वरूप निज आत्मा का स्वरूप है, इसको स्वीकार करने वाला ही सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी है वही वर्तमान में भी मुक्ति सुख भोगता है क्योंकि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि का भाव मोक्ष हो जाता है, द्रव्य मोक्ष अपने समय पर सब कर्मादि संयोग छूटने पर होता है।

समयसार कलश में श्री अमृत चन्द्राचार्य कहते हैं- (श्लोक ३७)

वर्णादि व रागादि सर्वभाव इस आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं इसीलिए जो कोई निश्चय तत्त्व की दृष्टि से अपने भीतर देखता है उसे ये सब रागादि भाव नहीं दिखते, केवल एक परमात्मा ही दिखता है।

समयसार कलश-श्लोक २३९ में कहा है-

आत्मा का स्वरूप सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मयी एक रूप है यही एक मोक्ष का मार्ग है। मोक्ष के अर्थी को उचित है कि इसी एक स्वानुभव रूप मोक्षमार्ग का सेवन करे।

आत्मा ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश है (योगसार टीका ब्र. शीतलप्रसाद)

सो सिउ संकरू विण्हु सो, सो रूद्दवि सो बुद्धु।

सो जिणु ईसरू बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्धु ॥१०५ योगसार॥

आत्मा ही शिव है, शंकर है, विष्णु है, वही रूद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, ईश्वर है, वही ब्रह्मा है, वही अनंत है, वही सिद्ध है।

समाधि शतक में कहा है (श्लोक ६)

परमात्मा कर्म मल रहित निर्मल है, एक है, केवल है, वही सिद्ध है, सर्व अन्य द्रव्यों की व अन्य आत्माओं की सत्ता से निराला विविक्त है, वही अनंत वीर्यवान होने से प्रभु है, वही सदा अविनाशी है, वही परमपद में रहने से परमेष्ठी है, वही परमात्मा है, वही सर्व इन्द्रियों से पूज्य ईश्वर है, वही रागादि विजयी जिन भगवान है।

परमात्मा देव अपने देह में भी है (योगसार दोहा १०६)

एकहि लक्खण लक्खियउ जो परू णिक्कलु देउ।

देहहं मज्झहिं सो वसई ताणु ण विज्जई भेउ ॥१०६योगसार॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणों से लक्षित जो परमात्मा निरंजन देव है तथा जो अपने शरीर के भीतर बसने वाला आत्मा है, इन दोनों के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। अपने शरीर में या प्राणी मात्र के शरीर में आत्मा द्रव्य रूप से शरीर भर में व्यापक तिष्ठा हुआ है, इस आत्म द्रव्य का लक्षण सिद्ध के समान है।

व्यवहार दृष्टि से या कर्म बंध की दृष्टि से सिद्धात्मा में और संसारी आत्मा में स्वरूप की प्रगटता व अप्रगटता के कारण भेद है।

समभाव ही मोक्ष का उपाय है समभाव के लिए साधक को व्यवहार दृष्टि से भेद जानते हुए भी निश्चय दृष्टि से अपने आत्म स्वरूप को व सर्व संसारी आत्माओं का स्वरूप समान देखना चाहिए तथा अपना आत्मा व सर्व संसारी आत्मायें, एक समान शुद्ध निरंजन, निर्विकारी, पूर्ण ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनंद मय अमूर्तिक असंख्यात प्रदेशी ज्ञानाकार दीख पड़ेंगे तब सिद्धों में व संसारी आत्माओं में कोई भेद नहीं दिखाई देगा।

सम भाव लाने के लिए साधक को निश्चय नय से देखकर राग द्वेष को दूर कर देना चाहिए, केवल अपने ही आत्मा को शुद्ध देखना चाहिए उसे परमेश्वर मानना चाहिए।

स्वयं ही निरंजन हूँ परमात्मा हूँ ऐसा भाव लाकर उसी में उपयोग को स्थिर करना चाहिए इससे स्वानुभव हो जायेगा, मोक्षमार्ग प्रगट हो जायेगा वीतराग भाव ही परमानंद देने वाला है व कर्म निर्जरा का कारण है।

जो अपने शुद्ध स्वरूप के अनुभव से छूटकर पर भावों में अपने पने की बुद्धि करता है, उन्हें अच्छा बुरा मानता है, वह अवश्य कर्म बंध करता है परन्तु जो परपर्याय, रागादि भावों से हटकर, छूटकर अपने ही शुद्ध स्वरूप की साधना करता है, वही ज्ञानी कर्मो से मुक्त होता है।

अज्ञानी बहिरात्मा इस जगत के दिखने वाले भ्रम को सत्य मानता है और जगत के प्राणियों को स्त्री-पुरूष-नपुंसक रूप में देखता है परन्तु ज्ञानी इस जगत का निश्चय से एक समान जीव अजीव का भेद जानकर निश्चय ज्ञाता है, उसे सर्व जीव एक समान स्वभाव से शुद्ध दिखते हैं तथा यह सब जगत जड़ अचेतन, पुद्गल परमाणुओं का पिंड दिखता है जो क्षण भंगुर नाशवान परिणमन शील असत्य है।

आत्मा का दर्शन ही सिद्ध होने का उपाय है (योगसार १०७ गा.)

जे सिद्धा जे सिज्झहिहिं जे सिज्झहिं जिणु उत्तु।

अप्पा दंसणि ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु॥ (योगसार १०७)

श्री जिनेन्द्र ने कहा है जो सिद्ध हो चुके हैं, जो सिद्ध होंगे, जो सिद्ध हो रहे हैं यह सब प्रगट पने आत्मा के दर्शन का ही महत्व है। इस बात को संदेह

रहित जानो। जो अनन्त सिद्ध परमात्मा हुए हैं वह सब अपने शुद्ध स्वरूप की गुणमाला को ग्रहण करके सिद्ध मुक्त हुए हैं। जो कोई भी भव्यात्मा अपने शुद्ध स्वरूप की अनुभूति कर शुद्ध सम्यग्दृष्टि होंगे, वे सब भी मुक्त सिद्ध परमात्मा होंगे।

इस तरह जो जीव मन, वचन, काय की क्रिया से हटकर और अपने उपयोग को पांचों इन्द्रियों के विषयों से तथा मन के विकल्पों से हटाकर अपने ही आत्मा में तन्मय करता है, आत्मस्थ हो जाता है इस दशा को आत्मा का दर्शन, सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस स्थिति में रहने का पुरूषार्थ ज्ञान ध्यान पूर्वक वीतरागता की ओर बढना है। जिससे कर्मों का बंध छूटता है। कर्म क्षय होते हैं, आत्मा के गुणों का विकास होता है। धीरे-धीरे आत्मा के भाव शुद्ध होते-होते परम वीतराग हो जाता है। तब केवल ज्ञानी, अरहंत व सिद्ध कहलाता है।

प्रश्न- बहिरात्मा से अन्तरात्मा या परमात्मा होने का सरल सहज उपाय क्या है ?

समाधान- सद्गुरू के सत्संग द्वारा या जिनवाणी के स्वाध्याय श्रवण मनन के द्वारा आत्मा का स्वरूप ठीक-ठीक जानना चाहिए। भेदज्ञान तत्व निर्णय का निरंतर अभ्यास करना चाहिए, वस्तु स्वरूप समझने के लिए बुद्धिपूर्वक हमेशा प्रयास रत रहना चाहिए तथा ध्यान सामायिक का अभ्यास करना चाहिए। संसार के दु:खों से वैराग्यवान होकर जो मोक्ष की भावना से धर्म की ओर बढ़ता है। सत्य धर्म के स्वरूप को समझने का प्रयास करता है। सच्चे देव, गुरू, धर्म का श्रद्धान करता है। वह सम्यग्दर्शन होने पर बहिरात्मा से अंतरात्मा हो जाते हैं। अब सम्यग्दर्शन कब और किसे होता है ? तो यह जीव की पात्रता पकने होनहार काललब्धि आने पर अपने आप सहज में हो जाता है। सम्यग्दर्शन सहज-साध्य है, प्रयत्न साध्य नहीं है। संज्ञी पंचेन्द्रिय छहों पर्याप्ति वाले चारों गति में (नरक, तिर्यंच, देव, मनुष्य) कभी भी किसी को हो सकता है। सप्त प्रकृतियों (तीन मिथ्यात्व, चार अनंतानुबंधी कषाय) का क्षय, उपशम, क्षयोपशम होने पर काललब्धि आने पर सहज हो जाता है।

लब्धि पांच होती हैं- १. क्षयोपशम लब्धि २. विशुद्धि लब्धि ३. देशना

लब्धि ४. प्रायोग्य लब्धि ५. करण लब्धि। जिसके तीन भेद हैं- १. अध:करण २. अपूर्व करण ३. अनिवृत्तिकरण के अन्त समय अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर काललब्धि आती है और जीव को शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति-सम्यग्दर्शन हो जाता है।

तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। तन्निसर्गादधिगमाद्वा। (तत्वार्थ सूत्र)

प्रयोजन भूत जीवादि सात तत्वों का श्रद्धान, सम्यग्दर्शन है यह सम्यग्दर्शन अपने आप या सद्गुरू के निमित्त से होता है।

आत्मानुभवन, सम्यग्दर्शन ही एक मात्र साधन है जो बहिरात्मा से अंतरात्मा व परमात्मा बनाता है। सिद्ध पद न तो किसी की पूजा भक्ति से मिल सकता है, न बाहरी जप, तप, चारित्र से मिल सकता है। वह तो केवल अपने ही आत्मा के यथार्थ अनुभव से ही प्राप्त होता है।

इस प्रकार भेदज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन होने पर बहिरात्मा से अन्तरात्मा हो जाता है तब अन्तरात्मा अपने स्वरूप की साधना करता है, वह जानता है कि आत्मा पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्रादि शुद्ध गुणों का सागर है। परम निराकुल है। परम वीतराग है। आठों द्रव्य कर्म, रागादि भाव कर्म तथा शरीरादि नो कर्म से भिन्न है। शुद्ध चैतन्य ज्योतिर्मय है। पर भावों का न तो कर्ता है न पर भावों का भोक्ता है। वह सदा स्वभाव के रमण में रहने वाली स्वानुभूति मात्र है। इस तरह अपनी आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्रतीति करके साधक इसी ज्ञान का मनन करता है।

यद्यपि अभी अव्रती ग्रहस्थ दशा में कर्म सहित अशुद्ध है तथापि भेद ज्ञान के द्वारा अपने को निरंजन अविकार शुद्ध ध्रुव तत्व सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा मानकर बार-बार विचार करता है। इस आत्म मनन के प्रताप से समय-समय अनन्तगुणी बढ़ती हुई विशुद्धता से आगे बढ़ता जाता है इससे प्रति समय असंख्यात कर्मों की निर्जरा क्षय होते जाते हैं।

चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में आत्मा का अनुभव प्रारंभ हो जाता है। यह दूज के चन्द्रमा के समान होता है। इसी आत्मानुभवन के सतत् अभ्यास से पांचवें गुणस्थान के योग्य आत्मानुभव निर्मल हो जाता है। इस तरह गुणस्थानों के प्रति जैसे-जैसे बढ़ता है, आत्मानुभव की शुद्धता व स्थिरता

अधिक-अधिक होती जाती है। आत्मानुभव-निर्विकल्प, दशा को ही धर्म कहते हैं। इसी की बढ़ती हुई शुद्ध दशा जिसमें कषाय कर्मादि क्षय होते जाते हैं, उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं। इसी से चार घातिया कर्म क्षय होते हैं। तब आत्मा अरिहंत परमात्मा हो जाता है। शेष चार अघातिया कर्मो के दूर होने पर वही सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों ही काल में बहिरात्मा से अन्तरात्मा व परमात्मा सिद्ध होने का एक ही मार्ग है। अपनी आत्मा का जो यथार्थ निर्णय करेगा, वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र की एकता रूप मोक्षमार्ग का साधन करेगा, यह मोक्षमार्ग वर्तमान जीवन में भी साधक को आनंददाता है व भविष्य में अनन्त सुख सिद्ध पद का कारण है।

जिज्ञासु मुमुक्षुजीव को उचित है कि वह व्यवहार धर्म के बाहरी अवलम्बन से निश्चय धर्म का आत्मानुभव का अभ्यास करे यही बहिरात्मा से अन्तरात्मा व परमात्मा होने की विधि है।

देव जिनेन्द्र साधु गुरू करूणा धर्म राग व्योहार मना।
निहचै देव धरम गुरू आतम द्यानत गहि मन वच तना॥

इसी बात को समयसार कलश में कहा है - (कलश १९१)

जो कोई अशुद्धता के करने वाले सर्व ही पर द्रव्य का राग स्वयं त्याग कर व सर्व पर भाव में रति रूप अपराध से मुक्त होकर अपने ही आत्मीक शुद्ध द्रव्य में रति-प्रीति आसक्ति व एकाग्रता करता है, वह अपने उछलते हुए आत्मा के प्रकाश में रहकर कर्म बंध का क्षय करके चैतन्य रूपी अमृत से पूर्ण व शुद्ध होकर मोक्ष सिद्ध पद को पाता है।

अब तो जिनेन्द्र परमात्मा, भगवान महावीर की वाणी को प्रमाण कर अपने शुद्ध स्वरूप को देखो।

प्रश्न- सामने तो यह रागादि का उदय और पुण्य-पाप रूप परिणमन दिखाई दे रहा है इसे छोड़कर रत्नत्रय मयी अनंत चतुष्टय का धारी आत्मा शुद्धात्मा को कहां से कैसे देखें ?

समाधान- जो दिखाई दे रहा है बस यह देखना ही बंद कर दो तो जो देखने जानने वाला है वह स्वयं ही शुद्ध है, ध्रुव है, शुद्धात्मा है क्योंकि जो

दिखाई दे रहा है वह स्वयं तो नहीं है, जो दिखाई दे रहा है वह पर ही है। तभी तो दिखाई दे रहा है जो क्षणभंगुर नाशवान है। अपना स्वभाव होवे तो वह चलता-फिरता, आता-जाता कभी कुछ कभी कैसा ही क्यों दिखाई देवे ? स्वभाव तो एक रूप एक सा त्रिकाल होता है, जैसे-मिर्च में चरपराहट, अग्नि में उष्णता है तो चरपराहटपना या उष्णता अलग होवे या अन्य रूप हो जावे तथा मिर्च या अग्नि अलग हो जाये ऐसा कभी हो ही नहीं सकता, होता ही नहीं है वह तो तादात्म्य ही होता है। इसी प्रकार अपना स्वभाव तो ध्रुव शुद्ध चैतन्य मयी ज्ञाता दृष्टा ज्ञानानंद मयी ही है।

जो दिखाई दे रहा है वह सब क्षणभंगुर-नाशवान मूर्तिक पुद्‌गल परमाणुओं का परिणमन है, अब इन्हें जो अपना स्वरूप या मेरे हैं, मैं कर्ता हूं ऐसा मान रहा है, वह अज्ञानी बहिरात्मा है उसने अभी अपने स्वरूप को देखा जाना ही नहीं है।

रागादयो पुन्य पापाय दूरं, ममात्मा सुभावं धुव सुद्ध दिस्टं।

यही तो जोर लगाना है यही तो सत् पुरूषार्थ है कि इनके बीच रहते, इनके होते इनसे भिन्न अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखो।

प्रश्न- आप यहां कह रहे हैं कि मेरा आत्मा स्वभाव से ध्रुव है शुद्ध है ऐसा देखो तो यह भी अलग या पर है वरना देखने का प्रयोजन क्या है ?

समाधान- ऐसा देखने का प्रयोजन, ऐसा अनुभव करो स्वीकार करो, ऐसा श्रद्धान करो कि मैं तो ध्रुव तत्व सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा ही हूँ यहां अलग या पर कुछ है ही नहीं, मात्र कथन, व्यवहार अपेक्षा भेद करके कहने में आता है क्योंकि आत्मा तो एक अखंड, अभेद, अविनाशी चेतन ही है पर अनादि से जो चेतन आत्मा का देखने जानने रूप उपयोग, यह पर को ही देख जान रहा है और यही मैं हूं यह मेरे हैं ऐसा मान रहा है, यही अज्ञान मिथ्यात्व है और इसी का नाम बहिरात्मपना है। अब यह जो देखने जानने रूप उपयोग चेतन शक्ति अपने स्वसम्मुख हो जाये, अपने शुद्धात्म तत्व को ही देखने जानने लगे यही अनुभूति स्वीकारता श्रद्धान कहने में आता है।

प्रश्न- जब मैं स्वयं सिद्ध स्वरूपी ध्रुव तत्व शुद्धात्मा हूं ज्ञान मात्र

चेतन सत्ता हूं फिर इसमें देखने अनुभव करने स्वीकार करने की क्या बात है। जब ऐसा हूं तो हूं फिर यह इतनी उठा-पटक झंझट खेंचातानी क्यों हो रही है ?

समाधान- सिद्ध स्वरूपी ध्रुव तत्व तो हूं पर ऐसा अपने को जाना-माना कहां है, स्वीकार श्रद्धान ही कहां किया है? अभी तो नर-नारकादि पर्याय-नाम रूप आदि संयोग ही मैं हूं यही सब मेरे हैं ऐसी मान्यता माने बैठे हैं ; इसीलिए तो अनादि से यह चार गति चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगाना पड़ रहे हैं, जहां यह मान लें वहां तो सब काम ही बन जाये अपने ध्रुव धाम सिद्ध सिद्धालय में परमानंदमय परमात्मा हो जायें।

प्रश्न- इसमें क्या है लो अभी मान लिया कि मैं सिद्ध स्वरूपी ध्रुव तत्व शुद्धात्मा हूं तो क्या इतने से सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मुक्त परमात्मा हो गये ?

समाधान- हां, यदि वास्तव में मान लिया तो हो गये क्या, हो ही भाई इतना सारा ही तो खेल है। एक तरफ अनन्त चतुष्टय मयी ध्रुव तत्व, शुद्ध मुक्त स्वभाव है और एक तरफ अनन्त संसार है, दृष्टि का सारा खेल है, सम्यग्दृष्टि मुक्त परमात्मा ही है और मिथ्यादृष्टि अनन्त संसारी है, होने की बात ही नहीं है।

जिस धर्मात्मा ने निज शुद्धात्म द्रव्य को स्वीकार करके परिणति (दृष्टि) को स्व अभिमुख किया वह प्रतिक्षण मुक्ति की ओर गतिशील है, वह मुक्ति पुरी का प्रवासी हो गया। मेरे अनन्त संसार भव भ्रमण होगा ऐसी शंका उसे उत्पन्न ही नहीं होती। उसे स्वभाव के बल से ऐसी निशंकता है कि मेरी मुक्त दशा, अब अल्पकाल में ही प्रगट हो जायेगी।

धर्मी को पर सम्मुख उपयोग के समय भी सम्यग्दर्शन ज्ञान पूर्वक जितना वीतराग भाव हुआ है उतना धर्म तो सतत् वर्तता है।

जब जीव आनन्द स्वभाव का अनुभव करने में समर्थ हुआ तब से समस्त जगत का साक्षी हो गया है। पर वस्तु मेरी है, ऐसी दृष्टि छूटने से वह उसका साक्षी हुआ है।

देह की स्थिति तो मर्यादित है ही, कर्म की स्थिति भी मर्यादित है

और विकार की स्थिति भी मर्यादित है। स्वयं की पर्याय में जो का होता है वह भी मर्यादित है। अन्तर में स्वभाव में मर्यादा नहीं होती धर्मी की दृष्टि अमर्यादित स्वभाव पर होती है।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानकर उसकी प्रतीति व स्वरूपाचरण कर ऐसा अनुभव करता है कि मैं तो चैतन्य मात्र ज्ञ ज्योति हूँ, शुद्ध बुद्ध चैतन्य घन स्वयं ज्योति सुखधाम हूँ, मैं चैतन ज्ञान, दर्शन मात्र ज्योति हूँ, मैं रागादि रूप बिलकुल नहीं हूँ।

त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा को स्वीकार करना ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञा है। इसकी अनुभूति में लीन रहना ही सम्यग्चारित्र है। इससे ही केवलज्ञ होता है। धर्मी की दृष्टि शुद्ध आत्म तत्व से खिसकती नहीं है। यदि दृष्टि व से हटकर वर्तमान पर्याय में रूके, एक समय की पर्याय में उलझे, पर्याय रूचि हो जाये तो वह मिथ्यादृष्टि हो जाये।

सम्यग्दृष्टि को पांच इन्द्रियों के विषय के अशुभ राग होते हैं परन्तु उनमें से हटकर ध्यान में बैठते ही निर्विकल्प रूप से जम जाते हैं। इस कारण उनका जोर पूर्ण वस्तु पर होना है। बीच में विकल्प आते हैं, पर वे उनसे भिन्न-भिन्न ही हैं।

ज्ञानी को निरंतर अपनी सुरत रहती है। मैं तो यह शुद्ध-ध्रुव टंकोत्कि अप्पा ज्ञान मात्र हूँ यह कुछ मैं नहीं हूं, यह कोई भी ज्ञेय मेरे नहीं है।

(तारण तरण उपदेश शुद्ध सा

जिसे यथार्थ द्रव्य दृष्टि प्रगट हुई है उसे दृष्टि के जोर में केवलज्ञ ज्ञायक ही भाषित होता है। शरीरादिक कुछ भी भाषित नहीं होता, भेदज्ञ की परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्न में आत्मा शरीर से भिन्न भाि होता है। दिन में तो भिन्न भाषित होता ही है पर रात्रि में निद्रा में भी आत निराला ही भाषित होता है। सम्यग्दृष्टि के भूमिकानुसार बाह्य वर्तन होत परन्तु बाह्य वर्तन में भी किन्हीं भी संयोगों में उसकी ज्ञान वैराग्य शक्ति क अनोखी प्रकार की होती है। बाह्य में वह चाहे जैसे प्रसंगों-संयोगों में जु हुआ दिखे तो भी ज्ञायक तो ज्ञायक रूप ही से भाषित होता है। सम्प ब्रह्माण्ड बदल जाये तो भी स्वरूप अनुभव के विषय में निशंकता रहती

ज्ञायक ऊपर चढ़कर ऊर्ध्वरूप विराजित रहता है अन्य सब राग विकल्प नीचे रह जाते हैं। चाहे जैसे शुभ भाव आयें तीर्थंकर गोत्र के शुभ भाव भी आवें तो भी वे नीचे ही रहते हैं। द्रव्य दृष्टिवंत को ऐसा अद्भुत जोर रहा करता है।

(परमागमसार)

अगर ऐसी स्थिति हो जाती है तो समझ लो, मान लिया फिर तो किसी से कोई संबंध ही मतलब ही नहीं रहा।

प्रश्न– यह बात सुनते हैं तो समझ में तो आती है। सत्य है ध्रुव है प्रमाण है ऐसा लगता भी है पर यह बात चित्त में नहीं बैठती, ऐसी दशा में रहते नहीं है इसका क्या कारण है ऐसी दशा में रहने का उपाय क्या है ?

समाधान– बात है जरा सी, अफसाना बड़ा है।
चित्त में नहीं बैठती, तो भूत खड़ा है ॥

चित्त में बैठने, धारणा का तो सब खेल है जब तक स्थित प्रज्ञ, स्वरूप में स्थित, ज्ञान भाव में स्वस्थ्य होश में नहीं रहते तब तक यह स्थिति नहीं बन सकती है। स्थित प्रज्ञ होने के निम्न उपाय हैं–

१. जिस काल में साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओं का अच्छी तरह त्याग कर देता है और अपने आप से अपने आप में ही संतुष्ट है, उस काल में वह स्थित प्रज्ञ कहलाता है।

२. दु:खों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता और सुखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में स्पृहा नहीं होती तथा जो राग, भय और क्रोध से सर्वथा रहित हो गया है, वह मननशील मनुष्य स्थित प्रज्ञ है।

३. सब जगह आसक्ति रहित हुआ, जो मनुष्य उस-उस, शुभ-अशुभ कर्मोदय को प्राप्त हुआ, न तो अभिनन्दित (प्रसन्न) होता है और न द्वेष करता है, वह स्थित प्रज्ञ है।

४. पांचों इन्द्रियों को विषयों से हटा लेने के बाद भी जब तक रस बुद्धि नहीं छूटती तब तक प्रयत्न करने पर भी बुद्धिमान मनुष्य की भी पृथमन शील इन्द्रियां उसके मन को बल पूर्वक हर लेती हैं। रस बुद्धि का मतलब है "ऐसा भोग करता या ऐसा भोग करूंगा।" मन की अतृप्त वासना, अच्छे-अच्छे

साधुओं को भ्रष्ट कर देती है। अत: साधक को कभी भी इन्द्रियां वश में हैं ऐसा विश्वास और अभिमान नहीं करना चाहिए। जो सम्पूर्ण इन्द्रियों और मन को वश में करके तीव्र वैराग्यवान होता हुआ आत्म स्वरूप की साधना आराधना में ही रत रहता है वह स्थित प्रज्ञ होता है।

५. मानव शरीर मिलना, साधना में रूचि होना, साधना में लगना और साधना की सिद्धि होना महान सौभाग्य से होता है।

६. आत्म स्वरूप का चिन्तन-मनन-आराधन न करके विषयों का चिंतन करने वाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति पैदा हो जाती है, आसक्ति से कामना पैदा होती है, कामना से क्रोध पैदा होता है, क्रोध होने पर सम्मोह (मूढ़ भाव) हो जाता है, सम्मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है, स्मृति भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश हो जाता है, बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य का पतन हो जाता है।

७. वशीभूत अंत:करण वाला साधक राग द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ अंत:करण की प्रसन्नता को प्राप्त हो जाता है। प्रसन्नता प्राप्त होने पर साधक के सम्पूर्ण दु:खों का नाश हो जाता है और ऐसे प्रसन्न चित्त वाले साधक की बुद्धि निस्संदेह बहुत जल्दी अपने आत्म स्वरूप में स्थिर हो जाती है।

८. जिसके मन और इन्द्रियां वश में संयमित नहीं होती हैं उसकी निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती, उसमें कर्तव्य परायणता की भावना नहीं होती, उसका पुरूषार्थ काम नहीं करता, उसको शांति नहीं मिलती, फिर शांति रहित मनुष्य को सुख कैसे मिल सकता है।

जो अशांत अनिश्चय बुद्धि वाला है उसके हृदय में हरदम-हलचल मची रहती है। बाहर से कितने ही अनुकूल भोग आदि मिल जायें तो भी वह अशांत उद्विग्न दु:खी ही रहता है, सुखी नहीं हो सकता।

सब अपनी ही बात है, देखलो, समझ लो, यह तो मौका मिला है, दांव लगा है इसका सदुउपयोग हो जाये तो बेड़ा पार है।

प्रश्न- चाहते तो बहुत हैं पर यह सब हो नहीं रहा इसे क्या करें ?

समाधान- धर्म की चर्चा, मन बहलाना, पतंग उड़ाना नहीं है, यह तो

मुकाबले में कबड्डी का खेल है, शूरवीरों का मार्ग है जिसमें दम हो वह सामने आये। धर्म का निर्णय निज शुद्धात्मानुभूति निश्चय सम्यग्दर्शन तो शुद्ध निश्चय नय से ही होता है, पर उस मार्ग पर चलने, धर्म साधना करने, उस दशा में रहने के लिए निश्चय-व्यवहार का समन्वय आवश्यक है क्योंकि अभी वर्तमान में कर्म सापेक्ष कर्म संयोगी दशा में बैठे हैं तथा एक दूसरे का निमित्त नैमित्तिक संबंध भी है, जिन सिद्धांत को समझने और जैन दर्शन के मार्ग पर चलने के लिए चार अनुयोग-प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, पांच समवाय (स्वभाव, निमित्त, पुरूषार्थ, काललब्धि और नियति) तथा निश्चय और व्यवहार का ज्ञान आवश्यक है, तभी सही धर्म मार्ग पर चल सकते हो। इन सबका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और इन सबको जानने वाला ही ज्ञानी है। तारण पंथ तो यह है - निज हेर बैठो नहीं तो रार करो। संसार तो आवहिं जाहिं हम तो संसार छुड़ावहिं। (छद्मस्थवाणी)

साधना के प्रारंभ में साधक के अंत:करण में द्वंद रहता है। सत्संग, स्वाध्याय, विचार आदि करने से वह परमात्म प्राप्ति को अपना ध्येय तो मान लेता है पर उसके मन और शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्ति भोग भोगने और माया के संग्रह करने में रहती है इसलिए साधक कभी परमात्म तत्व को प्राप्त करना चाहता है और कभी भोग एवं संग्रह में उलझ जाता है, इस प्रकार साधक के अंत:करण में द्वंद (भोग भोगूं या साधना करूं) चलता रहता है। इस द्वंद पर ही अज्ञान और अहं टिका है स्वयं का दृढ़ संकल्प और अटल निर्णय ही निर्द्वंद बनाता है।

हमें सांसारिक भोग और माया के संग्रह में लगना ही नहीं है; प्रत्युत एक मात्र परमात्म तत्व को ही प्राप्त करना है, हमेशा-निराकुल आनंद में रहना है ऐसा दृढ़ निश्चय होने तथा वैराग्य की तीव्रता होने पर फिर द्वंद नहीं रहता और सहज ही अपने ममल स्वभाव की रूचि जग जाती है।

संसग्ग कम्म षिपनं, सारं तिलोय न्यान विन्यानं।
रूचियं ममल सुभावं, संसारे तरन्ति मुक्ति गमनंच ॥ ममल पाहुड़॥

सारभूत भेदज्ञान के द्वारा अपने ममल स्वभाव की रूचि करे तो यह सारे संयोग और कर्मक्षय हो जायेंगे संसार सागर से तरकर मुक्ति को प्राप्त होंगे।

हम स्वयं अपने आप को देखें कि हमारे अंदर में क्या है ? सद्गुरू बता रहे हैं, केवलज्ञानी परमात्मा भगवान महावीर ने प्रत्यक्ष अनुभव प्रमाण बताया है, सामने सब प्रत्यक्ष दिख रहा है, अब तो स्वयं की बात है।

प्रश्न- बराबर यह बात सत्य है ध्रुव है प्रमाण है अब इसके लिए सबसे पहले क्या करें ?

इसके समाधान में सद्गुरू श्री जिन तारण स्वामी आगे आठवीं गाथा कहते हैं-

गाथा - ८

संमिक्त सुद्धं हिदयं ममस्तं, तस्य गुनमाला गुथतस्य वीर्जं।
देवाधिदेवं गुरू ग्रंथ मुक्तं , धर्मं अहिंसा षिम उत्तमाध्यं ॥

शब्दार्थ- (संमिक्त सुद्धं) शुद्ध सम्यक्त्व से (हिदयं ममस्तं) मेरा हृदय-परिपूर्ण है (तस्य) उसके (गुनमाला) गुणों की माला (गुथतस्य) गूंथने का (वीर्जं) पुरूषार्थ करो (देवाधिदेवं) देवों के अधिपति देव अर्थात् सौ इन्द्रों द्वारा पूज्य परमात्मा (गुरू ग्रंथ मुक्तं) सारे बंधनों से मुक्त गुरू (धर्मं अहिंसा) अहिंसा धर्म वाला (षिम उत्तमाध्यं) उत्तम क्षमादि दस धर्म।

विशेषार्थ- शुद्ध सम्यक्त्व से मेरा हृदय परिपूर्ण है, हे आत्मन् ! निज स्वरूप की गुणमाला गूंथने का पुरूषार्थ करो। निज स्वभाव में रहो, यही सत्पुरूषार्थ है। निज शुद्धात्मा, देवों के देव-सौ इन्द्रों द्वारा पूज्य अरिहंत- सिद्ध परमात्मा के समान, सारे बंधनों से मुक्त निर्ग्रंथ वीतरागी सद्गुरू के समान गुणों वाला, उत्तम क्षमादि धर्म का धारी अहिंसा मयी वीतराग स्वरूप-परम शुद्ध स्वभाव वाला है, पुरूषार्थ पूर्वक निज आत्म द्रव्य के गुणों का विकास करो।

यहाँ इस प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है कि सबसे पहले क्या करें ?

तो सद्गुरू कहते हैं कि सबसे पहले सम्यक्त्व की शुद्धि करो अर्थात् मैं आत्मा शुद्धात्मा, परमात्मा हूँ, यह बात हृदय से स्वीकार हो गई इसको पक्का

करो क्योंकि यदि प्रारम्भ में ही परिपूर्ण शुद्धता का लक्ष्य, श्रद्धान न होवे तो मोक्षमार्ग की शुरूआत ही नहीं होती, मुमुक्षुता सम्यग्दृष्टी को ही होती है। जिज्ञासा सभी संसारी जीवों को हो सकती है इसलिए इस बात का पक्का निर्णय किये बगैर चाहे जैसे साधन से शुरूआत करने वाले का ध्येय अन्यथा होने से संयोग प्राप्ति का लक्ष्य हो जाता है अथवा प्रशस्त राग का लक्ष्य हो जाता है अथवा अल्प विकसित दशा का लक्ष्य रहता है। जो सब दर्शन मोह के बढ़ने के ही कारण होते हैं। लगन एवं लक्ष्य के अभाव में प्रमाद रहा करता है, जो आत्म-गुणों को दबा डालता है।

आत्म भावना, लगन, ध्येय, यदि स्वलक्षी होता है। तब स्वयं के दोष अपक्षपात रूप से दिखते हैं और उन्हें मिटाने का ध्यान रहा करता है। जो जीव शुभ राग का समर्थक है। जिसे शुभ राग पुण्यादि की महत्ता है। जिसे शुभ का आग्रह बन गया है अथवा जो शुभ में ही संतुष्ट हो गया है। वह मिथ्यात्व का पोषण करने वाला मिथ्यादृष्टि है परन्तु मोक्षमार्गी जीव तो पूर्ण शुद्धता के लक्ष्य से ही पुरूषार्थ करता है।

सम्यग्दृष्टि जीव (द्रव्य दृष्टि से) अपनी आत्मा को परिपूर्ण व शुद्ध मानता है तथा उसे ही सर्वस्व रूप से उपादेय जानता है, सम्यग्दृष्टि को अपने अनन्त चतुष्टय मण्डित शुद्धात्मा का जो अतीन्द्रिय सहज प्रत्यक्ष-स्वानुभव वर्तता है, वही भाव श्रुतज्ञान है उसने इसी अनुभव ज्ञान से पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान स्वरूप को पहिचाना है।

इस प्रकार जब अपना हृदय (अंत:करण) शुद्ध सम्यक्त्व से परिपूर्ण हो गया है तो अब अपने सत्स्वरूप के गुणों की माला गूंथो, उन गुणों को अपने में प्रगट करो संजोओ। देखो, तुम स्वयं देवाधिदेव परमात्मा हो, समस्त पाप परिग्रह, रागादि मलों से रहित अन्तरात्मा गुरू हो, अपना धर्म निज स्वभाव तो अहिंसामयी अर्थात् समस्त राग-द्वेषादि विकारों से रहित उत्तम क्षमादि लक्षणों वाला है अब ऐसे गुणों की माला गूंथो अर्थात् अपने स्वरूप में रहकर इन गुणों को प्रगट करो क्योंकि स्वभाव साधना से ही कर्म क्षय होते हैं, तुम्हें मुक्ति श्री का वरण करना, मुक्ति सुख पाना है। पूर्ण शुद्ध सिद्ध परमात्मा होना

है तो अपने सम्यक्त्व की शुद्धि करो कि हाँ मुझे भेदज्ञान पूर्वक शुद्धात्मानुभूति हो गई। रागादि से भिन्न चिदानन्द-स्वभाव का भान और अनुभवन हुआ वहाँ धर्मी को उसका निःसंदेह ज्ञान होता है कि मुझे आत्मा का कोई अपूर्व आनन्द का वेदन हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मा में से मिथ्यात्व का नाश हो गया।

शुद्ध चैतन्य ध्रुव स्वभाव के ध्यान से जिसे सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है, ऐसे जीव को ऐसी पर्याय रूप योग्यतायें होती हैं व उनका ज्ञान भी होता है। निर्विकारी आनन्द सहित जो ज्ञान होता है उसे सम्यग्दृष्टि का क्षयोपशम, ज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शन एवं आत्मानुभव की स्थिति रूप पर्याय में संपूर्ण आत्मा प्रगट नहीं होता परन्तु समस्त शक्तियां उस पर्याय में एक देश प्रगट होती हैं, सम्यग्दर्शन में पूर्ण परमात्मा प्रतीति में आ जाता है।

शुद्धात्मा का अनुभव होने के पश्चात् पाप, विषय, कषाय से विरक्ति, अरूचि रूप व्रत, तप, संयम नियम के भाव होने लगते हैं और धर्म के आश्रय रूप अहिंसा प्रगट होती है।

अहिंसा - हिंसा के सर्वथा अभाव रूप अहिंसा होती है। यही धर्म शुद्ध स्वभाव रूप है। हिंसा दो तरह की होती है- स्वहिंसा और परहिंसा।

स्वहिंसा - अपने में मोह, राग, द्वेषादि विकारी भाव होना, खेद खिन्न, दुःखी, चिन्तित, भयभीत, संकल्प, विकल्पों में रहना आदि स्वहिंसा है।

परहिंसा - किसी भी प्राणी को मारना, दुःख देना, उसके प्राणों का घात करना, दिल दुखाना आदि परहिंसा है।

अपना स्वभाव धर्म अहिंसामयी है, तो मोह, राग-द्वेष रहित अपने स्वभाव में रहना ही धर्म है और यही अहिंसा, अहिंसा परमोधर्मः है, इसी बात को पुरूषार्थ सिद्धि उपाय में अमृतचन्द्राचार्य जी कहते हैं कि रागादि भावों का प्रगट न होना यह अहिंसा है और उन्हीं रागादि भावों की उत्पत्ति होने से हिंसा होती है, ऐसा जैन सिद्धान्त का सार है। (पुरूषार्थ सिद्धि उपाय गाथा-४४)

इस प्रकार अहिंसा कहो या वीतरागता कहो जितनी इसकी वृद्धि होती

है उस स्थिति में रहने की पात्रता और पुरूषार्थ काम करता है, वैसा ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। अब उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य- यह धर्म के दश लक्षण हैं अर्थात् अपना स्वभाव ऐसा है परन्तु अनादि अज्ञानता के कारण विपरीत हो रहा है, इन गुणों को अपने में प्रगट करो।

(१) उत्तम क्षमा - इसकी पूर्णता तो निर्ग्रंथ वीतरागी साधु पद में है। प्रारम्भिक भूमिका में क्रोध नहीं करना, लड़ाई-झगड़ा, बैर-विरोध में नहीं पड़ना, किसी को बुरा नहीं मानना, यह क्षमा धर्म है।

(२) उत्तम मार्दव - अहंकार, मद-मान नहीं करना, किसी का बुरा नहीं मानना, अकड़-पकड़ नहीं होना, यह मार्दव धर्म है।

(३) उत्तम आर्जव - मायाचारी, छल, कपट, बेईमानी नहीं करना, किसी का बुरा नहीं सोचना, सरल, सहज, शान्त सम भाव में रहना आर्जव धर्म है।

(४) उत्तम सत्य - झूठ-अनैतिकता, गलत काम नहीं करना। अन्याय, अनीति, बेईमानी नहीं करना, किसी से बुरे कटुक, कठोर शब्द नहीं बोलना, हमेशा अपने सत्स्वरूप का स्मरण ध्यान रखना, यह सत्य धर्म है।

(५) उत्तम शौच - "लोभ पाप का बाप बरवाना", लोभ नहीं करना, किसी का बुरा अहित नहीं करना, तृष्णा-चाह का घट जाना, शुचिता, सरलता आ जाना, यह शौच धर्म है।

(६) उत्तम संयम - पाँच इन्द्रिय और मन का वश में होना, छह काय के प्राणियों की रक्षा करना, किसी की बुराई नहीं देखना, विवेक पूर्वक आचरण ही संयम धर्म है।

(७) उत्तम तप - व्रत, उपवास आदि करना, किसी की बुराई न करना, न सुनना, इच्छाओं का निरोध कर अपने आत्म स्वभाव में रहना, तप धर्म है।

(८) उत्तम त्याग - चार प्रकार का दान देना-(आहारदान, औषधिदान, ज्ञानदान, अभयदान) किसी से राग-द्वेष, बैर-विरोध न होना, अपनी आवश्यकताओं को कम करना, परिग्रह को छोड़ना, त्याग धर्म है।

(९) उत्तम आकिंचन्य - समस्त परिग्रह, मूर्च्छा भाव का छूटना, निस्पृह, निरहंकारी होना, मेरा कुछ भी नहीं है, कोई भी नहीं है, मैं एक अखंड अभेद आत्मा हूँ ऐसा बोध जाग्रत रहना, आकिंचन्य धर्म है।

(१०) उत्तम ब्रह्मचर्य - विकारी भावों को छोड़कर (शरीरादि का राग तोड़कर) माया अब्रह्म के अभाव रूप अपने ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहना, ब्रह्मचर्य धर्म है।

इस प्रकार चार कषाय, पांच-पाप, पांचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग कर मन की चंचलता का निषेध कर-शुभाचरण करते हुये, अपने स्वरूप में स्थित ज्ञान भाव में ज्ञायक रहने पर पूर्व कर्म बन्धोदय निर्जरित क्षय होते हैं। निज आत्म गुणों का विकास होता है। यही गुण माला को गूंथने प्रगट करने का उपाय है इसी से निर्ग्रंथ वीतरागता साधु पद प्रगट होता है, जो गुरू का स्वरूप है तथा अपने शुद्ध ममल स्वभाव में लीनता रूप पुरुषार्थ होने पर ४८ मिनिट में घातिया कर्मों का क्षय तथा अनन्त चतुष्टय व केवलज्ञान प्रगट होता है जो देवाधिदेव परमात्म पद है।

प्रश्न -"संमित्त शुद्धं ह्रदयं ममस्तं," शुद्ध सम्यक्त से मेरा ह्रदय परिपूर्ण है, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, ऐसा कहना तो गलत है। यह तो अहंकार का पोषक है तथा मैं सम्यग्दृष्टि हूँ ऐसा मानने में स्वच्छन्दता का भय है, ऐसे में क्या उपाय है ?

समाधान - हम सम्यग्दृष्टि हैं, हमें सम्यग्दर्शन हो गया, यह कहने की तो यहाँ बात ही नहीं है, पर हमें सम्यग्दर्शन हो गया, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ इसे न मानें तो गलत हो जायेगा क्योंकि यहाँ तो अनुभूति मय ज्ञान सहित ह्रदय से स्वीकारता की बात है। सम्यग्दर्शन का पर से कोई संबन्ध ही नहीं है पर अगर अपने को भी शंका, संशय, भ्रम रहेगा-तो सम्यग्दर्शन के अभाव रूप मुक्ति का पुरुषार्थ ही नहीं हो सकता।

यह पर को बताने या परं को देखने की बात ही नहीं है, न उसमें कोई लाभ है यह तो स्वयं की स्वयं में ही समझने की बात है क्योंकि इसका यथार्थ निर्णय हुये बगैर अपना आगे का मार्ग बनेगा ही नहीं। अहंकार और स्वच्छन्दीपना तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को ही होता है, सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को यह नहीं होते।

जिसके सच्ची श्रद्धा प्रगट होती है, उसका सम्पूर्ण अन्तरंग ही बदल जाता है, हृदय पलट जाता है, अन्तर में उलट-पुलट हो जाती है। अनादि अज्ञान, अंधकार टलता है। अन्तर की ज्योति जाग उठती है उसकी दशा की दिशा बदल जाती है जिसका अन्तर बदलता है उसे किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता, उसका अन्तर बेधड़क पुकारता हुआ साक्षी देता है कि अब हम प्रभु के मार्ग में आ गये हैं, सिद्ध का संदेशा आ चुका है, अब हम अल्पकाल में सिद्ध होकर संसार से छुटकारा पायेंगे, अब कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं है।

मैं ज्ञान स्वभावी सिद्ध के समान शुद्ध भगवान आत्मा हूँ, मेरे स्वभाव में संसार नहीं है अर्थात् किसी पर वस्तु, पर जीव से मेरा कोई सम्बंध नहीं है, ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव संसार के स्वरूप का विचार करते हैं उन्हें ही अपनी शक्ति को प्रगट करने का पुरूषार्थ होता है। जिसे संसार रहित स्वभाव की दृष्टि प्रगट नहीं हुई उसे संसार के स्वरूप का यथार्थ विचार नहीं होता।

ज्ञानी को अन्तर में स्वसंवेदन ज्ञान प्रस्फुटित हुआ, वहाँ स्वयं को उसका वेदन आया, पीछे कोई अन्य उसे जाने या न जाने उसकी कोई अपेक्षा नहीं है। जैसे – कोई सुगंधित फूल खिलता है उसकी सुगंध कोई अन्य लेता है या नहीं, उसकी अपेक्षा फूल को नहीं है। वह तो स्वयं-स्वयं में स्वयं से खिला है वैसे ही धर्मात्मा को स्वयं का आनन्दमय स्वसंवेदन प्रगट हुआ, वह कोई अन्य के प्रदर्शन हेतु नहीं है।

सम्यक्‌दृष्टि धर्मात्मा की दृष्टि अन्तर के ज्ञानानन्द स्वभाव ऊपर है, क्षणिक रागादि ऊपर नहीं है, उसकी दृष्टि में रागादि का अभाव होने से उसकी दृष्टि अपेक्षा संसार कहाँ रहा ?

राग रहित ज्ञानानन्द स्वभाव ऊपर दृष्टि होने से वह मुक्त ही है, उसकी दृष्टि में मुक्ति ही है। रागादि से भिन्न चिदानन्द स्वभाव का भान और अनुभव हुआ वहाँ धर्मी को उसका नि:संदेह ज्ञान होता है कि मुझे आत्मा का कोई अपूर्व आनन्द का वेदन हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मा में से मिथ्यात्व का नाश हो गया । मैं समकिती हूँ या मिथ्यादृष्टि, ऐसा संदेह जिसे है वह नियम से मिथ्यादृष्टि है।

अन्तर गर्भित अध्यात्म रूप क्रिया तो अन्तर दृष्टि से ही ग्राह्य है परन्तु अज्ञानी को ऐसी दृष्टि प्रगट नहीं होती अत: अध्यात्म की अन्तर क्रिया तो उसे दृष्टिगोचर नहीं होती और इसी कारण से अज्ञानी जीव मोक्षमार्ग को नहीं साध सकता अत: इस बात का निर्णय और अन्तरंग से स्वीकारता होने पर ही मुक्ति का मार्ग सधता है। जब तक सम्यग्दर्शन, निज शुद्धात्मानुभूति के सम्बंध में संशय, भ्रम, शंका रहती है वहाँ अपने आत्म स्वरूप और उसके गुणों का प्रगटपना होता ही नहीं है इसलिए सबसे पहले इस बात को अन्तर से स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है कि मैं शुद्धात्मा हूँ यह शरीरादि मैं नहीं हूँ, ऐसा अनुभूतियुत श्रद्धान ही मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है।

प्रश्न – जब शरीर मन–अन्त:करण आदि से आत्मा परे है आत्मानुभूति भिन्न है फिर हृदय से स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है?

समाधान – आत्मा शरीरादि अंत: करण से भिन्न है। इनका अनुभूति से कोई सम्बंध नहीं है परन्तु संयोग होने के कारण उसका प्रगटपना इन्हीं के माध्यम से होता है। जैसे शरीर की हलन–चलन, क्रिया, मन में चलने वाले भाव इन सबका जानने वाला ज्ञायक आत्मा है और इन सबका होना चेतन की सत्ता बताता है। जीव की स्थिति और पात्रता का बोध इन्हीं के माध्यम से होता है। आत्मा तो अरस अरूपी अस्पर्शी अव्यक्त है इन्हीं के द्वारा उसकी सत्ता और पात्रता का पता लगता है। अनादि से जीव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी होने के कारण इन शरीरादिक कर्मों के अनुसार पराधीन परिणमन कर रहा है। जब जीव जाग जाता है, सम्यग्दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति होती है और वह अंत:करण हृदय को पता न चले, ऐसा हो ही नहीं सकता। जैसे–अपने घर में

कोई काम हो और घर वालों को पता न चले, ऐसा नहीं हो सकता और फिर जैसा कार्य होता है उसी प्रकार उमंग-उत्साह पूर्वक उसमें लग जाते हैं। इसी प्रकार अपने घर में परमात्मा का जन्म हुआ और वह हृदय को पता न चले तो कैसे काम चलेगा ? इसकी स्वीकारता, उमंग-उत्साह पर ही आगे का मार्ग बनता है। अनुभूति का पता मन को होता है। क्या हुआ यह बुद्धि जानती है। धारणा चित्त में होती है। उत्साह-उमंग अहं में होता है और जब यह सब मिलकर इस बात को स्वीकार कर लेते हैं, वही सम्यग्दर्शन की शुद्धि कहलाती है। उपशम, वेदक, क्षायिक सम्यक्त्व भी इन्हीं के द्वारा पता लगता है। इसमें आत्मानुभूति सहित इनकी स्वीकारता ही सम्यग्दर्शन की शुद्धि या पक्की बात है और तभी नि:शंकितादि गुण प्रगट होते हैं।

जिसको अनुभूति हुई हो वह जीव अनुभव के बल से कौन सी बात सत्य है और जो बात अनुभव से नहीं मिलती वह असत्य है, ऐसा फौरन जान लेता है, इसलिए हृदय से स्वीकार होना ही सम्यग्दर्शन की प्रामाणिकता, शुद्धि है।

प्रश्न – जब आत्मा का रागादि भावों और शरीरादि से कोई सम्बन्ध नहीं है फिर यह पाप विषय-कषाय को छोड़ने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान – आत्मा का पर से कोई सम्बंध नहीं है और न आत्मा ग्रहण करता है न त्याग करता है, वह तो मात्र ज्ञायक स्वभावी है सिर्फ देखता जानता है, पर जब तक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध संयोग दशा में है तब तक इस रूप परिणमन होता है। सम्यग्दर्शन होने पर कोई पूर्ण वीतरागी नहीं हो जाता, सम्यग्दर्शन होने के बाद भी भूमिकानुसार राग तो आता ही है। आत्मा का स्वरूप परिपूर्ण है, स्वभाव से सिद्ध के समान ध्रुव तत्व है, पर अभी वर्तमान पर्याय तो अशुद्ध है, ज्ञानी को तो पर्याय का विवेक वर्तता है। पर्याय में अपने ही कारण से अशुद्धता है ऐसा न मानकर यों माने की अकेला आत्मा ही शुद्ध है तो वह निश्चयाभासी है।

निमित्त नैमित्तिक सम्बंध को जो नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा में भाव बंधन ही न हो तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानानन्द स्वभाव में स्थित होकर विकार का नाश किसलिए करते हैं ? अत: पर्याय में बंधन है।

निमित्त नैमित्तिक सम्बंध तो प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, यदि पर्याय में बंधन न हो तो मोक्षमार्गी उसके नाश का उद्यम क्यों करते हैं ?

सम्यक्दृष्टि निर्विकल्प अनुभव में निरन्तर ही रह सकते नहीं इसलिए उन्हें भी शास्त्राभ्यास, व्रत, नियम, संयम के भाव उठते हैं। ऐसे शुभ राग को निर्विकल्प अनुभव की अपेक्षा हेय कहा है, निर्विकल्प अनुभव में रहना तो सर्वोत्तम है परन्तु छद्मस्थ का उपयोग निचली दशा में आत्म स्वरूप में अधिक समय तक स्थिर नहीं रह पाता अत: ज्ञान की विशेष निर्मलता हेतु शास्त्राभ्यास में बुद्धि लगना योग्य है तथा चारित्र की शुद्धि निर्मलता हेतु व्रत-नियम-संयम-तप में लगना, पाप, विषय-कषायों से हटना बचना श्रेयस्कर है। यदि कोई शुभाचरण रूप प्रवृत्ति का विरोध करे और अशुभाचरण रूप प्रवृत्ति करे तो वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है।

आत्मा का स्वरूप परिपूर्ण है ऐसा अन्तर भान न हुआ हो और पुण्य छोड़कर पाप में प्रर्वतन करे तथा शास्त्र की धर्म की आड़ लेकर कहे कि मुझे भी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के समान बंध नहीं है तो निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी को तो पर्याय का विवेक वर्तता है।

वैसे किसी ने शास्त्राभ्यास किया हो या न किया हो पर यदि उसे जीव के भाव का भासन है तो वह सम्यग्दृष्टि है। पुण्य-पाप, विषय-कषाय, दु:खदायक हैं, अधर्म है। रागरहित परिणाम शान्तिदायक है, मैं शुद्ध-ज्ञायक हूँ तथा शरीरादि कर्म अजीव हैं जिसे इस प्रकार भाव भासन हो, वही सम्यग्दृष्टि है।

आत्मा में जो पंच महाव्रत, संयम, तप आदि के परिणाम होते हैं सो शुभराग हैं, आश्रव हैं, उससे भी पुण्यबंध होता है जो अधर्म है। ज्ञायक हूँ, शुद्ध, सिद्ध, ध्रुव हूँ, स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान पूर्वक, जितना वीतराग स्वरूप स्थिरता हुई, उतना संवर धर्म है। प्रतिज्ञा तो तत्व ज्ञान पूर्वक होना चाहिए, सम्यग्दर्शन होने के बाद व्रतादि के शुभ विकल्प आते हैं। आनन्द स्वभाव में लीन होऊँ, धर्मी की ऐसी भावना होती है, प्रतिज्ञा लिये बिना आसक्ति का

नाश नहीं होता पर प्रथम तो स्वभाव का भान होना चाहिए, तब ही द्रव्यसंयम सहित भाव संयम होता है।

जिनके अन्तर में भेदज्ञान रूपी कला जग जाती है, चैतन्य के आनन्द का वेदन हुआ है ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा सहज-वैरागी हैं। ऐसे ज्ञानी-विषय कषायों में मगन रहें, यह विपरीतता सम्भवित नहीं है, जिन जीवों को विषयों में पापों में सुख बुद्धि है, इष्ट बुद्धि है, वे ज्ञानी नहीं हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव आत्म ज्ञान पूर्वक आचरण पालते हैं, श्रावक को बारह व्रत का तथा मुनियों को मूलगुण के पालन का विकल्प आता है।

अज्ञानी जीव शास्त्रों का रहस्य नहीं समझता अत: उसका समस्त ज्ञान कुज्ञान है तथा सम्यग्दृष्टि जीव यदि पढ़ा लिखा भी न हो तो उसका ज्ञान सुज्ञान है, जिसकी दृष्टि सुलटी है, उसका सब कुछ सुलटा है व जिसकी दृष्टि उलटी है उसका सारा ज्ञान उल्टा है। मिथ्यादृष्टि नौ पूर्व व ग्यारह अंग का पाठी हो, तो भी उसका ज्ञान अज्ञान ही है।

असंयत, देशसंयत सम्यग्दृष्टि के पाप, विषय-कषाय की प्रवृत्ति तो है परन्तु उसकी श्रद्धा में कोई भी पाप-विषयादि करने का अभिप्राय नहीं रहता।

अभी जिसको अन्तर में आत्मभान ही न हो तथा तत्संबन्धी कुछ भी विवेक न हो, वैराग्य न हो और वह अपने को ज्ञानी माने तो वह स्वच्छन्द पोषण करता है। ज्ञान वैराग्य शक्ति बिना वह पापी ही है।

ज्ञानी की दृष्टि तो संसार से छूटने की है अत: वह राग रहित निवृत्त स्वभाव की मुख्य भावना व आदर में सावधानी से प्रवृत्त रहता है।

प्रश्न - जब आत्मा का स्वभाव एक है अभेद है, अखंड है, शाश्वत है, ध्रुव है फिर यह भेद करके दश धर्म का पालन करने इन गुणों को प्रगट करने की क्या बात है ?

समाधान - आत्मा द्रव्य स्वभाव से तत्व स्वरूप में तो एक अभेद है,

अखंड, शाश्वत ध्रुव है और यह श्रद्धा का विषय, शुद्ध निश्चय से है, ऐसे निज स्वरूप के अनुभूति युत सत्श्रद्धान का नाम ही सम्यग्दर्शन है।

जब यह अनुभूतियुत सत्श्रद्धान हो गया तो अब वर्तमान पर्याय तो अशुद्ध है। रागादि कर्म संयोग सहित है, इस बात का ज्ञान भी हुआ, अब पूर्व कर्म बन्धोदयजन्य जो संस्कार प्रवृत्ति चलती है, उनसे बचना-हटना, अपने स्वरूप का स्मरण ध्यान करना आवश्यक है क्योंकि अभी जिस भूमिका अव्रत दशा संसारी ग्रहस्थ दशा में रहने पर वैसे कर्मोदय संयोग निमित्त मिलते हैं और पाप के, विषयों के कषायों के भाव चलते हैं। अभी मोह, राग-द्वेष का सद्भाव है, तो इनसे बचने के लिए यह भेद करके धर्म की साधना करना पड़ती है, अपने आत्मगुणों को प्रगट करने का पुरूषार्थ करना पड़ता है। इसके लिए बार-बार अपने स्वरूप के स्मरण, भेदज्ञान, तत्वनिर्णय का अभ्यास आवश्यक है।

मोक्ष केवल एक अपने ही आत्मा की, पर के संयोग रहित शुद्ध अवस्था का नाम है। तब उसका उपाय भी निश्चय नय से भी पर्याय में एक यही है कि अपने शुद्धात्मा का अनुभव किया जावे तथा सिद्ध परमात्मा के समान ही अपने को माना जावे। जब ऐसा बार-बार अभ्यास और साधना की जावेगी, तब अनादि की मिथ्या वासना का अभाव होगा क्योंकि अनादि से यही मिथ्याबुद्धि थी कि मैं नर हूँ, नारकी हूँ, तिर्यंच हूँ, देव हूँ या मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, क्रोधी हूँ, मानी हूँ, मायावी हूँ, लोभी हूँ, कामी हूँ, रूपवान हूँ, बलवान हूँ, धनवान हूँ, निर्धन हूँ, रोगी हूँ, निरोगी हूँ, बालक, युवा, वृद्ध हूँ, मैं ही जन्मता-मरता हूँ, इसी को यह अज्ञानी अपनी ही मूल दशा मान लेता था तथा अपने को दीन-हीन, संसारी मान रहा था, श्री गुरू के उपदेश से या शास्त्र के ज्ञान से जब स्वयं ज्ञान नेत्र खुले, शुद्धात्म स्वरूप का जागरण हुआ और यह प्रतीति हुई कि मैं तो स्वयं भगवान आत्मा परमात्मा हूँ, मैं तो संसार के प्रपंचों से रहित हूँ, मैं कर्मों से अलिप्त हूँ, परम वीतरागी परमानन्द मयी हूँ। जो सत्ता शक्ति अनन्त गुण, अरिहन्त, सिद्ध परमात्मा में हैं, वही सब मेरे में हैं। अन्तर यही है कि उनके अनन्त चतुष्टय आदि केवलज्ञान प्रगट व्यक्त हो गया, मेरे अभी अप्रगट-अव्यक्त है। जिन्होंने अपने को शुद्ध समझकर पूर्ण वैरागी होकर

आत्मध्यान किया था वे ही अरिहन्त, सिद्ध परमात्मा हो गये, मुझे भी पूर्ण मुक्त सिद्ध, शुद्ध होना है तो जब तक कर्मों का संयोग नहीं छूटेगा तब तक भव भ्रमण नहीं हटेगा।

यदि मोक्ष चाहते हो तो रात-दिन निज शुद्धात्मा का मनन करो, जो शुद्ध, वीतराग, निरंजन कर्म रहित है, चेतना गुणधारी है, ज्ञान चेतनामय है जो स्वयं बुद्ध है, जो संसार विजयी जिनेन्द्र है, जो केवलज्ञान या पूर्ण निरावरण ज्ञान स्वभाव का धारी है, स्वरूप का मनन करते हुए, प्रयास करके, मन को बन्द करके, मौन में तिष्ठ कर अर्थात् अपना उपयोग, इधर से हटाकर, अपने ध्रुव स्वभाव के ज्ञान-श्रद्धान में, एकाग्र किया जावे, निज शुद्धात्मानुभूति की जावे। अभ्यास करने वाले को पहले बहुत अल्प समय की स्थिरता होती है, अभ्यास करते-करते शनैः शनैः स्थिरता बढ़ती जाती है। जिससे नवीन कर्मों का संवर एवं पूर्व कर्मों की निर्जरा होती है तथा आत्म गुणों का विकास होता है। यही उत्तमक्षमादि गुणों का प्रगट होना है और इससे ही क्रोधादि कषाय गलते-विलाते क्षय होते जाते हैं।

सम्यग्दृष्टि महात्मा, परम आनन्द व परम ज्ञान की विभूति से पूर्ण शिव पद को पाते हैं।

आचार्य श्री तारण स्वामी ने जंगल में रहकर आत्म स्वभाव का अमृत रस बरसाया है सद्गुरू तो धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने सत्य धर्म को जीवन्त रखने के लिए, कितने उपसर्ग सहन किए। परम सत्य स्वरूप श्री भगवान महावीर स्वामी की दिव्य देशना को अक्षुण्ण रूप से जीवन्त रखा, धर्म के नाम पर होने वाले बाह्य आडम्बर को सामने खोलकर रख दिया। गुरूदेव की वाणी में तो केवलज्ञान की झंकार गूंजती है, ऐसे महान अध्यात्मवाद के चौदह ग्रंथों की रचना कर बहुत जीवों पर महान उपकार किया है।

यह तो सत्य का शंखनाद है, इसकी दृष्टि होना और इस मार्ग पर चलना महान सौभाग्य की बात है। जो जीव इस सत्य धर्म को स्वीकार करेंगे वह अवश्य मुक्ति श्री का वरण करेंगे।

प्रश्न - सम्यग्दर्शन की शुद्धि इस बात की हृदय से स्वीकारता

करने के बाद तो फिर कुछ न होगा अब और कुछ तो न करना पड़ेगा ?

इसके समाधान में सद्गुरू आगे गाथा कहते हैं-

गाथा-९

तत्वार्थ सार्धं त्वं दर्सनेत्वं, मलं विमुक्तं संमिक्त सुद्धं ।
न्यानं गुनं चरनस्य सुद्धस्य वीर्जं, नमामि नित्वं सुद्धात्म तत्वं ।।

शब्दार्थ - (तत्वार्थ सार्धं) तत्वों का श्रद्धान करो (त्वं) तुम (दर्सनेत्वं) हमेशा देखो (मलं विमुक्तं) मलों से रहित अर्थात् रागादि पुण्य-पाप, कर्मों से रहित बिल्कुल मुक्त (संमिक्त सुद्धं) शुद्धात्म तत्व शुद्ध सम्यग्दर्शन है । (न्यानं गुनं) ज्ञानगुण को (चरनस्य) चारित्र को (सुद्धस्य) शुद्ध करने के लिये (वीर्जं) पुरूषार्थ करो (नमामि नित्वं) मैं हमेशा नमस्कार करता हूँ (सुद्धात्म तत्वं) शुद्धात्म तत्व को ।

विशेषार्थ - हे आत्मन् ! प्रयोजनीय निज शुद्धात्म तत्व का श्रद्धान कर तुम हमेशा निज स्वरूप का दर्शन करो जो शुद्ध सम्यग्दर्शन समस्त कर्म आदि मलों से रहित निर्मल निर्विकार है, अब ज्ञान गुण को और चारित्र गुण को शुद्ध करने का पुरूषार्थ करो, ऐसे महिमावान परम ब्रह्म परमात्म स्वरूप निज शुद्धात्म तत्व को मैं हमेशा नमस्कार करता हूँ ।

यहाँ इस प्रश्न का समाधान किया जा रहा है कि सम्यग्दर्शन की शुद्धि हृदय से स्वीकारता करने के बाद तो और कुछ न करना पड़ेगा ? इसके लिए सद्गुरू कह रहे हैं कि सम्यग्दर्शन की शुद्धि हो गई, हृदय से स्वीकार कर लिया तो अब निरन्तर हमेशा अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखो, जब सब कर्म मलादि से रहित निज शुद्धात्म तत्व है तो जोर लगाओ, सत् पुरूषार्थ करो, अपने ममल स्वभाव में स्थित रहो, इसी से एक मुहुर्त ४८ मिनिट में केवलज्ञान प्रगट होता है ।

यहाँ प्रश्न आता है कि हमने ऐसा अनुभूतियुत स्वीकार तो कर लिया,

र अभी कर्म सापेक्ष संयोगी दशा अशुद्ध पर्याय का परिणमन चल रहा है, इस
शा में अपने शुद्धात्म तत्व को हमेशा देखना, ममल स्वभाव में स्थित रहना
तो नहीं बनता यह कर्मोदय जन्य संकल्प, विकल्प चलते हैं, मोह,
राग-द्वेषादि भाव होते हैं ऐसे में क्या करें ?

तो सद्गुरू कहते हैं कि अब ज्ञान गुण की और चारित्र गुण की शुद्धि
करो क्योंकि शुद्ध सम्यक्त्व तो अपने में परिपूर्ण है, शुद्धात्मानुभूति तो पूर्ण
होती है पर ज्ञान और चारित्र में क्रमशः विकास होता है। सम्यग्दर्शन होने से
ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् कहे जाते हैं पर उनमें अपेक्षा होती है। अनुभूति
के काल में तीनों बराबर सही हैं पर अनुभूति से हटने के बाद ज्ञान और चारित्र
कर्मावृत हो जाते हैं। यह अपने में स्थित तो नहीं हो पाता परन्तु जब निर्णय
करता है उस समय भी आत्मा से आत्मा का निर्णय करता है, मन और राग की
गौणता करता है, आत्मा को अधिक करता है और राग को गौण करता है
अर्थात् अंशतः राग से मुक्त होकर स्वतः अधिक होकर आत्मा से आत्मा का
निर्णय करता है परन्तु जब स्वरूप में स्थित हो जाता है तब बुद्धि पूर्वक पर के
विकल्प छूट जाते हैं, बुद्धि पूर्वक मन का निमित्त छूट जाता है और चिदानन्द
चिद्रूप में उपयोग लीन होता है।

जब समस्त नय पक्षों के विकल्पों को पुरूषार्थ से रोक देने से
अखण्डित हुआ समस्त विकल्पों का व्यापार रूक गया और अपने
अखण्डित स्वरूप का अनुभव करता है वही समयसार है, वही सम्यग्दर्शन
और सम्यग्ज्ञान है।

पर से भिन्न आत्मा का यदि भान हो तो पर से पृथक् रहकर आत्मा की
जाग्रति रख सकता है, जिसे भिन्न चिदानन्द आत्मा का भान नहीं है वह
जीवित होते हुये भी मृतक के समान है। (श्री तारण तरण श्रावकाचार)

मैं चिदानन्द आत्मा ज्ञान स्वरूपी हूँ जिसे इसका भान है वह सम्यग्दर्शन,
सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

प्रथम आत्मा का यथार्थ निर्णय करके पश्चात् पर प्रसिद्धि का जो कारण
है ऐसी इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवर्तती बुद्धि उसे मर्यादा में लाता है पश्चात् उस

मतिज्ञान के व्यापार रूप बुद्धि को अर्थात् मतिज्ञान के व्यापार को आत्म सन्मुख करता है और अनेक प्रकार के नय पक्ष के अवलम्बन से अनेक प्रकार के विकल्पों से आकुलता उत्पन्न होती है ऐसी श्रुतज्ञान की बुद्धि को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान को भी आत्मसम्मुख करता है। इस प्रकार दोनों ज्ञान के व्यापार को आत्म संमुख करके अत्यन्त विकल्प रहित होता है, उसी समय आत्म स्वभाव निज रस से प्रगट होता है। आदि मध्य और अन्त रहित आत्मा का अनुभव करता है विकल्पों का एकत्व छूट जाने से केवल एक रूप सम्पूर्ण विश्व के ऊपर मानो तैरता हो, ऐसा आत्मा का अनुभव होता है।

विकल्प की ओर ज्ञान जुड़ता है तब अस्थिरता होती है।

जिसमें विकल्प प्रविष्ट नहीं होता, ऐसे विज्ञान घन आत्मा का अनुभव करना यही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूप समयसार है, यही भगवान के दर्शन हैं, यही ईश्वर के दर्शन हैं, यही परमात्मा के दर्शन है, इसी समय आत्मा के यथार्थ दर्शन होते हैं और यही यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान है।

जिस प्रकार पानी अपने समूह से च्युत हुआ, दूर गहन वन में बह रहा हो, उसे दूर से ही ढ़ाल वाले मार्ग द्वारा अपने समूह की ओर बल पूर्वक ढाला जाता है पश्चात् वह पानी-पानी को पानी के समूह की ओर खींचता हुआ, प्रवाह रूप होकर अपने समूह में आ मिलता है उसी प्रकार यह आत्मा अपने विज्ञान घन स्वभाव से च्युत होकर प्रचुर विकल्प जाल के गहन वन में दूर भ्रमण कर रहा है।

आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान आनन्द का कन्द है, विकल्प जाल आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा विज्ञान घन अरूपी-ज्ञान आनन्द का पिंड है, ऐसे स्वभाव से च्युत होकर भ्रांति में और राग द्वेष की वृत्तियों में भ्रमण करता है शरीर, इन्द्रियाँ, शुभाशुभ विकल्प, यह सब मैं ही हूँ इस प्रकार भ्राँति द्वारा विकल्प जाल के गहन वन में फिरता रहता है, प्रचुर विकल्प जाल में फंसा रहता है।

स्व-पर का यथार्थ निर्णय होने, वस्तु स्वरूप को जानने पर ज्ञान की शुद्धि होती है, विवेक से भेदज्ञान किया, अपने को पकड़ा परन्तु अभी स्थिरता

नहीं हुई, इसे अपनी ओर मोड़ने के लिये विवेक, बल और पुरूषार्थ से अपनी ओर मोड़ना पड़ेगा, इसके लिये ज्ञान की शुद्धि करना पड़ती है, तभी सब रागादि भावों से भिन्न, निरावरण चैतन्य ज्योति स्वरूप प्रगट होता है, जिसके प्रकाश में विकल्प जाल, अज्ञान अंधकार ठहरता ही नहीं है।

प्रश्न – ज्ञान की शुद्धि के लिये क्या करें ?

इसके समाधान में दसवीं गाथा कहते हैं–

गाथा-१०

जे सप्त तत्वं षट् दर्व जुक्तं, पदार्थ काया गुन चेतनेत्वं।
विस्वं प्रकासं तत्वानि वेदं, श्रुतं देवदेवं सुद्धात्म तत्वं ॥

शब्दार्थ - (जे) जो (सप्त तत्वं) सात तत्व (जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष)(षट् दर्व) छह द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) (जुक्तं) सहित है (पदार्थ) नौ पदार्थ (जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष) (काया) अस्तिकाय (गुन चेतनेत्वं) जो हमेशा चैतन्य गुण वाला है (विस्वं प्रकासं) विश्व को प्रकाशित करने वाला अर्थात् जिसके द्वारा विश्व जाना जा रहा है (तत्वानि वेदं) सब तत्वों को वेदन, जानने वाला (श्रुतं) शास्त्र आगम में कहा गया है (देवदेवं) देवों का देव परमात्मा (सुद्धात्म तत्वं) शुद्धात्म तत्व है।

विशेषार्थ - जीवादि सात तत्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य और पांच अस्तिकाय, इन सत्ताईस तत्वों में शुद्ध चैतन्य गुण युक्त ज्ञान स्वरूपी चिद् विलासी समस्त विश्व को प्रकाशित करने वाला, सब तत्वों को जानने वाला शुद्धात्म तत्व है। शुद्ध ज्ञान का धारी चिदानन्द मयी शुद्धात्म तत्व ही शास्त्रों में देवों का देव अर्थात् अरिहन्त और सिद्ध स्वरूपी परमात्मा कहा गया है।

ज्ञान की शुद्धि के लिए, इन सब बातों का निर्णय होना चाहिए, सत्ताईस तत्वों का परिपूर्ण ज्ञान होना चाहिए। अपने शुद्धात्म स्वरूप का सम्यग्ज्ञान

होना चाहिए तभी अपने में दृढ़ता और स्थिरता होती है। आत्मा का निश्च
सो सम्यग्दर्शन, आत्मा का ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान और आत्मा में निश्चल स्थि
सो सम्यग्चारित्र, ऐसा रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग है। सत्ताईस तत्वों में जीव तत
जीव पदार्थ, जीव द्रव्य, जीवास्तिकाय रूप एक जीव ही है। शेष २३ त
रूप पूरा संसार है। इनके भेद-प्रभेद करके वस्तुस्वरूप को जानना ही ज्ञा
की शुद्धि है, तभी संशय-विभ्रम-विमोह रहित सम्यग्ज्ञान होता है।

(१) तत्व - स्थायी स्वतंत्र सत्ता शुद्ध द्रव्य को तत्व कहते हैं अर्था
जो निरन्तर गतिशील अपने में ही सक्रिय रहता है। तत्व ७ होते हैं (१) जी
तत्व (२) अजीव तत्व (३) आश्रव तत्व (४) बंध तत्व (५) संवर तत्व (६
निर्जरा तत्व (७) मोक्ष तत्व।

(१) जीव तत्व - ज्ञान मात्र चेतन शक्ति (२) अजीव तत्व - अचेत
जड़ शक्ति (३) आश्रव तत्व - आकर्षित होना, आना-मिलना (४) बंध तत्व
बंधना, रूकना (५) संवर तत्व - अलग होना, हटना (६) निर्जरा तत्व
छूटना, क्षय होना (७) मोक्षतत्व - मुक्ति, पूर्ण शुद्ध दशा।

(२) पदार्थ - मिली हुई वस्तु को पदार्थ कहते हैं जिसमें स्वभा
विभावरूप, परिणमन शक्ति होती है तथा जो संसार में स्थित रहता है। पदा
नौ होते हैं-जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष

१. जीव पदार्थ - चेतन लक्षण देखने जानने वाला, शुद्ध-अशु
(शुभ-अशुभ) भाव का कर्ता।

२. अजीव पदार्थ - अचेतन जड़ पुद्गल परमाणु।

३. पाप पदार्थ - जीव के अशुभ भावरूप, अशुभ कर्म होना।

४. पुण्य पदार्थ - जीव के शुभ भाव रूप, शुभ कर्म होना।

५. आश्रव पदार्थ - भावाश्रव-द्रव्यास्रव रूप कर्मों का आना।

६. बंध पदार्थ - भाव बंध, द्रव्य बंधरूप, कर्मों का बंधना।

७. संवर पदार्थ - भाव संवर से द्रव्य संवर रूप कर्मों का आना, रूकना

८. निर्जरा पदार्थ – भाव निर्जरा से–द्रव्य निर्जरा रूप–कर्मों का क्षय होना।

९. मोक्ष पदार्थ – भाव मोक्ष से द्रव्य मोक्ष रूप परिपूर्ण शुद्ध दशा का होना।

(३) द्रव्य – द्रवित होने, एक दूसरे में मिलने, अपने स्वरूप से स्वतंत्र भिन्न रहने वाली अनादि निधन वस्तु को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य छह होते हैं– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं।

सत् द्रव्य लक्षणम्। उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्। गुण पर्यय वत् द्रव्यम्। (तत्वार्थ सूत्र)

१. जीव द्रव्य–देखने जानने वाला, चेतन लक्षण, ज्ञायक स्वभावी अरूपी निराकार, वेदक।

२. पुद्गल द्रव्य – रूप, रस, गंध, वर्ण, स्पर्श वाला, अचेतन जड़ परमाणु, गलन पूरण स्वभाव अर्थात् मिलने बिछुड़ने वाला।

३. धर्म द्रव्य – एक अमूर्तिक द्रव्य शक्ति है, जो जीव और पुद्गल को गमन करने में सहकारी होता है। यदि धर्म द्रव्य न होवे तो जीव और पुद्गल गमन ही नहीं कर सकते क्योंकि लोकाकाश के आगे धर्म द्रव्य न होने के कारण सिद्ध परमात्मा लोकाकाश के अग्रभाग में तिष्ठे हैं। पुद्गल का गमन भी लोकाकाश के आगे नहीं है।

४. अधर्म द्रव्य – यह भी एक अमूर्तिक द्रव्य शक्ति है जो जीव और पुद्गल को ठहरने में सहकारी होता है।

५. आकाश द्रव्य –यह भी एक अमूर्तिक द्रव्य है। जो पांचों द्रव्यों को अपने में अवकाश (स्थान) देता है। इसमें अनन्त जीव, अनन्तानंत पुद्गल परमाणु, एक धर्म, एक अधर्म, असंख्यात कालाणु समाये हुए हैं और यह अपने में शुद्ध इन सबसे अलिप्त न्यारा है। इसके दो भेद हैं– लोकाकाश और अलोकाकाश।

६. काल द्रव्य – परिणाम और वर्तना जिसका लक्षण है वह काल द्रव्य है अर्थात् जिसके निमित्त से सूक्ष्म और स्थूल परिवर्तन होता रहता है वह काल द्रव्य है।

इन छह द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह चार द्रव्य सदा शुद्ध अपने स्वभाव में स्थित रहते हैं। जीव और पुद्गल, यह दो द्रव्य, स्वभाव, विभाव रूप परिणमन करते हैं, एक दूसरे में मिलकर अशुद्ध होते हैं।

प्रश्न – जब जीव चेतन अरूपी है और पुद्गल अचेतन जड़ और रूपी है फिर यह कैसे मिले हैं?

समाधान – द्रव्य होने से दोनों मिले हैं क्योंकि द्रव्य का स्वभाव एक-दूसरे में मिलने का है। यह पूरे विश्व का परिणमन छहों द्रव्य के मिलने सहकार से ही चल रहा है, पर इनमें चार द्रव्य तो अपने में पूर्ण शुद्ध रहते हैं। मात्र जीव और पुद्गल द्रव्य की पर्याय में अशुद्धि आ जाती है, जिससे यह संसार परिभ्रमण चल रहा है।

प्रश्न – छहों द्रव्य कैसे मिले हैं, इसका उदाहरण दीजिये ?

समाधान – यह हाथ की मुट्ठी है, इसमें चेतना शक्ति है यह जीव द्रव्य, यह मुट्ठी रूपी पुद्गल द्रव्य, यह मुट्ठी खोलना इसमें सहकारी धर्म द्रव्य, इसे बन्द स्थिर रखना यह अधर्म द्रव्य, इसमें परिवर्तन छोटा बड़ा होना यह काल द्रव्य और यह आकाश में स्थित है इस प्रकार पूरे विश्व का परिणमन चल रहा है।

प्रश्न – जब काल द्रव्य के द्वारा सबका परिणमन चल रहा है फिर धर्म, अधर्म द्रव्य की क्या उपयोगिता है ?

समाधान – सब द्रव्यों की अपनी उपयोगिता और पूर्ण स्वतंत्रता है, यह मुट्ठी की हथेली और अंगुलियों का छोटी-बड़ी, जीर्ण शीर्ण होना यह काल द्रव्य का काम है पर इसका खुलना बन्द होना, घूमना स्थिर रहना यह धर्म,अधर्म, द्रव्य का ही काम है।

(४) अस्तिकाय – बहु प्रदेशी द्रव्य को अस्तिकाय कहते हैं, यह पाँच

ते हैं-जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, ाकाशास्तिकाय।

१. जीवास्तिकाय – असंख्यात प्रदेशी, अखंड, अभेद, चेतन लक्षण ह्म स्वरूपी। जीव अपेक्षा – अनन्त जीव।

२. पुद्गलास्तिकाय – संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रदेशी, सूक्ष्म रमाणु से स्थूल स्कन्ध रूप परिणमन करने वाला, कर्म रूप स्वतंत्र सत्ताशक्ति ला। परमाणु अपेक्षा– अनन्तानन्त।

३. धर्मास्तिकाय – असंख्यात प्रदेशी, एक, सर्वत्र व्यापक–उदासीन मित्त।

४. अधर्मास्तिकाय – असंख्यात प्रदेशी है।

५. लोकाकाश – अनंत प्रदेशी है।

प्रश्न – काल द्रव्य को अस्तिकाय क्यों नहीं कहा ?

समाधान – काल द्रव्य एक प्रदेशी ही होता है इसलिये अस्तिकाय हीं कहा।

प्रश्न – अस्तिकाय किसे कहते हैं ?

समाधान – जो अस्ति अर्थात् सदा विद्यमान रहे तथा कायवान भी हो ह अस्तिकाय है।

प्रश्न – इन सत्ताईस तत्वों को जानने का प्रयोजन क्या है?

समाधान – सत्ताईस तत्वों को जानने का प्रयोजन ज्ञान की शुद्धि ना। संशय, विभ्रम, विमोह (अनध्यवसाय) रहित सम्यग्ज्ञान होना क्योंकि र्तमान संसारी संयोगी दशा में भेदज्ञान पूर्वक अपने सत्स्वरूप का श्रद्धान, ाज शुद्धात्मानुभूति होना ही सम्यग्दर्शन है। अब शरीरादि से भिन्न मैं एक खंड अविनाशी चेतन तत्व भगवान आत्मा हूँ यह शरीरादि मैं नहीं और यह रे नहीं हैं, ऐसा श्रद्धान ज्ञान में आया। पर यह शरीरादि कर्म और संयोग क्या

हैं, कहाँ से आये, इन्हें किसने बनाया, यह कैसे बनते और चलते हैं, इनका परिणमन कब तक कैसे चलेगा, इनका कर्ता कौन है ? तथा जब मैं आत्मा, शुद्धात्मा, परमात्मा हूँ, तो इस दशा में यह सब कैसा क्या है ? इन सब शंका, प्रश्नों का समाधान, इन सत्ताईस तत्वों के स्वरूप को जानने से होता है और तभी यथार्थ ज्ञान, सम्यग्ज्ञान होता है।

प्रश्न - इन सत्ताईस तत्वों का भेद खुलासा करके बताइये ?

समाधान - यह तो पूरा आगम का विषय है जो प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग रूप स्वयं के स्वाध्याय, अभ्यास और अनुभव में आने पर सिद्ध होता है। यहाँ तो मूल बात अपने शुद्धात्म तत्व का लक्ष्य बनाकर आगम का स्वाध्याय, अभ्यास किया जाये तो ज्ञान के क्षयोपशम, विवेक के जागरण पर स्वयं अनुभव में आता है। मूल बात इन सात तत्व, छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय में एक चेतन लक्षण जीव ही सर्वश्रेष्ठ है, यही इन सब का प्रकाशक जानने वाला है, इसके कारण ही यह सब सक्रिय रहते हैं, इनके निमित्त-नैमित्तिक संबंध से ही संसार चलता है। जीव ब्रह्मस्वरूपी, परमात्मा, शुद्धात्म तत्व अपने स्वरूप में लीन हो जाये, तो उससे संबंधित यह सब संसार, संयोग संबंध खत्म हो जाये, जिससे जन्म मरण के चक्र संसार परिभ्रमण से छूटकर पूर्ण शुद्ध सिद्ध परमात्मा हो जाये। वर्तमान में यह जीव, द्रव्य रूप से सबमें मिला है, अस्तिकाय से शरीराकार एकमेक हो रहा है, कर्म संबंध पाप-पुण्य के द्वारा पदार्थ रूप संसार में है। अब भेदज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्दृष्टि बने तो तत्व-श्रद्धान का विषय है। पदार्थ - ज्ञान का विषय है। द्रव्य - चारित्र का विषय है। अस्तिकाय तप का विषय है। इनकी साधना करके मुक्ति पा सकता है। (ठिकानासार)

निश्चय दृष्टि से प्रत्येक जीव परमात्म स्वरूप ही है, जिनवर और जीव में अंतर नहीं है, भले ही वह एकेन्द्रिय का जीव हो या स्वर्ग का जीव हो, वह सब तो पर्याय है। आत्मा, वस्तु स्वरूप से तो परमात्मा ही है, पर्याय के ऊपर से हटकर जिसकी दृष्टि स्वरूप के ऊपर गई है वह तो अपने को भी परमात्म स्वरूप देखता है और प्रत्येक जीव को भी परमात्म स्वरूप देखता है। सम्यग्दृष्टि-सर्व जीवों को जिनवर जानता है और जिनवर को जीव

जानता है, यहां तो कहते हैं कि द्वादशांग का सार, सत्ताईस तत्वों का मर्म यह है कि आत्मा को परमात्मा समान दृष्टि में लेना और इसका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान तथा सब तत्वों का यथार्थ ज्ञान ही ज्ञान की शुद्धि है, जिसके होने पर चारित्र स्वयमेव चलता है, ज्ञान स्वभावी आत्मा का निर्णय दृढ़ करने में सहाय भूत सत्ताईस तत्वों का ज्ञान है। द्रव्यों का स्वयं सिद्ध सत्पना और स्वतंत्रता, द्रव्य, गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, नवतत्व का सच्चा स्वरूप जीव और शरीर की बिल्कुल भिन्न-भिन्न क्रियायें, पुण्य और धर्म के लक्षण भेद, निश्चय, व्यवहार इत्यादि अनेक विषयों के सच्चे बोध का अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न – एक अपना शुद्धात्म स्वरूप जानना ही कार्यकारी प्रयोजन भूत है फिर इन सबको जानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान – प्रयोजन भूत इष्ट हितकारी तो अपना शुद्धात्म तत्व ही है, उस एक को ही साधना है, पर जो अन्य साथ में लगे हैं, इनका समाधान, सफाई न होवे, तब तक वह एक सधता नहीं है, जैसे जो कर्मोदय जन्य भाव-विभाव चलते हैं, संकल्प-विकल्प होते हैं उन्हें देखकर भयभीत क्यों होते हो ? कोई क्रिया कर्म होने पर घबराहट क्यों होती है, अच्छा बुरा क्यों लगता है ? इसलिए कि इनके यथार्थ स्वरूप को नहीं जाना, वस्तु स्वरूप जान लेने पर फिर भ्रम और भयभीत पना नहीं होता।

प्रश्न – अगर कोई इतना पढ़ा-लिखा न हो तथा तत्वादि के स्वरूप को भी न जानता हो, तो क्या वह सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी नहीं हो सकता ?

समाधान – ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है, सम्यग्दर्शन तो पशु, नारकी, देव,मनुष्य संज्ञी पंचेन्द्रिय को कभी भी किसी को भी हो सकता है। जीव की पात्रता पके, पुरुषार्थ काम करे तो अड़तालीस मिनिट में केवलज्ञान, मोक्ष भी हो सकता है और हुआ है। शिवभूति मुनि, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह तो अपेक्षा से समझने की बात है।

लेंड़ी पीपल का दाना आकार में छोटा और स्वाद में अल्प चरपराहट वाला होने पर भी उसमें चौसठ पुटी चरपराहट की शक्ति सदा परिपूर्ण है।

इस दृष्टांत से आत्मा भी आकार में शरीर प्रमाण एवं भाव में अल्प होने पर भी उसमें परिपूर्ण सर्वज्ञ स्वभाव आनंद स्वभाव भरा है। लेड़ी पीपल को चौसठ पहर तक घोंटने से उसकी पर्याय में जिस प्रकार पूर्ण चरपराहट होती है उसी प्रकार रूचि को अन्तरोन्मुख करके स्वरूप का मंथन करते करते आत्मा की पर्याय में पूर्ण स्वरूप प्रगट हो जाता है।

सत्समागम से आत्मा की पहिचान करके आत्मानुभवन करो, आत्मानुभवन का ऐसा महात्म है कि कितनी ही अनुकूलता-प्रतिकूलता आने पर भी जीव की ज्ञान धारा विचलित नहीं होती। तीन काल और तीन लोक की प्रतिकूलता के ढेर एक साथ सामने आकर खड़े हो जायें तथापि मात्र ज्ञाता रूप रहकर सब सहन करने की शक्ति आत्मा के ज्ञायक स्वभाव की एक समय की पर्याय में विद्यमान है।

शरीरादि तथा रागादि से भिन्न जिसने आत्मा को जाना है, उसे कोई भी क्रिया, भाव, विकल्प, पर्याय, किंचित भी असर नहीं कर सकते, वह अपने स्वरूप से जरा भी विचलित नहीं होता और स्वरूप स्थिरता पूर्वक दो घड़ी स्वरूप में लीनता होने पर पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है, जीवन मुक्त दशा, मुक्ति होती है।

जैसे किसी ने पाक शास्त्र (भोजन बनाने की कला) का अध्ययन किया हो या न किया हो, परन्तु यदि वह भोजन बनाना जानता है तो चतुर है। वैसे ही किसी ने शास्त्राभ्यास किया हो या न किया हो, पढ़ा-लिखा हो या न हो, पर यदि उसे अपने चैतन्य स्वरूप का भाव भासन है तो वह सम्यग्दृष्टि है। पुण्य-पाप दुःख दायक हैं, अधर्म हैं तथा शरीर कर्म आदि अजीव हैं, यह रागादि परिणाम दुःखदायक हैं, मैं शुद्ध चैतन्य ज्ञायक हूँ जिसे इस प्रकार भाव भासन हो, वही सम्यग्दृष्टि है, भले ही वह पढ़ा-लिखा न हो।

सम्यग्दृष्टि को ज्ञान वैराग्य की ऐसी शक्ति प्रगट होती है कि गृहस्थाश्रम में होने पर भी सभी कार्यों में स्थित रहने पर भी निर्लेप रहते हैं। ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनों भिन्न परिणमती हैं।

ज्ञानी को दृष्टि अपेक्षा से चैतन्य स्वरूप एवं शरीरादि की अत्यन्त भिन्नता भासती है।

प्रश्न – यह संशय, विभ्रम, विमोह क्या हैं और इनसे रहित सम्यग्ज्ञानी का स्वरूप क्या है ?

समाधान – यह संशय, विभ्रम, विमोह ज्ञान की कमी के दूषण हैं, इनके होते ज्ञान में सम्यक् ज्ञान पना, स्थिरता, दृढ़ता नहीं होती। सम्यग्दर्शन होने पर भी भ्रमित, भयभीत करते रहते हैं। इनका स्वरूप निम्न प्रकार है–

(१) संशय– वस्तु स्वरूप स्व–पर का सही ज्ञान न होना, मैं आत्मा तो हूँ पर यह कर्मादि भावों का कर्ता भी तो हूँ। जैसे शुद्ध निश्चय से आत्मा सिद्ध के समान शुद्ध स्वयं शुद्धात्मा है पर व्यवहार नय से कर्मोदय संयोग में संसारी अशुद्ध कर्ता भोक्ता भी है। एक सही निर्णय न होना संशय है। जब तक संशय रहता है, ज्ञान की सही स्थिति नहीं बनती '' संशयात्मा विनश्यति।''

जब यह निर्णय पक्का होता है कि मैं सिद्ध के समान ध्रुव तत्व शुद्धात्मा, शुद्ध चैतन्य मात्र, ज्ञान मात्र हूँ यह सब कर्मादि भावों का मैं कर्ता–भोक्ता नहीं हूँ, इनसे अत्यन्त भिन्न, मात्र ज्ञाता दृष्टा ज्ञायक स्वभावी ही हूँ ऐसा अनुभव प्रमाण ज्ञान होना निःसंशय है।

(२) विभ्रम – यह भ्रम होना कि यह शरीरादि कर्म और भाव मैं तो नहीं हूँ, पर यह मेरे हैं, मेरे से ही हो रहे हैं, जैसे अंधकार में रस्सी को देखकर सर्प का भ्रम होना जिससे भयभीत पना, घबड़ाहट होने लगती है ऐसे ही मन में चलने वाले भाव–विभाव, संकल्प–विकल्प को देखकर अपने मानना भ्रमित भयभीत होना यह विभ्रम है।

जब यह भ्रम दूर होता है कि नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्य ज्ञान मात्र ध्रुव तत्व ही हूँ, यह सब चलने वाले रागादि भाव और कर्मादि मेरे नहीं हैं, सब ज्ञेय भाव–भावक भावों से भिन्न मैं ज्ञान मात्र चेतन सत्ता हूँ, यह सब असत् क्षणभंगुर नाशवान हैं। एक समय की पर्याय से भी भिन्न मैं मात्र ध्रुव तत्व हूँ, ऐसा बोध जागने पर विभ्रम मिटता है ज्ञान में निर्भयता आती है।

(३) विमोह – इन रागादि भाव और कर्मों का न मैं कर्ता हूं न यह मेरे हैं पर यह हो तो रहे हैं, इनसे आकर्षित होना, अच्छे बुरे मानना, सामने वाले किसी भी व्यक्ति, वस्तु, क्रिया, भाव, पर्याय आदि को देखकर उसमें

आकर्षित होना, महत्व देना, अच्छा बुरा लगना, विमोह है। जब तक सामने वाले की सत्ता मानते हो, महत्व देते हो, उसके प्रति आकर्षण है, तब तक विमोह है इससे राग-द्वेष होता है।

जब वस्तु स्वरूप का सही ज्ञान होता है कि मैं एक अखंड, अभेद, अविनाशी, ज्ञान मात्र चेतन सत्ता ध्रुव तत्व शुद्धात्मा हूँ यह सब ज्ञेय मात्र पुद्गल परमाणु हैं, जो मेरे चैतन्य ज्योति से प्रकाशित हो रहा है, देखने जानने में आ रहा है पर इसका कोई अस्तित्व सत्ता नहीं है, बस क्षणभंगुर नाशवान है। एक अपने ही सत्स्वरूप का पूर्ण बोध जागता है तब विमोह रहित सम्यग्ज्ञान होता है। इस प्रकार संशय, विभ्रम, विमोह रहित जो ज्ञानी होता है फिर उसे किसी भी परिस्थिति में कुछ नहीं होता, वह हर समय, हर दशा में हमेशा अपने आनंद में मस्त रहता है और ज्ञायक रहकर सब तमाशा देखता है।

प्रश्न - फिर उसे (ज्ञानी को) यह मन आदि के चलने वाले भावों से शरीरादि क्रिया और बाहरी संयोग में कैसा लगता है और वह इस परिस्थिति में कैसा रहता है ?

समाधान - इन सबके बीच वह मात्र ज्ञायक रहता है।

प्रश्न - अच्छा बुरा लगता है या नहीं ?

समाधान - नहीं,अगर अभी अच्छा बुरा लगता है तो वह ज्ञानी नहीं है।

प्रश्न - उसके शरीरादि की क्रियायें विपरीत होती रहें, बोलने, खाने, रहने में कैसा ही रहे, क्या यह उसे बंध के कारण नहीं हैं?

समाधान - अगर इन क्रियाओं में उसका राग है तो बंध का कारण है अगर राग नहीं है तो कोई बंध नहीं होता। आगम के परिप्रेक्ष्य में जो ज्ञानी है उसे कर्ता-भोक्तापन का भाव तो होता ही नहीं है तथा यदि वह पूर्ण वीतरागी है तो राग और बंध का प्रश्न ही नहीं है, यदि नीचे की भूमिका व्रती, अव्रती, महाव्रती की दशा में है तो जितना निर्विकार ज्ञान भाव में रहेगा, उतना निर्बन्ध रहेगा तथा जितना राग होगा उतना बंध होगा, पर ज्ञानी को यह बंध संसार का कारण नहीं होता।

प्रश्न- यह निर्णय कैसे होवे कि यह ज्ञानी है इसमें इसका कर्ता,

भोक्तापन का भाव या कोई राग नहीं है?

समाधान- यह तो स्वयं की स्वयं ही जानना है यहां पर की अपेक्षा तो है ही नहीं। आगे सम्यग्ज्ञानी के स्वरूप में अपने आप को देख लो। श्री तारण स्वामी का यह सूत्र हमेशा याद रखना है -

"निज हेर बैठो, नहीं तो रार करो" (छद्मस्थ वाणी) ज्ञानी को चाहे जैसे भाव में, चाहे जैसे प्रसंग में साक्षी रूप से रहने की क्षमता है, वह सर्व प्रकार के भावों के बीच साक्षी ज्ञायक रूप से रहता है। जब जीव ज्ञानानंद स्वभाव का अनुभव करने में समर्थ हुआ, तब से समस्त जगत का साक्षी हो गया।

साधक जीव, पर द्रव्य रूप द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म शरीरादि के प्रति उदासीन है क्योंकि शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने से उसे शुद्ध चैतन्य ही उपादेय है। जब से ध्रुव को ध्यान में लेकर आत्म अनुभव हुआ तब से वह जीव पूर्णानंद स्वरूप को उपादेय जानने से रागादि रूप उठने वाले विकल्पों के प्रति उदासीन है।

जब यह आत्मा स्वयं राग से भिन्न होकर अपने में एकाग्र होता है तब केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदविज्ञान ज्योति उदय होती है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को तो बाहर के विकल्प में आना रूचता ही नहीं है।

सम्यग्दृष्टि तो जीव, अजीव, आश्रव, बंध आदि के स्वांगों को देखने वाले हैं, रागादि, आश्रव-बंध के परिणाम होते हैं पर सम्यग्दृष्टि उन स्वांगों को देखने वाले ज्ञाता दृष्टा हैं, कर्ता नहीं हैं। ज्ञानी इन सब चल चित्रों को कर्म कृत जानकर शांत रस में ही मगन रहते हैं।

साधक जीव को भूमिकानुसार देव, गुरू, शास्त्र की महिमा, भक्ति, श्रुत चिंतवन, अणुव्रत, महाव्रत आदि के शुभ विकल्प आते हैं पर वे ज्ञायक परिणति को रूचते नहीं हैं। अशुभ रागादि के विकल्प तो विषधर जैसे लगते हैं।

जिसे सच्चा आत्म ज्ञान होता है उसे मैं अन्य भाव का अकर्ता हूँ ऐसा बोध उत्पन्न होता है और उसकी अहंप्रत्ययी बुद्धि विलीन हो जाती है।

वास्तविकता तो यह है कि जिस काल में ज्ञान से अज्ञान निवृत्त हुआ,

उसी काल में ज्ञानी मुक्त है। देहादि में अप्रतिबद्ध है, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि में अप्रतिबद्ध है, ऐसे ज्ञानी को कोई आश्रय या आलम्बन नहीं है।

सहज रूप से जो कुछ होता है, वह होता है, जो नहीं होता वह नहीं होता, वह कर्तृत्व रहित है, उसका कर्तृत्व भाव विलीन हो चुका है।

जगत जिसमें सोता है, उसमें ज्ञानी जागते हैं, जिसमें ज्ञानी जागते हैं, उसमें जगत सोता है, जिसमें जगत जागता है, उसमें ज्ञानी सोते हैं। जिस -जिस काल में जो-जो प्रारब्ध उदय में आता है उसे समता से भोगता है, यही ज्ञानी पुरूषों का सनातन आचरण है।

इतनी बात का निश्चय रखना योग्य है कि ज्ञानी पुरूष को भी प्रारब्ध कर्म भोगे बिना निवृत्त नहीं होते और बिना भोगे निवृत्त होने की ज्ञानी को कोई इच्छा नहीं होती।

ज्ञानी पुरूष को काया में आत्म बुद्धि नहीं होती और आत्मा में काया बुद्धि नहीं होती, उसके ज्ञान में दोनों ही स्पष्ट भिन्न प्रतीत होते हैं।

ज्ञानी पुरूष को समय-समय में अनंत संयम परिणाम वर्धमान होते हैं। वह संयम, विचार की तीक्ष्ण परिणति से ब्रह्म रस के प्रति स्थिरता होने से उत्पन्न होता है।

ज्ञानी निर्धन हो या धनवान हो, अज्ञानी निर्धन हो या धनवान हो, ऐसा कुछ नियम नहीं है। पूर्व निष्पन्न शुभाशुभ कर्म के अनुसार दोनों का उदय रहता है, ज्ञानी उदय में सम रहते हैं, अज्ञानी हर्ष-विषाद को प्राप्त होता है।

सत्य का ज्ञान होने के बाद मिथ्या प्रवृत्ति दूर न हो, ऐसा नहीं होता, क्योंकि जितने अंश में सत्य का ज्ञान हो, उतने अंश में मिथ्या प्रवृत्ति भाव दूर होंगे, ऐसा जिनेन्द्र का निश्चय कथन है।

ज्ञानी की वाणी पूर्वापर अविरोधी, आत्मार्थ उपदेशक और अपूर्व अर्थ का निरूपण करने वाली होती है और अनुभव सहित होने से आत्मा को सतत् जाग्रत करने वाली होती है।

ज्ञानी धर्मात्मा आत्म दशा को पाकर निर्द्वंदता से यथा प्रारब्ध विचरते हैं। संसार का अंत समीप है, ऐसा निःसंदेह ज्ञानी का निश्चय होता है।

जिन ज्ञानी पुरूषों का देहाभिमान दूर हुआ है, उन्हें कुछ भी करना

बाकी नहीं रहा। शुद्ध चैतन्य के अनुभव के लिए चारित्र मोह नष्ट होना योग्य है। ज्ञानी पुरूष के सन्मार्ग की नैष्ठिकता से चारित्र मोह का प्रलय होता है।

ज्ञानी, जगत को पुद्गल परमाणुओं का पिंड धूल का ढेर समझते हैं, यह उनके ज्ञान की महिमा है। ज्ञानी को जहां स्वरूप निधान-धर्म की महिमा प्रगट होती है, वहीं पर्याय में बल आ जाता है, पुरूषार्थ जग जाता है, निर्भयता, नि:शंकता आ जाती है।

लोग कहते हैं कि हमें सम्यग्दर्शन हुआ या नहीं, वह केवलज्ञानी जाने? परन्तु स्वयं आत्मा है वह क्यों न जाने? कहीं आत्मा बाहर नहीं चला गया, जड़ नहीं हो गया अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ है, उसे आत्मा स्वयं ही जानता है। जिस प्रकार कोई पदार्थ खाने पर उसका भान होता है उसी तरह सम्यक्त्व होने पर भ्रांति दूर होने पर उसका फल स्वयं जानता है, ज्ञान का फल ज्ञान देता ही है।

बाह्य क्रिया कांड में लोगों को रूचि हो गई है और अंतर की यह ज्ञायक वस्तु छूट गई है। वस्तु क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? जब तक यह निर्णय नहीं होगा, तब तक जीव का भला होने वाला नहीं है, मुक्ति का मार्ग बनने वाला नहीं है। धर्म का सत्स्वरूप समझा नहीं और प्रतिमा धारण कर लेते हैं, हो सका तो साधु बन जाते हैं। पर इससे होता क्या है ? सम्यग्दर्शन के बिना प्रतिमा या साधुपना कैसा ? और उससे लाभ क्या है ?

आत्मार्थी का लक्ष्य श्रवण, मनन, पठन, आदि सब मुख्यत: आत्मा के लिए हैं, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए हैं। बगैर सम्यग्दर्शन के तो अनंत संसार परिभ्रमण ही होगा।

ज्ञान तो वह है, जिससे बाह्य वृत्तियां रूक जाती हैं, संसार पर से सचमुच प्रीति घट जाती है, सच्चे को सच्चा जानता है। जिससे आत्मा में गुण प्रगट हो वह ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानी के अपने सत्स्वरूप के देवत्वपने के गुण प्रगट होने लगते हैं। इस प्रकार अपने को जानकर आगे बढ़े, यही सत्मार्ग है।

प्रश्न- अपने सत्स्वरूप के देवत्वपने के गुण कौन से हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरू यह गाथा सूत्र कहते हैं-

गाथा- ११

देवं गुरं सास्त्र गुनानि नेत्वं, सिद्धं गुनं सोलहकारनेत्वं ।
धर्मं गुनं दर्सन न्यान चरनं, मालाय गुथतं गुन सस्वरूपं ।।

शब्दार्थ- (देवं) देव के (गुरं) गुरू के (सास्त्र) शास्त्र के (गुनानि) गुणों को (नेत्वं) तुम धारण करो (सिद्धं) सिद्ध के (गुनं) गुणों को (सोलह कारनेत्वं) सोलह कारण भावनायें (धर्मं) धर्म के (गुनं) गुणों को (दर्सन) दर्शन (न्यान) ज्ञान के (चरनं) चारित्र के (मालाय) माला को (गुथतं) गूंथो (गुन) गुण (सस्वरूपं) अपने सत्स्वरूप के गुण हैं।

विशेषार्थ- पांच परमेष्ठी - देव के पांच गुण, रत्नत्रय-गुरू के ती[न] गुण, चार अनुयोग-शास्त्र के चार गुण, सम्यक्त्व आदि सिद्ध के आठ गुण, दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनायें, उत्तम क्षमा आदि धर्म के द[स]

गुण, नि:शंकित आदि दर्शन के आठ अंग, शब्दाचारादि ज्ञान के आठ अंग, पंच महाव्रत आदि तेरह प्रकार का चारित्र यह पचहत्तर गुण अपने सत्स्वरूप शुद्धात्मा में हैं, यही देवत्व प्राप्त करने की विधि है, इन गुणों को अपने में प्रगट करना, धारण करना, पुजाना ही सच्ची देव पूजा है। इसका विशेष वर्णन पंडित पूजा और श्रावकाचार जी में किया गया है, ऐसे निज स्वभाव की गुणमाला गूंथो अर्थात् अनंत गुणों के निधान, निज शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति कर निज गुणों को प्रगटाओ।

प्रश्न- इन गुणों का क्रम क्या है, किस विधि से देवत्व पद प्रगट होता है ?

समाधान- सबसे पहले गाथा क्रं. ३ के अनुसार भेदज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति, सम्यग्दर्शन होने पर इससे दर्शन के आठ गुण प्रगट होते हैं, १. नि:शंकित, २. नि:कांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढ़दृष्टि, ५. उपगूहन, ६. स्थितिकरण, ७. वात्सल्य, ८. प्रभावना।

इनका संक्षेप स्वरूप निम्न प्रकार है-

१. नि:शंकित अंग- आत्मा के त्रिकाली ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा ही नि:शंकित अंग है। शंका से भय का जन्म होता है, जो सात भय मिथ्यादृष्टि को होते हैं, इहलोक भय, परलोक भय, वेदना भय, अरक्षाभय, अगुप्ति भय (चोरभय), मरण भय, अकस्मात भय। सम्यग्दृष्टि इन सात भयों से रहित होता है, शंका या भय रहित होकर दृढ़ता पूर्वक आत्म स्वरूप का श्रद्धान नि:शंकित अंग है। ऐसी निर्भयता में हेतु भूत उसका जिन शासन (वस्तु की स्वतंत्रता) का दृढ़ श्रद्धान ही है। सच्चे देव, गुरू, शास्त्र का यथार्थ स्वरूप सहित दृढ़ श्रद्धान व्यवहार नि:शंकित अंग है।

२. नि:कांक्षित अंग- जिसे आत्मीक अमृत रस का स्वाद आ गया है वह अन्य रस का आकांक्षी नहीं होता, अत: सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण सांसारिक आकांक्षाओं से रहित आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का भोक्ता है, यही परमार्थ से उसका निकांक्षित अंग है। व्यवहार से आत्म भिन्न शरीरादि संयोगी पदार्थ में उसका ऐसा विश्वास है कि उनका संयोग कर्माधीन है, उन सांसारिक सुख भोगों में रागादि कषायों का आलम्बन रहने से वे पाप बंध के कारण बने हैं,

जिसका फल अत्यन्त दु:ख है, ऐसे दु:खान्त फल वाले सांसारिक सुख की उसे किंचित् भी बांछा नहीं होती, यह नि:कांक्षित अंग का व्यवहारिक रूप है।

३. निर्विचिकित्सा अंग- जो वस्तु को उसके स्वरूप से देखता है, उसे किसी से घृणा , द्वेष, नहीं होता, उसे धर्म में प्रीति होती है, ज्ञानी को अपने स्वरूप रूप प्रवर्तन में दृढ़ रूचि है, यही उसका निर्विचिकित्सा अंग है। अन्य साधर्मी धर्मात्मा जनों की सेवा करता है, यही उसका व्यवहारिक रूप है।

४. अमूढ़दृष्टि अंग- सम्यग्दृष्टि के निजात्म तत्व से भिन्न सभी पंचेन्द्रिय विषयों पर मोह भाव नहीं है, यही उसकी मूढ़ता रहित दृष्टि है, अपने निश्चय दर्शन, ज्ञान, चारित्र, स्वभाव में रूचि है, यही अमूढ़दृष्टि अंग है। मिथ्यामार्ग और मिथ्यामार्गियों की सराहना मन, वचन, काय से न करना ही व्यवहार अमूढ़दृष्टि अंग है।

५. उपगूहन अंग- ज्ञानी निरंतर अपने गुणों की वृद्धि करता है, यही उसका उपवृंहण नाम का वास्तविक गुण है। धर्मात्मा गुणी पुरुषों में कदाचित् कोई दोष दिखाई दे जाये, तो उसका प्रचार नहीं करता, उनमें वह दोष दूर हो तथा गुण बढे, ऐसी सहायता करता है।

६. स्थितिकरण अंग- अपने स्वरूप में स्थित रहना ही स्थितिकरण अंग है। धर्म,धर्मात्मा के आश्रय से चलता है, धर्मात्मा के अपवाद से धर्म का अपवाद होता है, अत: धर्म के मार्ग को पवित्र बनाए रखने के लिए धर्मात्मा का स्थितिकरण आवश्यक है।

७. वात्सल्य अंग- अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, गुणों की प्राप्ति के प्रति अनुराग वात्सल्य अंग है। इसी प्रकार धर्मी, धर्मात्मा के प्रति द्वेष न हो, उसका अपवाद न हो, उसमें गुण प्रगट हों, इसलिए सहयोग और बढ़ावा देना, वात्सल्य अंग है।

८. प्रभावना अंग - अपनी आत्मा में निरंतर रत्नत्रय के तेज को बढ़ाते जाना, तथा बाह्य प्रभावना, दया, दान, संयम, तप, धार्मिक उत्सव करना, कराना प्रभावना अंग है।

इस प्रकार शुद्ध सम्यक्त्व निज शुद्धात्मानुभूति सहित आठों अंगों का

सही पालन करने वाला पात्र होता है, जिसके क्रमश: ज्ञान का विकास होता है तथा ज्ञान के आठ अंग प्रगट होते हैं -

१. शब्दाचार २. अर्थाचार ३. उभयाचार ४. कालाचार ५. विनयाचार ६. उपधानाचार ७. बहुमानाचार ८. अनिन्हवाचार।

१. शब्दाचार- शब्द शास्त्र के अनुसार अक्षर, पद आदि शुद्ध पठन, पाठन करना। अक्षर स्वरूप अपने शुद्धात्म स्वरूप को यथार्थ जानना।

२. अर्थाचार- यथार्थ शुद्ध अर्थ का अवधारण करना, ध्रुव तत्व का अवधारण करना।

३. उभयाचार- शब्द और अर्थ दोनों का शुद्ध पठन-पाठन। संशय रहित शुद्धात्म स्वरूप का ज्ञान होना।

४. कालाचार- सामायिक ध्यान के समय स्वाध्याय, अपने स्वरूप का चिंतन, मनन ध्यान करना। अन्य शास्त्र आदि नहीं पढ़ना।

५. विनयाचार - विनय भक्ति पूर्वक स्वाध्याय करना, अपने शुद्ध भावों की संभाल विनय भक्ति रखना।

६. उपधानाचार- आराधना की विस्मृति न होवे। अपने स्वरूप का निरंतर स्मरण रखना।

७. बहुमानाचार- जिनवाणी का आदर बहुमान करना, अपने शुद्धात्म स्वरूप का बहुमान होना।

८. अनिन्हवाचार- जिस गुरू अथवा शास्त्र से ज्ञान मिला हो उसे न छिपाना, अपने ज्ञानभाव को हमेशा जाग्रत रखना, ज्ञायक रहना।

इस प्रकार ज्ञान की शुद्धि होने से शुद्धात्म तत्व का प्रकाश हो जाता है, जिससे उस रूप रहने का सम्यग्चारित्र प्रगट होता है, इस साधना के लिए तेरह गुण प्रगट होते हैं, जो साधु पद में प्रतिष्ठित कराते हैं, पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, जिनका स्वरूप निम्न प्रकार है-

पापों के सर्व देश त्याग को महाव्रत कहते हैं।

पांच महाव्रत- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

१. अहिंसा महाव्रत- समस्त आरंभ परिग्रह के त्याग से हिंसा के अभाव रूप, अहिंसा प्रगट होना, जिससे छहों काय के प्राणियों के प्रति

करुणाभाव, सबसे राग, द्वेष, बैर, विरोध के अभाव रूप वीतराग परि होना, यही साधु पद है।

२. सत्य महाव्रत- समस्त असत् के अभाव रूप कभी किंचित् झूठ न बोलना, सत्य महाव्रत है, जो अपने सत्स्वरूप में लीन होना है।

३. अचौर्य महाव्रत- पर के ग्रहण करने उस ओर की भावना अभावरूप अचौर्य महाव्रत होता है।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत- अब्रह्म अर्थात् अनात्म वस्तु में रमण न कर अपने ब्रह्म स्वरूप में लीन रहना, ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

५. अपरिग्रह महाव्रत- पर के प्रति ममत्व और मूर्च्छा का अ होकर समदृष्टि समभाव रूप सबमें परमात्म स्वरूप देखना अपरिग्रह महा है।

पांच समिति- ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आ निक्षेपण समिति, प्रतिष्ठापन या उत्सर्ग समिति।

किसी प्राणी को पीड़ा न पहुंचे तथा अपने परिणामों में कोई विका आये, इस भावना से देखभालकर प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं।

१. ईर्या समिति- बाहर प्रकाश में देखभाल कर चलना, अन्तरं निरंतर ज्ञान का प्रकाश रहना, ईर्या समिति है।

२. भाषा समिति- हित-मित संशय रहित-प्रिय वचन बोलना त अपने निःशब्द स्वरूप में स्थिर रहना, भाषा समिति है।

३. एषणा समिति- निर्भीक, निस्पृह भाव से योग्य आहार ग्रहण क तथा अपने में निरंतर ज्ञानाहार करते रहना, एषणा समिति है।

४. आदान निक्षेपण समिति- अच्छी तरह से देखभाल कर उठ बैठना, उठाना, धरना, तथा विभावों से संभाल रखते हुए स्वच्छ शुद्ध भाव रहना।

५. प्रतिष्ठापन समिति- जन्तु रहित स्थान को देखभाल कर मूत्रादि त्यागना तथा राग-द्वेषादि मलों से निरंतर सावधान अपने शुद्ध स्व में रहना।

इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में निश्चय-व्यवहार के समन्वय पू

इन पांच महाव्रत और पांच समिति का पालन होता है।

तीन गुप्ति- मन गुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति।

१. मन गुप्ति- मन की रागादि से निवृत्ति को मनोगुप्ति कहते हैं, इससे सम्यक् ध्यान-आत्म स्वरूप में तल्लीनता होती है।

२. वचन गुप्ति- वचनरूप प्रवृत्ति का अभाव, पूर्ण शांत मौन दशा वचन गुप्ति है, इससे स्वरूप की स्थिरता होती है।

३. कायगुप्ति- शरीर से ममत्व का त्याग, शारीरिक क्रिया की पूर्ण निवृत्ति काय गुप्ति है, इससे कायोत्सर्ग रूप आत्म ध्यान की निश्चलता होती है।

ऐसे साधु पद के होने पर दस धर्म और सोलह कारण भावनायें प्रगट होती हैं।

दस धर्म- उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन, उत्तम ब्रह्मचर्य।

१. उत्तम क्षमा- उत्कृष्ट क्षमा, क्रोध कषाय का अभाव, शांत सौम्य भाव में रहना उत्तम क्षमा है।

२. उत्तम मार्दव- उत्कृष्ट सरलता, मान कषाय का अभाव, मान अपमान में समदृष्टि विनीत रहना उत्तम मार्दव है।

३. उत्तम आर्जव- उत्कृष्ट सहजता, माया कषाय का अभाव, माया से हटकर मुक्ति श्री में रमण करना उत्तम आर्जव है।

४. उत्तम सत्य- वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्णय होना, अपने सत्य स्वरूप में निर्विकारी न्यारे ज्ञायक रहना, उत्तम सत्य है।

५. उत्तम शौच- उत्कृष्ट शुचिता, पवित्रता, लोभ कषाय का अभाव, किसी प्रकार की कामना, वासना का न रहना, उत्तम शौच है।

६. उत्तम संयम- हमेशा अपने में स्वस्थ्य सावधान होश में रहना, अपनी सुरत रखना उत्तम संयम है।

७. उत्तम तप- अपने आत्म स्वभाव में लीन रहना, बारह प्रकार के तपों का पालन करते हुए, उपसर्ग परीषहों को जीतना, अपने में निर्विकल्प

रहना उत्तम तप है।

८. **उत्तम त्याग**- वीतराग भाव सहित, निर्विकल्प, निजानंद में रहना, उत्तम त्याग है।

९. **उत्तम आकिंचन्य**- इस जगत में परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, ज्ञेय मात्र से भिन्न मैं ज्ञान स्वभावी ध्रुव तत्व शुद्धात्मा हूं, निर्ममत्व होना, उत्तम आकिंचन्य है।

१०. **उत्तम ब्रह्मचर्य**- समस्त अब्रह्म से विरत होकर अपने ब्रह्म स्वरूप में रमण कर लीन रहना, उत्तम ब्रह्मचर्य है।

ऐसे अपने स्वाभाविक गुणों का प्रगट होना ही साधु की श्रेष्ठता है। इसी क्रम में सोलहकारण भावनायें होती हैं जो तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण हैं, सामान्यत: मुक्ति मार्ग पर तीव्र गति से बढ़ने में सहकारी है। सोलह कारण भावना निम्न प्रकार हैं-

१. **दर्शन विशुद्धि भावना**- सम्यग्दर्शन शुद्ध रहे, पच्चीस दोष में से कोई भी दोष न लगे, निरंतर ही स्वरूपानुभूति होती रहे, तथा जगत के समस्त जीव अपने सत्स्वरूप का श्रद्धान सम्यग्दर्शन कर मुक्ति के मार्ग पर चलें, आत्मा से परमात्मा बनें, ऐसी भावना होना।

२. **विनय सम्पन्न भावना**- रत्नत्रय धर्म तथा उनके धारकों के प्रति विनय होना।

३. **शीलव्रतेष्वनतीचार भावना**- शील स्वभाव व व्रतों के पालने में कोई दोष न लगे।

४. **अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना**- निरंतर आत्म चिंतन व स्वाध्याय में उपयोग लगाना।

५. **संवेग भावना**- संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य व धर्म में अनुराग बढ़ता रहे।

६. **शक्तित: त्याग भावना**- शक्ति अनुसार त्याग मार्ग पर चलना, तथा दान देना।

७. **शक्तिस्तप भावना**- शक्ति अनुसार अपने स्वरूप में रहना, बारह तपों का पालन करना।

८. साधु समाधि भावना- कब साधु बनकर निर्विकल्प ध्यान समाधि लगाऊँ।

९. वैयावृत्य करण भावना- सभी धर्मात्मा, महापुरूषों की सेवा शुश्रूषा करना।

१०. अर्हंत भक्ति भावना- अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा के गुणों का स्मरण करना, वैसे ही गुण अपने में प्रगट करना।

११. आचार्य भक्ति भावना- वीतराग निर्ग्रंथ सद्‌गुरू आचार्य के गुणों का स्मरण और भक्ति करना।

१२. बहुश्रुत भक्ति भावना- बहुश्रुत के ज्ञाता उपाध्याय के गुणों का स्मरण भक्ति करना।

१३. प्रवचन भक्ति भावना - जिनवाणी व रत्नत्रय मयी धर्म की महिमा बहुमान करना।

१४. आवश्यकापरिहाणि भावना- नित्य आवश्यक धर्म क्रियाओं को करते रहना।

१५. मार्ग प्रभावना भावना- वीतराग जिन धर्म, मुक्ति मार्ग की प्रभावना करना।

१६. प्रवचन वत्सलत्व भावना- समस्त धर्म प्रेमी जीवों से प्रेम वात्सल्य भाव होना।

यह सोलह कारण भावनाओं का निरंतर स्मरण, ध्यान, चिन्तन, मनन, चलते रहना, इससे परिणामों में विशुद्धि आती है। धर्म की वृद्धि आगे बढ़ने का योग बनता है। इससे चार अनुयोग और रत्नत्रय के गुण प्रगट होते हैं।

चार अनुयोग-प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग सम्यग्ज्ञान का मुख्य कारण श्रुतज्ञान है, जिसके यह चार भेद हैं, जिन्हें अनुयोग या वेद भी कहते हैं, इससे धर्म की दृढ़ता होती है।

१. प्रथमानुयोग - इसमें त्रेसठ शलाका महापुरूषों २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र का जीवन चरित्र बताया है। जिसमें जीव के संसार और कर्म बंध की दशा का वर्णन किया है। मिथ्यात्व के सेवन से क्या दुर्दशा होती है और सम्यग्दर्शन होने से कैसा सुख, सद्‌गति

और मुक्ति की प्राप्ति होती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण बताया है।

२. करणानुयोग- इसमें तीन लोक की रचना, कहां-कहां कौन-कौन, जीव पैदा होते हैं, उनकी क्या व्यवस्था है, जीवों के परिणाम कितने प्रकार के होते हैं, उनसे कैसे-कैसे कर्मों का कैसा बंध होता है ? उदय स्थिति, अनुभाग, कैसा भोगना पड़ता है, गुणस्थान, मार्गणा, आदि का स्वरूप बताया है।

३. चरणानुयोग- इसमें संसार के दु:खों से छूटने, पाप विषय कषायों से बचने के लिए व्रत, नियम, संयम, तप के पालन करने की विधि, श्रावक और साधु की चर्या का वर्णन किया है।

४. द्रव्यानुयोग- इसमें सत्ताईस तत्वों का स्वरूप बताते हुए आत्मा के शुद्ध स्वरूप की महिमा बताई है कि किस प्रकार यह आत्मा अपने स्वरूप की साधना करके परमात्मा बनती है। शुद्ध निश्चय से आत्मा त्रिकाल शुद्ध सिद्ध के समान परमात्म स्वरूप है।

चारों अनुयोगों के ज्ञान से रत्नत्रय की निर्मलता शुद्धि होते हुए पूर्णता होती है।

रत्नत्रय - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:।

१. सम्यग्दर्शन- ''पर द्रव्यों से भिन्न आपमें, रुचि सम्यक्त भला है'' भेदज्ञान पूर्वक शरीर, मन, वाणी, कर्म से भिन्न, मैं एक अखंड, अविनाशी, चेतन तत्व भगवान आत्मा हूं ऐसा अनुभूति युक्त श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

२. सम्यग्ज्ञान- ''आप रूप को जान पनों सो सम्यग्ज्ञान कला है।'' स्व-पर के यथार्थ निर्णयपूर्वक वस्तु स्वरूप को जानना तथा अपने ध्रुव तत्व ममल स्वभाव का नि:संशय ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है।

३. सम्यग्चारित्र- ''आप रूप में लीन रहे थिर सम्यग्चारित सोई''।

सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञानपूर्वक अपने स्वभाव में लीन होना तथा वीतराग, निर्ग्रंथ दशा होना ही सम्यग्चारित्र है।

इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है और पूर्णता मोक्ष है। सम्यग्दर्शन से

परम सुख, सम्यग्ज्ञान से परम शांति, और सम्यग्चारित्र से परमानंद स्वरूप परमात्म पद होता है। साधु पद से रत्नत्रय की ही साधना की जाती है, जिससे उपाध्याय, आचार्य पद होते हुए, अरिहन्त पद प्रगट होता है, जो पूर्ण वीतरागी, केवलज्ञान मयी सर्वज्ञ परमात्म पद है। अन्तिम समय में शरीरादि कर्मों का पूर्ण अभाव होने पर सिद्ध पद होता है, जो शाश्वत ध्रुव पद है, जिससे सम्यक्त्व आदि गुण प्रगट होते हैं।

सिद्ध के आठ गुण - १. शुद्ध सम्यक्त्व २. अनन्त ज्ञान ३. अनन्त दर्शन ४. अनन्त वीर्य ५. सूक्ष्मत्व ६. अगुरूलघुत्व ७. अवगाहनत्व ८. अव्याबाधत्व।

१. शुद्ध सम्यक्त्व - मोहनीय कर्म के अभाव से यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है।

२. अनन्त ज्ञान- ज्ञानावरणीय कर्म के अभाव से केवलज्ञान प्रगट होता है।

३. अनन्त दर्शन - दर्शनावरणीय कर्म के अभाव से केवलदर्शन प्रगट होता है।

४. अनन्त वीर्य - अन्तराय कर्म के अभाव से पूर्ण पुरूषार्थ प्रगट होता है।

५. सूक्ष्मत्व - नाम कर्म के अभाव से शरीरादि का संयोग नहीं रहता अशरीरपना प्रगट होता है।

६. अगुरूलघुत्व - गोत्र कर्म के अभाव से, अभेद दशा प्रगट होती है।

७. अवगाहनत्व- आयु कर्म के अभाव से अनादि निधनपना प्रगट होता है।

८. अव्याबाधत्व- वेदनीय कर्म के अभाव से पूर्ण परमानंद होता है।

इस प्रकार ७५ गुणों के प्रगट होने से आत्मा सिद्ध परमात्मा, सर्वगुण सम्पन्न पूर्ण शुद्ध परमानंदमयी परमात्मा होता है, इसी को ईश्वर, भगवान, परब्रह्म, परमेश्वर, निरंजन, ॐकार, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, परमात्मा, जिन आदि नामों से भव्य जीव ध्याते हैं।

प्रश्न- इन गुणों के प्रगट करने का मार्ग क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरू आगे चारित्र की शुद्धि की अपेक्षा गाथा कहत हैं -

गाथा - १२

पडिमाय ग्यारा तत्वानि पेषं, व्रतानि सीलं तप दान चेत्वं।
संमिक्त सुद्धं न्यानं चरित्रं, स दर्सनं सुद्ध मलं विमुक्तं ॥

शब्दार्थ- (पडिमाय ग्यारा) ग्यारह प्रतिमा (तत्वानि) तत्वों का स्वरू (पेषं) जानकर (व्रतानि) पांच अणुव्रत (सीलं) सप्त शील (चार शिक्षाव्र तीन गुण व्रत)(तप दान) तप और दान (चेत्वं) अपना चित्त लगाओ,(संमिक सुद्धं) शुद्ध सम्यक्त सहित (न्यानं) ज्ञान से (चरित्रं)चारित्र की शुद्धि करो (स दर्सनं) इससे दिखाई देगा (सुद्ध) परिपूर्ण शुद्ध, शुद्धात्मतत्व, जो (मल विमुक्तं) सारे कर्म मलों से रहित है।

विशेषार्थ - हे भव्य ! आनन्द में रहने के लिए तत्वों को भलीभांति जान कर ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करो, पापों का एक देश त्याग कर पांच अणुव्रत एवं सप्तशील (चार शिक्षाव्रत, तीन गुणव्रतों) का पालन करो, त दान में अपना चित्त लगाओ और शुद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र सहित निर्मल निर्विकारी समस्त कर्ममलों से रहित निज शुद्धात्म स्वरूप को देखो, भे विज्ञान पूर्वक व्रतादि के पालन रूप आचरण बनाने से शुद्ध चैतन्य स्वरू अनुभव में प्रत्यक्ष दिखाई देगा।

इन गुणों के प्रगट करने का मार्ग क्या है ? इसके समाधान में सदगु कहते हैं, अब चारित्र की शुद्धि करो।

सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दिढ़ चारित लीजे।
एक देश अरू सकलदेश तसु भेद कहीजे ॥

भेद विज्ञान पूर्वक जब सम्यग्दर्शन और ज्ञान की शुद्धि कर ली अर्था यह हृदय से स्वीकार कर लिया कि मुझे निज शुद्धात्मानुभूति हो गई औ वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्णय हो गया तो अब चारित्र की शुद्धि करो। इसव अपनी शक्ति और पात्रतानुसार पालन करो क्योंकि इसी से पात्रता बढ़ती है अभी सम्यग्दर्शन होने से चौथा गुणस्थान ही हुआ है, जहाँ स्वरूपाचर

चारित्र निज शुद्धात्मानुभूति अल्प समय की होती है। अव्रत, गृहस्थ दशा में रहते हुये, आत्मा का निरन्तर स्मरण नहीं रहता, अनुभूति जो अतीन्द्रिय आनन्द की स्थिति है, वह तो विशेष होती ही नहीं है इसलिए अब पात्रतानुसार अणुव्रत का पालन करो, ग्यारह प्रतिमाओं की साधना करो, इससे पात्रता बढ़ेगी, पाँचवां गुणस्थान होगा, जिससे विशेष आत्मानुभूति बढ़ेगी।

जिसे स्वभाव की महिमा जागी है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हुआ है ऐसे सच्चे आत्मार्थी को विशेष कषायों की महिमा टूटकर उनकी तुच्छता लगती है। कोई भी कार्य करते हुये उसे निरन्तर शुद्ध स्वभाव की ओर लक्ष्य बना ही रहता है। गृहस्थाश्रम में स्थित ज्ञानी को शुभाशुभ भाव से भिन्न ज्ञायक का अवलम्बन करने वाली ज्ञान धारा निरन्तर वर्तती रहती है परन्तु पुरूषार्थ की निर्बलता के कारण अस्थिर रूप विभाव परिणति बनी हुई है इसलिये उसको ग्रहस्थाश्रम सम्बंधी शुभाशुभ परिणाम होते हैं, स्वरूप में स्थिर नहीं रहा जाता, इसलिये वह विविध शुभ भावों से युक्त होता है। देव, गुरू की भक्ति, उनके गुणों का स्मरण, शास्त्र स्वाध्याय, सामायिक, ध्यान,संयम, तप, दान, अणुव्रत आदि पालन करने के शुभ भाव होते हैं।

जिसे भव भ्रमण से सचमुच छूटना हो उसे अपने को पर द्रव्य से भिन्न जानकर अपने ध्रुव ज्ञायक स्वभाव की महिमा लाकर, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र प्रगट करने का प्रयास करना चाहिये, यदि तत्व का श्रद्धान ध्रुव ज्ञायक स्वभाव का आश्रय न हो तो साधना का बल किसके आश्रय से प्रगट करेगा ?

साधक जीव की दृष्टि निरन्तर शुद्धात्म तत्व पर होती है तथापि साधक जानता सबको है, वह शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों को जानता है उसे स्वभाव, विभाव पने का, सुख-दु:ख रूप वेदन का, कर्मों के साधक-बाधकपने का विवेक वर्तता है। साधक दशा मे साधक के योग्य अनेक परिणाम वर्तते रहते हैं, पुरूषार्थ रूप क्रिया अपनी पर्याय में होती है और साधक उसे जानता है।

ज्ञानी का परिणमन विभाव से विमुख होकर स्वरूप की ओर ढलता है, ज्ञानी निज स्वभाव में परिपूर्ण रूप से रहने के लिये तरसता है।

पूर्ण रूप से अभेद ऐसे पूर्ण आत्म द्रव्य पर दृष्टि करने से उसी के आलम्बन से पूर्णता प्रगट होती है। लोगों का भय त्याग कर, शिथिलता छोड़कर

स्वयं दृढ़ पुरूषार्थ करना चाहिये। लोग क्या कहेंगे ? ऐसा देखने से अपने ध्रुवधाम में नहीं पहुँचा जा सकता। साधक को एक शुद्धात्मा का ही सम्बन्ध होता है। निर्भय रूप से उग्र पुरूषार्थ करना चाहिये, जिससे अपनी स्वरूप की स्थिति बने, यही गुण प्रगट करने का मार्ग है। लौकिक संग गृहस्थ दशा पुरूषार्थ मन्द होने का कारण होता है, महापुरूष विशेष ज्ञानी महात्माओं का संग, चैतन्य तत्व को निहारने की परिणति में विशेष वृद्धि का कारण होता है, इसलिये अव्रत दशा में रहते हुये, विशेष आत्मानुभूति न होने से आत्मा तड़फता रहता है। जब व्रत, नियम, संयम होता है, तब विशेष आत्मबल बढ़ता है। जिससे आत्मगुण प्रगट होते हैं, इसके लिए ग्यारह प्रतिमा रूप साधना का मार्ग प्रारम्भ होता है, जो निम्न प्रकार है-

संयम अंश जगो जहाँ, भोग अरूचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा को भयो, प्रतिमा ताको नाम ॥

जब संयम धारण करने का भाव उत्पन्न हो, विषय भोगों से अन्तरंग में उदासीनता पैदा हो, तब जो त्याग की प्रतिज्ञा की जाये, वह प्रतिज्ञा प्रतिमा कहलाती है।

जो धर्मात्मा पाक्षिक श्रावक की क्रियाओं का साधन करके शास्त्रों के अध्ययन द्वारा तत्वों का विशेष विवेचन करता हुआ, पंचाणुव्रतों का आरम्भ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और उत्तम क्षमादि धर्म पालन करने की निष्ठा युक्त पंचम गुणस्थानवर्ती हो वह नैष्ठिक श्रावक साधक कहलाता है, जो आगे चलकर महाव्रत रूप मुनि व्रत, साधु पद धारण करता है।

इन प्रतिमाओं का यथार्थ स्वरूप श्रावकाचार ग्रंथ से देखना, यहाँ संक्षेप में वर्णन किया जाता है-

(१) दर्शन प्रतिमा- धर्म या सम्यक्त्व की प्रतिमा (मूर्ति) जिसने सम्यग्दर्शन शुद्ध कर लिया है जो संसार, शरीर, भोगों से चित्त में विरक्त है, सप्त व्यसन का त्यागी, अष्ट मूलगुणों का पालन करता है, वह दर्शन प्रतिमा धारी है।

दर्शन प्रतिमा के पालन करने से मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य का सर्वथा अभाव होकर धर्म की निकटता होती है तथा व्रत धारण करने की शक्ति और

पात्रता होती है।

(२) व्रत प्रतिमा– जो अखंड सम्यग्दर्शन और अष्ट मूल गुणों का धारक मिथ्या, माया, निदान तीन शल्यों रहित, राग द्वेष के अभाव और साम्यभाव की प्राप्ति के लिये अतिचार रहित उत्तर गुणों को धारण करे, वह व्रत प्रतिमाधारी है। बारह व्रत निम्न प्रकार हैं – पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, इनका स्वरूप संक्षेप में निम्न प्रकार है, विशेष आगम ग्रंथों से देखें।

पापों का एक देश त्याग अणुव्रत है, सर्व देश त्याग महाव्रत है।

(१) अहिंसाणुव्रत – "प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा" (तत्वार्थ सूत्र) प्रमत्त योग अर्थात् कषायों के वश होकर प्राणों का नाश करना सो हिंसा है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय रूप परिणाम होना सो भाव हिंसा है और इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास, आयु प्राणों का विध्वंस करना सो द्रव्य हिंसा है। जिस प्रकार जीव को स्वयं अपनी भाव हिंसा के फल से चतुर्गति में भ्रमण करते हुये, नाना प्रकार दु:ख भोगने पड़ते हैं और द्रव्य हिंसा होने से अति कष्ट सहन करना पड़ते हैं, उसी प्रकार दूसरों के द्रव्य और भाव प्राणों की हिंसा करने से भी तीव्र कषाय और तीव्र बैर उत्पन्न होता है, जिससे जन्म जन्मान्तरों में महान दु:ख की प्राप्ति होती है।

अहिंसा व्रत की पाँच भावनायें – वचन गुप्ति, मनो गुप्ति, ईर्या समिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकितपान भोजन (सूर्य के प्रकाश में देख कर खाना पीना) यह पांच अहिंसाव्रत की भावनायें हैं।

हिंसा के चार भेद हैं – संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी, विरोधी।

व्रती श्रावक संकल्पी हिंसा का पूर्ण त्यागी होता है।

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार – बध, बंध, छेदन, अतिभारारोपण, अन्नपान निरोध।

(२) सत्याणुव्रत – कषाय भाव पूर्वक अयथार्थ बोलना, असत्य कहलाता है। दुष्टता रूप चुगली, हास्य, मिथ्या, कठोर, शास्त्र विरुद्ध व्यर्थ विरोध बढ़ाने वाले पाप रूप अप्रिय वचन कहना, सब असत्य के अन्तर्गत आते हैं, इनका त्याग करना सत्याणुव्रत है।

सत्य व्रत की पाँच भावनायें – क्रोध, लोभ, भय, हास्य का त्याग और अनुवीचि भाषण (शास्त्र आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना) यह पांच सत्यव्रत की भावनायें हैं।

सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार – मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेख क्रिया, न्यासापहार, साकार मंत्र भेद। इन दोषों को बचाना चाहिए।

(३) अचौर्याणुव्रत – कषाय भाव युक्त होकर दूसरे की वस्तु उसके दिये बिना या बिना आज्ञा के ले लेना चोरी है "जल मृतिका बिन और नाहिं कछु गहै अदत्ता।" इस वाक्य के अनुसार अचौर्यव्रत पालन करना चाहिए।

अचौर्याणुव्रत की पाँच भावना – शून्यागार अर्थात् पर्वत, गुफा, तट आदि पर निवास, विमोचितावास (त्यक्त स्थानों में रहना), परोपरोधाकरण (अपने स्थान में किसी को ठहरने से न रोकना), भैक्ष्य शुद्धि (शास्त्रानुसार भिक्षा की शुद्धि रखना), सधर्माविसंवाद (साधर्मी भाइयों से विसम्वाद नहीं करना) यह अचौर्य व्रत की भावनायें हैं।

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार – चौर प्रयोग, चौरार्थादान, विरूद्ध राज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान, प्रतिरूपक व्यवहार।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत – स्व स्त्री के सिवाय और सब पर स्त्रियों का त्याग करना ही गृहस्थ का ब्रह्मचर्याणुव्रत है (वेश्या, दासी, पर स्त्री, कुमारी आदि) सेवन का सर्वथा त्याग, तथा स्व स्त्री से भी हटकर ब्रह्मचर्य पालना, ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत की पाँच भावना – स्त्री राग की कथादि सुनने का त्याग, स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग, पहले भोगे हुये विषयों के स्मरण का त्याग, काम वर्धक गरिष्ठ भोजन का त्याग, अपने शरीर संस्कारों (श्रंगार) का त्याग, यह ब्रह्मचर्याणुव्रत की पाँच भावनायें हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार– पर विवाहकरण, इत्वरिका परिग्रहीता गमन, इत्वरिका अपरिग्रहीता गमन, अनंग क्रीड़ा, कामतीव्राभिनिवेश।

(५) परिग्रह प्रमाण अणुव्रत – आत्मा के सिवाय जितने भी राग द्वेषादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, औदारिकादि नो कर्म तथा शरीर सम्बन्धी, स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, गृह, क्षेत्र, वास्तु, वर्तन आदि चेतन, अचेतन पदार्थ हैं

सो सब पर हैं, इन्हें ग्रहण करना, वा इसमें ममत्व भाव रखना सो परिग्रह है। इस परिग्रह का आवश्यकतानुसार परिमाण करना परिग्रह प्रमाण अणुव्रत है।

परिग्रह प्रमाण अणुव्रत की पाँच भावना - पाँच इन्द्रियों के मनोज्ञ (इष्ट) विषय में राग तथा अमनोज्ञ (अनिष्ट) विषयों में द्वेष का त्याग, परिग्रह त्याग की पाँच भावनायें हैं।

परिग्रह प्रमाण अणुव्रत के पाँच अतिचार - (१) प्रयोजन से अधिक वस्तु रखना (२) आवश्यकता की वस्तुओं का अति संग्रह करना (३) दूसरों का वैभव देखकर इच्छा करना, वैसा चाहना (४) अति लोभ करना (५) मर्यादा से रहित बोझ लादना।

यह पाँच पापों के स्थूल त्याग से बहुत सी प्रमाद कषाय जनित आकुलता व्याकुलतायें घट जाती हैं, पाप बन्ध नहीं होता, शुभ कार्यों में विशेष प्रवृत्ति होती है, जिससे आगामी स्वर्गादि सुखों की और परम्परा से शीघ्र ही मोक्ष के सुख की प्राप्ति होती है।

सप्तशीलों में तीन गुणव्रत तो अणुव्रत को दृढ़ करते हैं, उनकी रक्षा करते हैं और चार शिक्षाव्रत, मुनिव्रत की शिक्षा देते हैं। उनसे सम्बन्ध कराते हैं।

तीन गुणव्रत - (१) दिग्व्रत - पापों की निवृत्ति हेतु दशों दिशाओं में आने जाने की सीमा बांध लेना दिग्व्रत है।

(२) देशव्रत - प्रमाण की हुई सीमा में प्रतिदिन आवश्यकतानुसार गमनागमन की प्रतिज्ञा करना देशव्रत है।

(३) अनर्थ दण्ड व्रत - जिनसे धर्म की हानि होती हो, जो धर्म विरूद्ध, लोक विरूद्ध, जाति विरूद्ध क्रियायें, ऐसे कार्यों का त्याग करना, अनर्थ दंड त्याग व्रत है।

इसके पाँच भेद हैं - (१) पापोपदेश (२) हिंसादान (३) अपध्यान (४) विकथा कहना, सुनना और (५) प्रमाद चर्या।

चार शिक्षाव्रत - (१) सामायिक - समता भाव में आकर आर्त, रौद्र भावों का त्याग कर संकल्प-विकल्प से रहित धर्म ध्यान करना, इसमें निराकुल, एकान्त स्थान में बैठ कर, मंत्र जप, स्तुति पाठ, आत्म चिन्तवन करना

सामायिक है, प्रात: सायं और मध्यान्ह में प्रतिदिन करना चाहिए।

(२) प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत – अष्टमी, चतुर्दशी को सम्पूर्ण पापा
से रहित होकर, एकासन या उपवास करना और धर्म ध्यान में समय
सदुपयोग करना, प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है। (सप्ताह में एक दिन छु
मनाना, समस्त आरम्भ, परिग्रह से विरक्त रहना।

(३) भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत – रागादि भावों को मंद करने
लिए भोग–उपभोग का परिमाण करना, भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत है

जो वस्तु एक बार भोगने में आवे, उसे भोग कहते हैं, जैसे–भोज
पान आदि। जो वस्तु बारम्बार भोगने में आवे, उसे उपभोग कहते हैं, जैस
वस्त्र, आसन, वाहन आदि।

(४) अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत – जो कुछ भी अपने पास है,
आवश्यकतानुसार दूसरों को देना, मिल बाँट कर खाना, गरीब जरूरत
लोग एवं अतिथि, त्यागी, साधु आदि को आवश्यकतानुसार दान देना, अति
संविभाग व्रत है।

इस प्रकार अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह करते हुये, अपने भावों
शुद्धि करना वा पाप, परिग्रह, इन्द्रिय विषय, आरम्भ, परिग्रह का घटन
प्रतिमाओं का बढ़ना है। इस प्रकार दूसरी व्रत प्रतिमा का संक्षेप में व
किया, विशेष श्रावकाचार देखें।

(३) सामायिक प्रतिमा – राग द्वेष रहित होकर शुद्धात्म स्वरू
उपयोग को स्थिर करना वह सामायिक प्रतिमा है। इस सामायिक की वि
के लिये बारह भावना, पंच परमेष्ठी का स्वरूप, पदस्थ, पिंडस्थ ध्या
आत्मा के स्वभाव विभाव का चिन्तवन, एवं आत्म स्वरूप में उपयोग वि
करने का अभ्यास करना, इसको तीनों समय संधि काल में जघन्य ४८ मि
करना आवश्यक है।

(४) प्रोषध प्रतिमा – अष्टमी, चतुर्दशी को १६ प्रहर तक आ
आरम्भ, विषय कषाय रहित होकर धर्म ध्यान में उत्कृष्ट प्रवृत्ति करना, प्रो
प्रतिमा है।

(५) सचित्त त्याग प्रतिमा – सचित्त भक्षण का त्याग, स्व द

परदया व जिव्हा इन्द्रिय को वश करने के लिए करना और अपने आत्म स्वरूप में सावचेत रहना सचित्त त्याग प्रतिमा है। चित्त का चंचलपना मिट कर अपने आत्म स्वरूप की दृढ़ता होना ही सचित्त प्रतिमा है।

(६) अनुराग भक्ति प्रतिमा - अपने आत्म स्वरूप के प्रति तीव्र अनुराग भक्ति होना, ब्रह्मस्वरूप की स्थिरता के लिए तड़फना, अनुराग भक्ति प्रतिमा है।

नोट - श्री तारण स्वामी ने यह विशेष अनुभव प्रमाण प्रतिमा कही है जबकि अन्य श्रावकाचारों में रात्रि भुक्ति त्याग या दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा कही है।

(७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा - अपने ब्रह्म स्वरूप में रमण करना, लीन रहना, समस्त अब्रह्म भाव का त्याग होना, स्पर्शन इन्द्रिय का पूर्ण विजयी, ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी होता है।

शीलव्रत की नव बाड़ हैं (१) स्त्रियों के सहवास में न रहना (२) स्त्रियों को प्रेम रूचि से न देखना (३) स्त्रियों से रीझकर मीठे-मीठे वचन न बोलना (४) पूर्व काल में भोगे हुये भोगों का चिन्तवन न करना (५) गरिष्ठ भोजन नहीं करना (६) शरीर श्रंगार - विलेपन नहीं करना (७) स्त्रियों की सेज पर नहीं सोना बैठना (८) काम कथा न करना (९) भरपेट भोजन न करना।

ब्रह्मचर्य के दश दोषों को टालना त्याग करना -

दश दोष- (१) शरीर श्रंगार करना (२) पुष्ट रस सेवन करना (३) गीत, नृत्य वादित्र देखना, सुनना (४) स्त्रियों की संगति करना (५) स्त्रियों में किसी प्रकार काम भोग सम्बन्धी संकल्प करना (६)स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखना (७) स्त्रियों के अंगों के देखने का संस्कार हृदय में रखना (८) पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण करना (९) आगामी काम भोगों की बांछा करना (१०) वीर्य पतन करना।

इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से वीर्यान्तराय कर्म का विशेष क्षयोपशम होकर आत्मशक्ति बढ़ती है। तप, उपवासादि सहज में होते हैं, संसारी आकुलता मिट जाती है, परिग्रह की तृष्णा घटती है, इन्द्रियाँ वश में होती हैं, जिससे वचन शक्ति स्फुरायमान हो जाती है, ध्यान करने में अडिग चित्त लगता है,

कर्मों की विशेष निर्जरा होती है, जिससे मोक्ष शीघ्र प्राप्त होता है।

(८) आरम्भ त्याग प्रतिमा - जिन क्रियाओं में षट्काय के जीवों की हिंसा हो, वह आरम्भ है। आरम्भ करने से परिणामों में विकलता होती है अतः साम्य भाव में शान्त आत्मस्थ रहने के लिये समस्त आरम्भ का त्याग, आरम्भ त्याग प्रतिमा है। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, शिल्पादि षट् आजीवी कर्मों और पंच सूना (चक्की, चूल्हा, उखली, बुहारी, पनघट) सम्बंधी क्रियाओं के त्याग करने से हिंसादि पापों का अभाव होता है। आरम्भ सम्बंधी विकल्पों के अभाव से आत्म कार्य में चित्तवृत्ति स्थिर होने लगती है।

(९) परिग्रह त्याग प्रतिमा - राग-द्वेषादि आभ्यन्तर परिग्रहों की मंदता पूर्वक क्षेत्र, वास्तु आदि दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों में से आवश्यक वस्त्र और पात्र के सिवाय शेष सब परिग्रहों को त्यागता है और संतोष वृत्ति धारण करता है, वह परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी है।

(१०) अनुमति त्याग प्रतिमा - परिग्रह से चिन्ता, शोक, भय, आदि होते हैं, मूर्च्छा भाव रहता है, इसका त्याग करने से गृहस्थाश्रम सम्बंधी सब भार उतर जाता है, जिससे निराकुलता निर्विकल्प रहना अनुमति त्याग प्रतिमा है।

घर परिवार सम्बंधी आरम्भ की अनुमोदना करने से भी पाप का संचय और आकुलता की उत्पत्ति होती है, अतएव अनुमति त्याग होने से पंच पाप का नव कोटि से त्याग होकर पापाश्रव क्रियायें सर्वथा रूक जाती हैं।

(११) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा - यह ग्यारहवीं प्रतिमा अन्तिम सीढी है, इसके बाद, वीतराग, निर्ग्रन्थ, साधु पद होता है, यहाँ तक जिसके सारे संसारी उद्देश्य समाप्त हो गये, मुक्ति की उत्कृष्ट भावना हो गई, किसी प्रकार की कामना वासना नहीं रही, जो शरीर से भी निर्ममत्व हो गया, जिसके उत्कृष्ट भाव रत्नत्रय मयी निज शुद्धात्मा के ध्यान में लीन रहने के हो गये, जिसे अब किसी से कोई प्रयोजन रहा ही नहीं, जिसके भोजन का राग समाप्त हो गया, जो मन की शुद्धि, वचन की शुद्धि रखने वाला, काय की स्थिरता के लिए भिक्षा द्वारा अपने अनुकूल शुद्ध आहार ग्रहण करता है, वह उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी है।

इस प्रतिमाधारी के दो भेद होते हैं – १. क्षुल्लक २. ऐलक

उद्दिष्ट त्याग करने से पांचों पाप तथा परतन्त्रता का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस प्रतिमा से अणुव्रत, महाव्रत रूप हो जाते हैं, यहाँ प्रत्याख्याना वरण कषाय का जितना मन्द उदय होता जाता है, उतना बाहरी और अन्तरंग चारित्र बढ़ता जाता है। अपने शुद्धात्म स्वरूप की साधना और ध्यान की स्थिति, स्वरूपाचरण चारित्र बढ़ने लगता है। भावों में विशुद्धता होती जाती है, इससे मुनिव्रत धारण कर सिद्ध परम पद मोक्ष की प्राप्ति होती है।

बहुधा देखा जाता है कि कितने भाई बहिन अन्तरंग में आत्म कल्याण की इच्छा रखते हुये भी बिना तत्व ज्ञान प्राप्त किये, सम्यग्दर्शन से रहित दूसरों की देखा देखी श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में कही हुई प्रतिज्ञाओं में से कोई दो चार प्रतिज्ञायें अपनी इच्छानुसार नीची ऊँची यद्वा – तद्वा धारण कर त्यागी बन बैठते हैं और मनमानी स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं, इससे स्व पर कल्याण की बात तो दूर, उल्टी धर्म की बड़ी भारी हंसी और हानि होती है। ऐसे लोग "आप डुबन्ते पांड़े ले डूबे जिजमान" की कहावत के अनुसार स्वत: धर्म विरूद्ध प्रवृत्ति कर अपना अकल्याण करते हैं और दूसरों को भी ऐसा उपदेश दे उनका अकल्याण करते हैं, अतएव आत्म कल्याणार्थी भव्यों को उचित है कि पहले धर्म का वास्तविक स्वरूप समझें, मुक्ति के मार्ग को जानें, तत्वों का सही ज्ञान करें, अपने आत्मा के स्वभाव–विभाव को जानें, सम्यग्दर्शन सहित विभाव तजने और स्वभाव की प्राप्ति रूप अपने गुणों को प्रगट करने के लिए श्रावक तथा मुनिव्रत की साधक बाह्य और अन्तरंग क्रियायें व उनके फल को जानें, पीछे यथा शक्ति चारित्र अंगीकार करें।

यहाँ आचार्य श्री तारण स्वामी इसीलिये तत्वानि पेषं, कह रहे हैं कि तत्वों को भली भांति जानकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सहित अपने देवत्व पद के गुणों को प्रगट करने का प्रयास करना चहिए। यदि ध्रुव स्वभाव, सिद्ध स्वरूप का आश्रय न हो तो साधना का बल किसके आश्रय से प्रगट करेगा। ज्ञायक की ध्रुव धाम में दृष्टि जमने पर उसमें एकाग्रता रूप प्रयत्न करते करते निर्मलता प्रगट होती है।

पूर्ण गुणों से अभेद ऐसे पूर्ण आत्म द्रव्य पर दृष्टि करने पर उसी के आलम्बन से ज्ञानी को प्रगट होने वाली औपशमिक, क्षायोपशमिक भाव रूप पर्यायों का, व्यक्त होने वाली विभूतियों (गुणों) का वेदन होता है परन्तु उनका आलम्बन नहीं होता, उन पर जोर नहीं होता, उनका महत्व नहीं होता। जोर तो सदा अखंड शुद्ध द्रव्य पर ही होता है, क्षायिक भाव का भी आश्रय या आलम्बन नहीं लिया जाता, क्योंकि वह तो पर्याय है, विशेष भाव है। ध्रुव शुद्ध स्वभाव के आलम्बन से ही निर्मल गुण प्रगट होते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन सहित, ग्यारह प्रतिमा, पंचाणुव्रतों का पालन करने से पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक होता है, जो शुद्धात्म स्वरूप की साधना में रत रहता है, पर अभी भी वीतरागी न होने से आत्मस्थ की स्थिति नहीं बनती, सुख-शांति समता भाव तो हो जाता है, पर अतीन्द्रिय आनन्द आत्म स्वरूप में स्थित रहने के लिए मुनिव्रत साधु पद आवश्यक है, तभी पूर्ण वीतरागी होकर आत्म ध्यान की साधना से सिद्ध पद पाता है।

प्रश्न - साधु पद के लिए क्या करना पड़ता है ?

इसके समाधान में सद्गुरू आगे तेरहवीं गाथा कहते हैं-

गाथा - १३

मूलं गुनं पालंति जे विसुद्धं, सुद्धं मयं निर्मल धारयेत्वं ।
न्यानं मयं सुद्ध धरंति चित्तं, ते सुद्ध दिस्टी सुद्धात्म तत्वं ।।

शब्दार्थ- (मूलं गुनं) मूल गुणों को (पालंति) पालन करते हैं (जे) जो (विसुद्धं) विशुद्ध भावों से (सुद्धं मयं) शुद्ध निजानन्द मयी (निर्मल) सब कर्म मलों से रहित (धारयेत्वं) धारण करते हैं (न्यानं मयं) ज्ञानमयी (सुद्ध) शुद्ध (धरंति) धरते हैं (चित्तं)चित्त में (ते) वह (सुद्ध दिस्टी) शुद्ध दृष्टि (सुद्धात्म तत्वं) शुद्धात्म तत्व को पाते हैं।

विशेषार्थ- जो भव्य जीव विशुद्ध भावों से मूल गुणों का पालन करते हैं, अपने शुद्ध निजानन्द मयी, ममल स्वभाव की साधना करते हैं, मैं ज्ञान मयी शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ, ऐसा अपने चित्त में धरते हैं, वे शुद्ध दृष्टि शुद्धात्म तत्व सिद्ध पद को पाते हैं।

यहाँ साधु पद के लिए क्या करना पड़ता है ? उसके सम्बन्ध में सद्गुरू बता रहे हैं कि जो भव्य जीव अर्थात् सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, मूल गुणों का पालन करते हैं।

यहाँ प्रश्न आता है कि यह मूलगुण क्या हैं ? तो शुद्ध अध्यात्म दृष्टि से तो एक अपना शद्धात्म स्वरूप ममल स्वभाव ही साधने योग्य है, मैं ज्ञानमयी शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ, ऐसा अपने चित्त में दृढ़ श्रद्धान पूर्वक आत्म ध्यान करना ही साधु पद है। इसके लिये व्यवहार में पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति का पालन करना तथा जैन आगम के अनुसार अट्ठाईस मूलगुण का पालन करते हुये, शुद्धात्मा का ध्यान करना साधु पद है। यहाँ अन्य सम्प्रदाय, दिगम्बर, श्वेताम्बर और आगम के अनुसार साधु की चर्या व्यवहारिक आचरण में मत मतान्तर भेद हैं। मूल में शुद्धात्म तत्व की साधना, आत्मध्यान में लीन होना, तो सबका लक्ष्य है, पर व्यवहार चारित्र में भेद है। स्वयं श्री जिन तारणस्वामी ने ज्ञान समुच्चय सार और ममल पाहुड़ जी में साधु चारित्र निम्न प्रकार बताया है -

ज्ञान समुच्चयसार में गाथा क्रं. ३६५ से ६३० तक साधु के स्वरूप का वर्णन किया है जिसमें - दश धर्म से अहिंसा महाव्रत की शुद्धि, पंच चेल, दश दिशा, चौबीस परिग्रह, बारह तप, पाँच इन्द्रियां विजय होने पर होती है, तब साधु के दश सम्यक्त्व, पंच ज्ञान, तेरह विधि चारित्र, २८ मूलगुण प्रगट होते हैं। इनका कुछ वर्णन गाथा ११ में आ गया, विशेष ज्ञान समुच्चयसार का स्वाध्याय करें।

ममल पाहुड़ फूलना क्रं. ९० से ९२, गाथा १८३६ से १८७६ तक साधु के अट्ठाईस मूल गुण - दश दर्शन, पाँच ज्ञान, तेरह विधि चारित्र (पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति) यह बताये हैं, इन्हें समझने के लिए ममल पाहुड़ का स्वाध्याय करें।

जिसने आत्मा के मूल अस्तित्व को नहीं पकड़ा, स्वयं शाश्वत ध्रुव तत्व हूँ, अनन्त सुख से भरपूर हूँ ऐसा अनुभव करके शुद्ध परिणति की धारा प्रगट नहीं की, उसने भले सांसारिक इन्द्रिय सुखों को नाशवन्त और भविष्य

में दु:ख दाता जान कर छोड़ दिया हो और बाह्य मुनिपना ग्रहण किया हो, भले ही वह दुर्द्धर तप करता हो और उपसर्ग, परीषह में अडिग रहता हो तथापि उसे मुक्ति नहीं हो सकती, भले वह स्वर्गादिक देव गति चला जावे क्योंकि उसे शुद्ध परिणमन बिलकुल नहीं वर्तता, मात्र शुभ परिणाम ही रहते हैं, उन्हें ही उपादेय मानता है, वह भले ही नौ पूर्व का पाठी हो तथापि उसने आत्मा का मूलगुण द्रव्य सामान्य चैतन्य स्वरूप अनुभव पूर्वक नहीं जाना, इससे वह सब अज्ञान है।

मुनिराज कहते हैं, हमारा आत्मा तो अनन्त गुणों से भरपूर अनन्त अमृत रस से भरपूर अक्षय घट है, उस घट में से पतली धार से अल्प अमृत रस पिया जाये, ऐसे स्वसंवेदन से हमें संतोष नहीं होता, हमें तो प्रति समय पूर्ण अमृत का पान हो, ऐसी पूर्ण दशा चाहिए।

सच्चे भाव मुनि को तो शुद्धात्म द्रव्याश्रित मुनि योग्य उग्र शुद्ध परिणति चलती रहती है। कर्तापना तो सम्यग्दर्शन होने पर ही छूट गया है, उग्र ज्ञान धारा अटूट वर्तती रहती है, परम समाधि परिणमित होता है वे शीघ्र, शीघ्र, निजात्मा मे लीन होकर निज आनंद का वेदन करते रहते हैं। उनके प्रचुर स्व संवेदन होता है। वह दशा अद्भुत है, जगत से न्यारी है। पूर्ण वीतरागता न होने से उनके व्रत, तप, ज्ञान, ध्यान, आदि चलता रहता है, परन्तु वे उसे उपादेय नहीं मानते, ऐसी पवित्र मुनि दशा मुक्ति का कारण है।

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् आत्म स्थिरता बढ़ते-बढ़ते बारम्बार स्वरूप की लीनता होती रहे, ऐसी दशा हो तब मुनिपना आता है। मुनि को स्वरूप की ओर ढलती हुई, शुद्धि इतनी बढ़ गई होती है कि वे घड़ी-घड़ी आत्मा में प्रविष्ट हो जाते हैं। पूर्ण वीतरागता के अभाव के कारण जब बाहर आते हैं, तब विकल्प तो उठते हैं, पर वे स्वाध्याय, ध्यान, व्रत सम्बन्धी मुनि योग्य शुभ विकल्प ही होते हैं, पर वे भी रूचते नहीं है। मुनिराज को बाहर का कुछ भी नहीं चाहिए। बाह्य में एक शरीर मात्र का सम्बन्ध है। उसके प्रति भी परम उपेक्षा है। बड़ी नि:स्पृह दशा है। आत्मा की ओर ही लगन लगी है। छठे,

सातवें, गुणस्थान का झूला झूलते हैं, केवलज्ञान न हो तब तक ध्यान की शुद्धि बढ़ाते ही जाते हैं, यह मुनि की अन्त: साधना है। जगत के जीव मुनि की अन्तरंग साधना नहीं देखते। साधना कहीं बाहर की देखने योग्य नहीं है, अन्तर की सही हो, तो बाहर तो अपने आप अतिशय महिमा होती है।

मुनिराज को शुद्धात्म तत्व के उग्र अवलम्बन द्वारा आत्मा में संयम प्रगट हुआ है। सारा ब्रह्माण्ड पलट जाये, तथापि मुनिराज की यह दृढ़ संयम परिणति नहीं पलट सकती। बाहर से देखने पर तो मुनिराज आत्म साधना के हेतु वन में अकेले बसते हैं परन्तु अन्तर में देखें तो अनन्त गुणों से भरपूर ध्रुवधाम में उनका निवास है। बाहर से देखने पर भले ही वे क्षुधावन्त हों, तृषावन्त हों, उपवासी हों परन्तु अन्तर में देखा जाये तो वे आत्मा के मधुर अमृत रस अतीन्द्रिय आनन्द का आस्वादन कर रहे हैं। उपसर्ग का प्रसंग आवे तब भी मुनिराज को ऐसा लगता है कि अपनी स्वरूप की स्थिरता की परीक्षा का अवसर मिला है, इसलिए उपसर्ग मेरा मित्र है। मुनिराज के हृदय में एक आत्मा ही विराजता है, उनका सर्व प्रवर्तन आत्मा मय ही है, आत्मा के आश्रय से बड़ी निर्भयता प्रगट हुई है। घोर जंगल हो, घनी झाड़ी हो, सिंह, व्याघ्र दहाड़ते हों, मेघाच्छन्न डरावनी रात हो, चारों ओर अन्धकार व्याप्त हो, वहाँ गिरि गुफा में मुनिराज बस अकेले चैतन्य स्वरूप में ही मस्त होकर निवास करते हैं।

मुनिराज को एकदम स्वरूप रमणता जाग्रत रहती है। स्वरूप कैसा है? ज्ञान, आनन्दादि गुणों से भरपूर है, पर्याय में समता भाव प्रगट है, शत्रु-मित्र के विकल्प से रहित है, निर्मानता है। चाहे जैसे संयोग हों, अनुकूलता में आकर्षित नहीं होते, प्रतिकूलता में खेद नहीं करते। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों समदृष्टि सम भाव विशेष प्रगट होता जाता है।

मुनि धर्म शुद्धोपयोग रूप है, पुण्य-पाप, शुभाशुभ भाव धर्म नहीं है परन्तु शुद्धोपयोग ही धर्म है।

ज्ञानी अपने अनुभव से मार्ग बनाता आगे बढ़ता है, आगम और अन्य जीवों की स्थिति, देश, काल परिस्थिति, के अनुसार बाह्य आचरण परिवर्तनीय है। निश्चय साधना सबकी एक सी एक ही होती है क्योंकि -

एक होय त्रिकालमां परमार्थनो पंथ ।
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग: ।।

इसे सभी साधक स्वीकार करते हैं, इसकी साधना में बाह्य आच
कैसा होना चाहिए, कैसा होता है ? यह ज्ञानी साधक की पात्रता और परिस्थि
पर निर्भर है। आगम और अनुभव से स्वयं निर्णय कर अपना मार्ग बन
ज्ञानी का काम है।

यहाँ प्रश्न आता है कि इस प्रकार बाह्य आचरण में मतभेद
से विवाद और एक दूसरे के प्रति राग - द्वेष पैदा होते हैं, इसका
समाधान होगा ?

समाधान - इसका कोई समाधान नहीं है क्योंकि व्यवहार आच
किसी का एक सा हो नहीं सकता। सब जीवों के कर्मोदय, पात्रता, परिस्थि
संस्कार भिन्न - भिन्न होते हैं। एक घर में दश जीव हैं, तो सब के
आचरण, खान-पान, रहन-सहन, स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं, दो
और बाप-बेटे का व्यवहार आचरण एक-सा नहीं होता। अन्तरंग साधन
अनन्त ज्ञानियों का एक मत होता है और एक अज्ञानी के अनन्त मत होते
व्यवहार आचरण खान-पान, रहन-सहन को लेकर ही यह धर्म के नाम
इतने सम्प्रदाय और जातियाँ बनी हैं, जो धर्म के मूल को भूलकर बाहरी क्रि
कांड, पूजा-पाठ, खान-पान को लेकर आपस में लड़ते बैर विरोध में पड़े
जिससे स्वयं का भी अहित हो रहा है और दूसरों का भी हो रहा है। पर
तक सम्यग्ज्ञान न होवे वह भी क्या करें ? अज्ञान की महिमा भी अगम
अज्ञान भी जो न कराये थोड़ा है, इसलिए इस विवाद में न पड़कर अपने
स्वयं को देखना है, स्वयं का निर्णय करना है और स्वयं केअनुभव के आ
पर मुक्ति मार्ग पर चलना है, यहाँ संसार की अपेक्षा नहीं है। **सद्गुरू**
जिन तारण स्वामी कहते हैं कि संसार तो आवहि जावहि, हम तो सं
छुड़ावहि। यह मुक्ति का मार्ग तो स्वतंत्र व्यक्तिगत एकला चलने व
है, क्योंकि धर्म-कर्म में कोई किसी का साथी नहीं है। जो जैसा करे
उसका फल स्वयं उसे ही भोगना पड़ेगा। अपनी ओर देखें, अपना नि
करें इसी में अपना भला है।

यह विचार मत का ग्रंथ है, यहाँ भेदज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन सहित वस्तु स्वरूप का निर्णय करना है। ज्ञानी की स्थिति पर श्रावकपना, साधुपना, स्वयमेव आता है, इसलिए उनका संक्षेप में वर्णन किया है, विशेषता के लिए अन्य आगम ग्रंथ देखें।

जिसे आत्मा का हित करना हो, उसे प्रथम आगम का अभ्यास करके आत्म स्वभाव का सच्चा निर्णय करना चाहिए, सच्चे गुरू कैसे होते हैं ? सच्चे शास्त्र कैसे होते हैं ? उसका निर्णय करना चाहिए, जैसे संसार में व्यवहार में कोई वस्तु खरीदते हैं, लेते हैं तो चार जगह तपास कर उस वस्तु को देखभाल कर परीक्षा करके लेते हैं। पर धर्म के सम्बन्ध विचार नहीं करते, जिससे अपने जीवन का सम्बन्ध है, वर्तमान का, भविष्य का सम्बन्ध है। उसका भी अपनी बुद्धि पूर्वक निर्णय करना आवश्यक है। तभी इस अज्ञान मिथ्यात्व से छूट कर अपना भला कर सकते हैं।

प्रश्न – सबसे कठिन समस्या तो यही है कि ज्ञानी किसे मानें, और ज्ञानी कैसा होता है, यह कैसे जानें ?

इसके समाधान में सद्गुरू आगे चौदहवीं गाथा कहते हैं–

गाथा - १४

संकाय दोषं मद मान मुक्तं, मूढ़ं त्रयं मिथ्या माया न दिस्टं।
अनाय षट् कर्म मल पंचवीसं, तिक्तस्य न्यानी मल कर्म मुक्तं॥

शब्दार्थ- (संकाय दोषं) आठ शंकादि दोष (मद मान मुक्तं) आठ मद से मुक्त (मूढं त्रयं) तीन मूढ़ता (मिथ्या माया)छल कपट (न दिस्टं) नहीं देखते (अनाय षट् कर्म) छह अनायतन (मल पंचवीसं) यह पच्चीस मल (तिक्तस्य) छोड़कर (न्यानी) ज्ञानी (मल कर्म मुक्तं)सारे कर्म मलों से मुक्त हो जाते हैं।

विशेषार्थ- सम्यग्दृष्टि भव्य जीव शंकादि आठ दोष –

(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) मूढ़दृष्टि (५) अनुपगूहन (६) अस्थितिकरण (७) अवात्सल्य (८) अप्रभावना।

आठ मद– (१) जाति मद (२) कुल मद (३) रूप मद (४) बल मद

(५) विद्या मद (६) धन मद (७) ऋद्धि मद (८) पद मद से रहित होते हैं, वे भेदज्ञानी मिथ्या माया (छल कपट) से भरी तीन मूढ़ता - (१) देव मूढ़ता (२) लोक मूढ़ता (३) पाखंडी मूढ़ता को नहीं देखते, तथा छह अनायतन- (१) कुदेव (२) कुगुरू (३) कुधर्म और तीन इनके मानने वालों की मान्यता, प्रभावना, स्तुति, वंदना नहीं करते। इस प्रकार आठ दोष, आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन यह पच्चीस दोषों को त्याग कर, शुद्ध सम्यक्त्व के धारी, ज्ञानी, समस्त कर्म मलों से मुक्त हो जाते हैं (इन पच्चीस दोषों का विस्तृत विवेचन श्री तारण-तरण श्रावकाचार टीका में देखें)। ज्ञानी किसे मानें, ज्ञानी कैसा होता है ? इससे अपने आपको पहिचान लें।

ज्ञान होने के बाद ज्ञानी राग द्वेष आदि को अपना नहीं मानता, ज्ञानी अपने ज्ञान स्वभाव को जानता है कि यह ज्ञेय भाव और भावक भावों से भिन्न है।

ज्ञेय भाव- अन्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल यह छहों द्रव्य ज्ञेय भाव हैं।

भावक भाव - मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, द्रव्य कर्म, नो कर्म, मन, वचन, काय, कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन। इनके सम्बंध से होने वाले भाव, भावक भाव हैं। इनसे भिन्न मैं ज्ञान मात्र चैतन्य ज्योति स्वरूप शुद्धात्मा हूँ, ऐसा ज्ञान का स्व पर प्रकाशक स्वभाव है, ज्ञानी अपने श्रद्धा आदि अनन्त गुणों को जानता है और राग द्वेष मेरे में नहीं हैं, द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म से भिन्न अपने सत्स्वरूप को जानता है। रागादि विकल्प होने पर भी, ज्ञान दशा और आनन्द की दशा वर्तती रहती है, उसे भेद नही करना पड़ता है, स्वभाव संमुख हुआ है और रागादि से विलग हुआ है, उसे स्वभाव की ओर का पुरूषार्थ चलता रहता है।

जो आत्मा को अबद्ध, अस्पर्श, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त देखता है,जानता है, वह समस्त जिनशासन को जानता है।

जो ज्ञानी रागादि को उपयोग भूमि में न ले जावे, ज्ञान स्वरूप रहे, वह कर्म से नहीं बंधता, राग में राग होने से बंध होता है।

निज आत्मा को ज्ञायक स्वभाव रूप स्वीकार किये बिना कितने ही विकल्प किये जायें, उनसे मुक्ति नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि का मुख्य विचार एक ही रहता है कि जो लोभ क्रोधादि, प्रकृति वाले कर्म होते हैं, उन कर्मों के उदय के निमित्त से उत्पन्न हुये रागादिक भाव पर भाव हैं, ये मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वत: सिद्ध एक ज्ञायक स्वभाव रूप हूँ। इस विचार बल से ज्ञानी पर भावों से विरक्त रहकर उनको छोड़ देता है।

शुद्ध नय की दृष्टि से देखा जाये तो चैतन्य भाव के अतिरिक्त जितने भाव हैं, वह परभाव कहे गये हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, सुख-दु:ख, विचार, कल्पना, संकल्प आदि सब औपाधिक भाव हैं, इनमें विचार बुद्धि जैसे भाव तो प्रकृति के क्षयोपशम से हैं। क्रोधादि भाव प्रकृति के उदय से हैं। तब ये सभी भाव अचेतन हैं। चेतन तो एक शुद्ध चैतन्य है।

शुद्ध आत्म तत्व अविकार है, नित्य है, भेद दृष्टि से परे होने के कारण एक है, आत्मगुणों में व्यापक होने से व आत्मगुणों से बढ़ने के कारण ब्रह्म है। ऐसा स्वभाव होते हुये भी चूंकि प्रत्येक द्रव्य परिणमन शील है, सो आत्मा भी परिणमन शील है, अत: इस आत्मा की पर्यायें होती हैं, वे पर्यायें अनित्य हैं, अत: माया रूप कही जाती हैं, इस तरह ब्रह्म और माया की संधि है, अविकार होते हुये भी यह माया का आधार है। यह रहस्य जिन्हें प्रगट हो गया, वे विवेकी हैं और फिर माया की दृष्टि न रखकर जो एक परम ब्रह्म की दृष्टि रखते हैं, वे परम विवेकी हैं। समयसार के परिज्ञान का प्रयोजन निर्विकल्प समाधि की सिद्धि है। जिसके बल से समस्त कर्म कलंकों से मुक्त पूर्ण ज्ञान की सिद्धि व अनन्त आनन्द की निष्पत्ति होती है।

जब तक यथाख्यात चारित्र नहीं होता, तब तक सम्यग्दृष्टि के दो धारायें रहती हैं- (१) शुभाशुभ कर्मधारा (२) ज्ञानधारा। उन दोनों के एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। ऐसी स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंश में ज्ञान धारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है।

मोक्षमार्गी (तारण पंथी) जीव, ज्ञान रूप परिणमित होते हुये शुभा शुभ कर्मों को, शुभाशुभ भावों को हेय जानते हैं और शुद्ध परिणति को

ही उपादेय जानते हैं। वे मात्र अशुभ कर्मों को ही नहीं किन्तु शुभ कर्मों को भी छोड़कर स्वरूप में स्थिर होने के लिये निरन्तर उद्यमी रहते हैं, वे सम्पूर्ण स्वरूप स्थिर होने तक पुरूषार्थ करते ही रहते हैं। जब तक पुरूषार्थ की अपूर्णता, कमजोरी के कारण शुभाशुभ परिणामों से छूटकर स्वरूप में सम्पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ जा सकता, तब तक यद्यपि स्वरूप स्थिरता का आन्तरिक आलम्बन अंतः साधन तो शुद्ध परिणति स्वयं ही है तथापि आन्तरिक आलम्बन लेने वाले को जो बाह्य आलम्बन रूप होते हैं, ऐसे देव, गुरू, शास्त्र, संयम, तप आदि शुभ परिणामों में वे जीव हेय बुद्धि से प्रवर्तते हैं किन्तु शुभ कर्मों को निरर्थक मानकर उन्हें छोड़कर स्वच्छन्द रूप से अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होने की बुद्धि कभी नहीं होती। ऐसे एकान्त अभिप्राय से रहित जीव कर्मो का नाश करके संसार से निवृत्त होते हैं।

जब अन्तरंग में ज्ञान और रागादि का भेद करने का तीव्र अभ्यास करने से भेदज्ञान प्रगट होता है, तब यह ज्ञात होता है कि ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का ही है, ज्ञान में जो रागादि की कलुषता, आकुलता रूप संकल्प विकल्प भाषित होते हैं, वे सब कर्मोदय जन्य पुद्गल विकार हैं इस प्रकार ज्ञान और रागादि के भेद का स्वाद आता है अर्थात् अनुभव होता है, तब आनन्दित होता है, परम आल्हाद रूप प्रमुदित प्रसन्न होता है।

जिसे भेदविज्ञान हुआ है, वह आत्मा जानता है कि आत्मा कभी ज्ञान स्वभाव से छूटता नहीं है, ऐसा जानता हुआ वह कर्मोदय के द्वारा तप्त होता हुआ भी रागी, द्वेषी, मोही नहीं होता परन्तु निरन्तर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, जिस प्रकार लोहा आदि अपना स्वरूप नहीं छोड़ते।

ज्ञानी जब आत्मा और कर्म के भेद विज्ञान के द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा को उपलब्ध करता है, अनुभव करता है, तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग स्वरूप अध्यवसान जो कि आश्रव भाव के कारण हैं, उनका अभाव होता है। अध्यवसानों का अभाव होने पर राग, द्वेष, मोह रूप आश्रव भाव का अभाव होता है। आश्रव भाव का अभाव होने पर कर्म का अभाव होता है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को पच्चीस मल दोषों का अभाव होने पर यह

नि:शंकितादि आठ गुण प्रगट होते हैं, इससे अपने ज्ञानी–अज्ञानीपने का निर्णय कर लें।

(१) जो सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान श्रद्धान में नि:शंक हो, भय के निमित्त से स्वरूप से चलित न हो अथवा संदेह युक्त न हो, उसके नि:शंकित गुण होता है।

(२) जो कर्म फल की बांछा न करे तथा अन्य वस्तु के धर्मों की बांछा न करे उसके नि:कांक्षित गुण होता है।

(३) जो वस्तु के धर्मों (स्वभाव) के प्रति ग्लानि न करे, उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है।

(४) जो स्वरूप में मूढ़ न हो, स्वरूप को यथार्थ जाने, उसके अमूढ़ दृष्टि गुण होता है।

(५) जो आत्मा को शुद्ध स्वरूप में स्थित करे, आत्मा की शक्ति बढ़ावे, और अन्य धर्मों को गौण करे, उसके उपगूहन गुण होता है।

(६) जो स्वरूप से च्युत होते हुये, आत्मा को स्वरूप मे स्थापित करे, उसके स्थितिकरण गुण होता है।

(७) जो अपने स्वरूप के प्रति विशेष अनुराग रखता है, उसके वात्सल्य गुण होता है।

(८) जो आत्मा के ज्ञान गुण को प्रकाशित करे, प्रगट करे, उसके प्रभावना गुण होता है।

इस प्रकार नवीन बंध को रोकता हुआ, ज्ञानी अपने आठ गुणों से युक्त होने के कारण निर्जरा प्रगट होने से पूर्व बद्ध कर्मों का नाश करता हुआ अपने निजानन्द में मस्त रहता है।

चाहे जैसे शुभाशुभ कर्म का उदय आवे, जिसके भय से तीन लोक के जीव कांप उठें पर ज्ञानी, अपने ज्ञानभाव से चलायमान नहीं होता।

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाण मइयो सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणु मेतंपि ॥३७, समयसार॥

निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञान मय हूँ, सदा अरूपी हूँ। किंचित् मात्र भी अन्य पर द्रव्य, परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चय है।

प्रश्न – यह सब निर्णय होने के बाद फिर ज्ञानी करता क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरू तारण स्वामी आगे १५ वीं गाथा कहते हैं-

गाथा - १५

सुद्धं प्रकासं सुद्धात्म तत्वं, समस्त संकल्प विकल्प मुक्तं।
रत्नत्रयं लंकृत विस्वरूपं, तत्वार्थ सार्धं बहुभक्ति जुक्तं ॥

शब्दार्थ- (सुद्धं प्रकासं) शुद्ध प्रकाशमयी ज्ञानज्योति (सुद्धात्म तत्वं) शुद्धात्म तत्व (ब्रह्म स्वरूपी) है, (समस्त) सारे (संकल्प विकल्प) मन के चलने वाले भूत, भविष्य के भाव से (मुक्तं)मुक्त, रहित है (रत्नत्रयं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र से (लंकृत) अलंकृत, परिपूर्ण है (विस्व रूपं) अपना सत्स्वरूप है (तत्वार्थ सार्धं) प्रयोजन भूत की साधना (बहु) बहुत (भक्ति) श्रद्धा भक्ति पूर्वक (जुक्तं) लीन होकर अथवा युक्ति पूर्वक करता है।

विशेषार्थ - शुद्धात्म तत्व सदैव शुद्ध प्रकाशमयी अर्थात् ज्ञान स्वरूपी है। सिद्ध के समान शुद्ध चिद्विलासी निजआत्मा समस्त संकल्प - विकल्पों से रहित रत्नत्रय से सुशोभित विशेष महिमामयी स्वयं का ही स्वरूप है।

ज्ञानी साधक इष्ट प्रयोजनीय निज शुद्धात्म तत्व की बहुत भक्ति युक्त होकर साधना करता है।

ज्ञानी क्या करता है ? ज्ञानी अन्तरंग में चैतन्य मात्र परम वस्तु को देखता है और शुद्ध नय के आलम्बन द्वारा उसमें एकाग्र होता जाता है, उस पुरुष को तत्काल सर्व रागादिक आश्रव भावों का सर्वथा अभाव होकर सर्व अतीत अनागत और वर्तमान पदार्थों को जानने वाला निश्चल अतुल केवलज्ञान प्रगट होता है।

सतत् रूप से अखंड ज्ञान की सद्भावना वाला आत्मा अर्थात् मैं अखंड ज्ञान हूँ ऐसी सच्ची भावना जिसे निरन्तर वर्तती है वह आत्मा संसार के घोर विकल्प को नहीं पाता किन्तु निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता हुआ पर परिणति से दूर अनुपम, अनघ, चिन्मात्र (चैतन्य मात्र आत्मा को) प्राप्त होता है।

आत्मा, निर्दंड, निर्द्वंद, निर्मम, नि:शरीर, निरालम्ब, नीराग, निर्दोष, निर्मूढ़ और निर्भय है। आत्मा, निर्ग्रन्थ, नीराग, नि:शल्य, सर्व दोष विमुक्त, निष्काम, नि:क्रोध, निर्मान और निर्भय है। (नियमसार गाथा ४३, ४४)

जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चेतना गुण वाला, अशब्द, अलिंग ग्रहण और जिसे कोई संस्थान नहीं कहा है, ऐसा जानता है।

जिस प्रकार लोकाग्र में सिद्ध भगवन्त, अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय निर्मल और विशुद्धात्मा हैं, उसी प्रकार अपना स्वरूप तथा संसार के प्रत्येक जीव का स्वरूप जानता है।

पर ब्रह्म के अनुष्ठान में निरत, अर्थात् शुद्धात्म तत्व के ध्यान में लीन बुद्धिमान पुरूषों को अन्तर्जल्प होता ही नहीं, बहिर्जल्प की तो बात ही क्या है अर्थात् सारे संकल्प – विकल्प से रहित होते हैं।

शुद्ध निश्चय से (१) सदा निरावरण स्वरूप (२) शुद्ध ज्ञान रूप (३) सहज चित्शक्ति मय (४) सहज दर्शन के स्फुरण से परिपूर्ण मूर्ति और (५) स्वरूप में अविचल स्थिति रूप सहज यथाख्यात चारित्र वाले ऐसे मुझे समस्त संसार क्लेश के हेतु क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है।

इन विविध विकल्पों से भरी हुई विभाव पर्यायों का निश्चय नय से मैं कर्ता नहीं हूँ कारयिता नहीं हूँ। मैं शरीर सम्बन्धी बाल आदि अवस्था भेदों को नहीं करता, सहज चैतन्य के विलास स्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ।

इस अति निकट भव्यजीव को सम्यग्ज्ञान की भावना किस प्रकार से होती है, ऐसा प्रश्न किया जाये तो, श्री गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में २३८ वें श्लोक द्वारा कहते हैं–

भावयामि भवावर्ते, भावना: प्राग् भाविता: ।
भावये भावितानेति, भवाभावाय भावना: ॥

भवावर्त में पहले न भायी हुई भावनायें अब मैं भाता हूँ। वे भावनायें पहले न भायी होने से मैं भव के अभाव के लिए उन्हें भाता हूँ।

मैं ममत्व को छोड़ता हूँ और निर्ममत्व में स्थित होता हूँ, आत्मा मेरा आलम्बन है और शेष मैं छोड़ता हूँ।

वास्तव में मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में आत्मा है तथा चारित्र में

आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है, मेरे संवर में तथा योग में, शुद्धोपयोग में आत्मा है। वही एक चैतन्य ज्योति ही परम ज्ञान है, वही एक पवित्र दर्शन है। वही एक चारित्र है तथा वही एक निर्मल तप है।

मरता अकेला जीव एवं जन्म एकाकी करे।
पाता अकेला ही मरण अरू मुक्ति एकाकी वरे ॥

आत्मा अपने अज्ञान से स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं संसार में भ्रमता है तथा स्वयं संसार से मुक्त होता है। स्वयं के किए हुये कर्म के फलानुबन्धों को स्वयं भोगने के लिए अकेला जन्म में तथा मृत्यु में प्रवेश करता है। अन्य कोई, स्त्री, पुत्र, मित्रादिक, सुख, दु:ख के प्रकारों में बिल्कुल सहायभूत नहीं होते, अपनी आजीविका के लिये मात्र अपने स्वार्थ के लिए स्त्री, पुत्र, मित्रादिक, ठगों की टोली मुझको मिली है। अब इनसे सावधान हो। ज्ञान, दर्शन, लक्षण वाला शाश्वत एक आत्मा मेरा है, शेष सब संयोग लक्षण वाले भाव मुझसे बाह्य हैं।

हे आत्मन्! स्वाभाविक बल सम्पन्न ऐसा तू आलस्य छोड़कर, उत्कृष्ट समता रूपी कुलदेवी का स्मरण करके अज्ञान मंत्री सहित मोह शत्रु का नाश करने वाले इस सम्यग्ज्ञान रूपी चक्र को ग्रहण कर।

इस प्रकार जो आत्मा, आत्मा को, आत्मा द्वारा आत्मा में अविचल निवास वाला देखता है, वह अतीन्द्रिय आनन्द मय ऐसे लक्ष्मी के विलासों को अल्पकाल में प्राप्त करता है।

जिसने ज्ञान ज्योति द्वारा पाप तिमिर के पुंज का नाश किया है और जो सनातन है, ऐसा आत्मा परम संयमियों के चित्त कमल में स्पष्ट है। वह आत्मा संसारी जीवों के वचन तथा मन के मार्ग से अगोचर है। इस निकट परम पुरूष में विधि क्या और निषेध क्या ?

सर्व संग से निर्मुक्त, निर्मोह रूप, अनघ और परभाव से मुक्त ऐसे इस शुद्धात्म तत्व को मैं सम्यक्रूप से भाता हूँ और नमन करता हूँ।

आत्मा निरन्तर द्रव्य कर्म और नो कर्म के समूह से भिन्न है, अन्तरंग में शुद्ध है और शम - दम गुण रूपी कमलों को राज हंस है। सदा आनन्दित, अनुपम गुण वाला और चैतन्य चमत्कार की मूर्ति ऐसा यह आत्मा ज्ञान ज्योति

। अन्धकार दशा का नाश करके अत्यन्त प्रकाशमान शुद्धात्म तत्व । है।

शुद्धात्म तत्व परम प्रकाशमान केवलज्ञान ज्योति स्वरूप लोकालोक ।शक है, समस्त संकल्प विकल्प से रहित है अर्थात् मनादि में होने वाले ों से मुक्त रत्नत्रय मयी परम ब्रह्म परमात्म स्वरूप है, ऐसा ही मेरा वरूप है, ऐसा भेदज्ञान पूर्वक सत्श्रद्धान, ज्ञान करके ज्ञानी अपने सत्स्वरूप बड़ी भक्ति-युक्ति से साधना करता है।

ज्ञानी का मार्ग-संकल्प, विवेक और युक्ति से पुरूषार्थ करना है।

प्रश्न - ज्ञानी इस प्रकार की अपने शुद्धात्म तत्व की साधना करता इससे होता क्या है?

इसके समाधान में सद्गुरू तारण स्वामी आगे सोलहवीं गाथा कहते

गाथा - १६

ो धर्म लीना गुन चेतनेत्वं, ते दुष्य हीना जिन सुद्ध दिस्टी।
ंप्रोषि तत्वं सोइ न्यान रूपं, ब्रजंति मोष्यं षिनमेक एत्वं ।।

शब्दार्थ- (जे) जो भव्य जीव (धर्म लीना) अपने शुद्ध स्वभाव में । होते हैं (गुन चेतनेत्वं) जो चैतन्य गुण वाला है (ते) वह (दुष्य हीना) स्त दुःखों से रहित (जिन) सर्वत्र परमात्मा - जिनेन्द्र हैं (सुद्ध दिस्टी) ग्दृष्टि (संप्रोषि तत्वं) समस्त तत्व, सत्ताईस तत्व रूप विश्व (सोइ) उनके ान रूपं) केवलज्ञान में झलकता है (ब्रजंति) चले जाते हैं (मोष्यं) मोक्ष में नमेक एत्वं) एक क्षण मात्र में।

विशेषार्थ- जो भव्य जीव - चिदानन्द, चैतन्य गुण मयी शुद्ध धर्म । शुद्ध स्वभाव में लीन होते हैं, वे शुद्ध दृष्टि समस्त दुःखों से अर्थात् घातिया ों से रहित जिनेन्द्र परमात्मा हो जाते हैं। उनके केवलज्ञान स्वरूप में ूर्ण तत्व पूरे विश्व का त्रिकालवर्तीपना झलकता है और वे एक क्षणमात्र में । चले जाते हैं अर्थात् आयुआदि अघातिया कर्मों का अभाव होते ही सिद्ध ात्मा हो जाते हैं।

शुद्धात्मा की साधना से क्या होता है ? मुमुक्षु जीव तीन लोक को जानने वाले निर्विकल्प शुद्ध तत्व की साधना करके सिद्धि को प्राप्त करता है अर्थात् सिद्ध परमात्मा होता है।

जो अनवरत रूप से अपने अखंड - अद्वैत, चैतन्य, स्वरूप में विलास करता है, उसको लोकालोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है वह समस्त दु:खों से छूट जाता है और जिनेन्द्र परमात्मा हो जाता है। सहज तेज पुंज में निमग्न ऐसा वह प्रकाशमान सहज परमतत्व जयवन्त है कि जिसने मोहांधकार को दूर किया है, जो सहज परम दृष्टि से परिपूर्ण है और जो वृथा उत्पन्न भव - भव के परितापों से तथा कल्पनाओं से मुक्त है। जिसका निज विलास प्रगट हुआ है, जो सहज - परम सौख्य वाला है तथा जो चैतन्य चमत्कार मात्र है, उसका सर्वदा अनुभवन करता है।

यह अनघ (निर्दोष) आत्म तत्व जयवन्त है कि जिसने संसार को अस्त किया है, जिसने भव का कारण छोड़ दिया है, जो एकान्त से शुद्ध प्रगट हुआ है तथा जो सदा निज महिमा में लीन होने पर भी सम्यग्दृष्टियों को गोचर है।

सम्यग्दृष्टि जीव संसार के मूलभूत सर्व पुण्य-पाप को छोड़कर नित्यानन्द मय सहज शुद्ध चैतन्य रूप जीवास्तिकाय को प्राप्त करता है। वह शुद्ध जीवास्तिकाय में सदा विहरता है और फिर त्रिभुवनजनों से (तीन लोक के जीवों से) अत्यन्त पूजित ऐसा जिन होता है।

इस निर्दोष परमानन्द में तत्व के आश्रित धर्म ध्यान में और शुक्ल ध्यान में जिसकी बुद्धि परिणमित हुई है, ऐसा शुद्ध रत्नत्रयात्मक जीव ऐसे किसी विशाल तत्व को अत्यन्त प्राप्त करता है कि जिस तत्व में से महा दु:ख समूह नष्ट हुआ है और जो तत्व भेदों के अभाव के कारण जीवों को मन और वचन के मार्ग से दूर है।

इस अविचलित, महा शुद्ध रत्नत्रय वाले मुक्ति के हेतुभूत निरूपम, सहज ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप, नित्य आत्मा में आत्मा को वास्तव में सम्यक् प्रकार से स्थापित करके यह आत्मा चैतन्य चमत्कार की भक्ति द्वारा निरतिशय को जिसमें से सब विपदायें दूर हुई हैं तथा जो परम आनन्द से शोभायमान है, उसे प्राप्त करता है, सिद्धि का स्वामी होता है।

गुरू के सान्निध्य में निर्मल सुखकारी धर्म को प्राप्त करके, ज्ञान द्वारा
ने समस्त मोह की महिमा नष्ट कर दी है तथा राग द्वेष की परम्परा रूप से
गत चित्त को छोड़कर शुद्धध्यान द्वारा एकाग्र शान्त किये हुये, मन से
न्दात्मक तत्व में स्थित रहता हुआ पर ब्रह्म में शुद्धात्म तत्व में लीन होता
स प्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ अर्थात्
धर्म रूप से परिणमित होता हुआ, नित्य आनन्द के विस्तार से सरस,
ज्ञान तत्व में लीन होकर अत्यन्त अविचलपने के कारण दैदीप्यमान केवल
ज्योति वाले और सहज रूप से विलसित रत्न दीपक की निष्कंप, प्रकाश
ी शोभा को प्राप्त होता है।

**प्रश्न - ज्ञानी अपने शुद्धात्म तत्व की साधना करके मुक्ति को
त कर लेता है, फिर यह व्रत नियम, संयम, तप, त्याग, साधु पद
दे करता है या नहीं ?**

इसके समाधान में सद्गुरू तारण स्वामी आगे गाथा कहते हैं-

गाथा- १७

पुद्ध दिस्टी संमिक्त सुद्धं, माला गुनं कंठ हिदय विरूलितं।
ार्थ सार्धं च करोति नित्वं, संसार मुक्तं सिव सौष्य वीर्जं ॥

शब्दार्थ- (जे) जो (सुद्ध दिस्टी) सम्यग्दृष्टि (संमिक्त सुद्धं) सम्यक्त्व
ुद्ध अर्थात्-क्षायिक सम्यक्त्वी (माला गुनं) ज्ञान गुणों की माला अर्थात्
ात्म स्वरूप (कंठ) गला-गर्दन में अर्थात् स्मरण में (हिदय) मन आदि
ः करण में अर्थात् ध्यान में (विरूलितं) झुलती हुई देखते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष
भूति करते हैं (तत्वार्थ सार्धं) प्रयोजन भूत तत्व (शुद्धात्म तत्व) की साधना
और (करोति) करते रहते हैं (नित्वं) हमेशा (संसार मुक्तं) संसार
भ्रमण जन्म-मरण) से मुक्त होकर (सिव सौष्य वीर्जं) इसी पुरूषार्थ से
नाशी शिव सुख-सिद्ध पद को पाते हैं।

विशेषार्थ - निज स्वभाव के अनुभव से जिनकी दृष्टि शुद्ध हुई है, जो
क्त्व से शुद्ध हैं, वे ज्ञानी अपने हृदय कंठ में ज्ञान गुणों की माला झुलती
देखते हैं अर्थात् उन्हें अपने शुद्धात्मा का स्मरण ध्यान रहता है और

समस्त पर से अपनी दृष्टि हटाकर अपने इष्ट शुद्धात्म तत्व की साधना में रत रहते हैं। इसी सत्पुरूषार्थ से ज्ञानी संसार से मुक्त होकर मुक्ति के ब्रह्मानन्दमयी अनन्त सुख को प्राप्त करते हैं।

फिर यह व्रत, नियम, संयम, तप, त्याग, साधु पद आदि करते हैं, या नहीं ?

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव यह कुछ करता नहीं है, स्वयमेव होते हैं। जैसे- खेत में बीज बोने के बाद उसमें स्वयं अंकुर पत्ते फूल-फल लगते हैं, लगाना नहीं पड़ते, इसी प्रकार इस धर्म रूपी बीज का आरोपण होने पर यह व्रत नियम, संयम, तप, त्याग, साधु पद आदि स्वयं होते हैं और सिद्धि मुक्ति की प्राप्ति होती है।

स्व वशता से उत्पन्न आवश्यक कर्म स्वरूप यह साक्षात् धर्म नियम से सच्चिदानन्द मूर्ति आत्मा में (सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा में) अतिशय रूप से होता है। ऐसा यह आत्म स्थित धर्म-कर्म क्षय करने में कुशल ऐसा निर्वाण का एक ही मार्ग है।

''एक होय त्रिकाल मां परमार्थ नो पंथ''। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:।

सम्यग्दर्शन ही एक मात्र मोक्ष का सोपान है, बगैर सम्यग्दर्शन के बाह्य में कितने ही व्रत-तप-संयम साधु पद किये जायें- सब व्यर्थ है।

मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो॥

सम्यग्दर्शन सहित जो भी बाह्य आचरण होता है, वह कर्म क्षय का हेतु मुक्ति का कारण है। सम्यग्दर्शन रहित जो भी आचरण है, वह सब कर्म बंध और संसार का कारण है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के उसकी पात्रतानुसार व्रत, नियम, साधु पद स्वयं होते हैं, न होवें ऐसा भी नहीं होता है। जो बीज बोया जाये उसका अंकुरण न हो, पत्ते, फल-फूल न लगें, तो या तो बीज बोया ही नहीं गया, या गलत उसमें चला गया, यह सिद्धान्त है। बगैर बीज (सम्यग्दर्शन) के लगाये गये पत्ते, फल-फूल तो कागज के, नाईलोन के देखने में सुन्दर हो सकते हैं, पर उनसे न कोई लाभ है, न उपयोग है।

इसी प्रकार श्रमणाभास (साधु) द्रव्यलिंगी अप्रशस्त रागादि रूप अशुभ भाव सहित वर्तता है, वह निज रूप से भिन्न ऐसे पर द्रव्यों के वश है इसलिए उस जघन्य रत्नत्रय परिणति वाले जीव को स्वभावाश्रित, निश्चय धर्मध्यान स्वरूप-परम आवश्यक कर्म नहीं है, वह श्रमणाभास भोजन हेतु द्रव्यलिंग ग्रहण करके स्वात्म कार्य से विमुख रहता हुआ परम तपश्चरणादि के प्रति भी उदासीन लापरवाह रहकर मन्दिर, तीर्थक्षेत्र, समाज-सम्प्रदाय में फंसा रहता है।

कलिकाल में भी कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादि रूप मल की कीचड़ से रहित और सद्धर्म रक्षामणि ऐसा समर्थ मुनि होता है, जिसने अनेक परिग्रहों के विस्तार को छोड़ा है और जो पाप रूपी अटवी को जलाने वाली अग्नि है, ऐसा मुनि इस काल भूतल में तथा देव लोक में देवों से भी भली-भाँति पुजता है।

जो जीव अन्य वश है, वह भले मुनि भेषधारी हो तथापि संसारी है, नित्य दु:ख को भोगने वाला है। जो जीव स्व-वश है, वह जीवन मुक्त है, जिनेश्वर से किंचित् न्यून है।

जो जीव जिनेन्द्र के मुखारविन्द से निकले हुये परम आचार शास्त्र के क्रम से सदा संयत रहता हुआ-शुभोपयोग में प्रवर्तता है। व्यवहारिक धर्म ध्यान में परिणत रहता है, स्वाध्याय करता है, आहारादि की शुद्धि पूर्वक चर्या करता है। तीन संध्यायों के समय भगवान अर्हंत परमेश्वर की स्तुति बोलता है, नियम परायण रहता है, प्रतिक्रमण करता है, बाह्य तप में सतत् उत्साह परायण रहता है, आभ्यन्तर तपों में कुशल बुद्धि वाला है परन्तु वह निरपेक्ष तपोधन साक्षात् मोक्ष के कारण भूत स्वात्माश्रित आवश्यक कर्म निज शुद्धात्मानुभूति से रहित हैं, निश्चय धर्म ध्यान को नहीं जानता, पर द्रव्य में परिणत होने से उसे अन्य वश कहा जाता है। ऐसा अन्य वश श्रमण देव लोक आदि शुभोपयोग के फल स्वरूप प्राप्त कर राग रूपी अग्नि में तप्त रहता है।

कोई आसन्न भव्य जीव, सद्गुरू के प्रसाद से प्राप्त परम तत्व के श्रद्धान ज्ञान, अनुष्ठान स्वरूप शुद्ध निश्चय रत्नत्रय परिणत-निज शुद्धात्मा की साधना द्वारा निर्वाण को प्राप्त होता है। इसलिये पुण्य की कारण भूत बाह्य

व्यवहार की रूचि छोड़ो और निर्वाण की कारण निज शुद्धात्मा को भजो-जो सहज परमानन्द मयी परमात्मा है। सर्वथा निर्मल ज्ञान का आवास है, निरावरण स्वरूप है तथा नय, अनय के समूह से दूर है।

जो भव्य, औदायिकादि पर भावों के समुदाय को परित्याग कर निज कारण परमात्मा को, जो काया, इन्द्रिय और वाणी को अगोचर है, ममल स्वभाव वाला है, उसे ध्याता है, वह शुद्ध बोध स्वरूप सदा शिवमय मुक्ति को प्राप्त करता है।

इस प्रकार संसार दु:खनाशक-निजात्म नियत चारित्र हो तो यह चारित्र मुक्ति श्री का अतिशय सुख अतीन्द्रिय आनन्द देने वाला है।

आत्मज्ञानी, मुमुक्षु जीव-लौकिक भय को तथा घोर संसार की करने वाली प्रशस्त-अप्रशस्त राग की रचना को छोड़कर मुक्ति के लिए स्वयं अपने से अपने में ही अविचल स्थिति को प्राप्त करते हैं।

प्रश्न - क्या आत्मा अपने शुद्ध स्वभावी धर्म की इतनी महिमा है, कि उसमें बाह्य में कुछ नहीं करना पड़ता और यह कर्मादि संयोग अपने आप छूट जाते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरू आगे गाथा कहते हैं-

गाथा- १८

न्यानं गुनं माल मुनिर्मलेत्वं, संषेप गुथितं तुव गुन अनंतं।
रत्नत्रयं लंकृत स स्वरूपं, तत्वार्थ सार्धं कथितं जिनेन्द्रं ॥

शब्दार्थ - (न्यानं गुनं) ज्ञान गुणों की (माल) माला (सुनिर्मलेत्वं) अत्यन्त निर्मल, परम शुद्ध है (संषेप गुथितं) संक्षेप में गुंथन किया है अर्थात् वर्णन किया -कहा है (तुव) तुम्हारे (गुन अनंतं) अनन्त गुण हैं (रत्नत्रयं लंकृत) रत्नत्रय अर्थात् परम सुख, परम शान्ति, परम आनन्द से अलंकृत-परिपूर्ण है (स स्वरूपं) अपना सत्स्वरूप, शुद्धात्म तत्व (तत्वार्थ सार्धं) यही प्रयोजनीय तत्व है, इसी की साधना करो (कथितं जिनेन्द्रं) यह श्री जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है।

विशेषार्थ - ज्ञान गुणों की माला अर्थात् निज शुद्धात्म स्वरूप अत्यन्त
ल परम शुद्ध है। हे आत्मन्! तुम्हारे अनन्त गुण हैं, पर संक्षेप में ही गुंथन
। हैं अर्थात् कहे हैं, अपना सत्स्वरूप शुद्धात्म तत्व रत्नत्रय से अलंकृत
ति् परम सुख, परम शान्ति, परम आनन्द, से परिपूर्ण है। यही श्रेष्ठ
ात्म स्वरूप निज शुद्धात्मा ही प्रयोजनीय है, इसी की साधना करो, यह
जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है।

यहाँ इस प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है कि क्या आत्म धर्म की इतनी
मा है कि बाह्य में कुछ नहीं करना पड़ता और यह कर्मादि संयोग अपने
। छूट जाते हैं ?

सद्गुरू कहते हैं कि यह तो जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है कि निज
ात्म तत्व परमात्म स्वरूप महा महिमावन्त है, अनन्त गुण निधान है,
त्रय से अलंकृत अर्थात् परम सुख,परम शान्ति, परम आनन्द से परिपूर्ण
यहाँ तो संक्षेप में वर्णन किया है, जिसकी दृष्टि की महिमा अपूर्व अवक्तव्य
एक समय की शुद्ध दृष्टि से असंख्यात अनन्त कर्म क्षय होते हैं, एक मुहूर्त
ने स्वभाव में रहे तो अनन्तानन्त बलशाली घातिया कर्म क्षय हो जाते हैं।
न्त चतुष्टय केवलज्ञान सर्वज्ञ स्वरूप प्रगट होता है जिसकी एक समय
पर्याय में इतनी शक्ति है कि तीन काल-तीन लोक के समस्त द्रव्य और
की पर्याय स्पष्ट झलकती हैं। लोकालोक को प्रकाशित करने वाला अपना
ात्म स्वरूप ही है। इसका सत्श्रद्धान, ज्ञान और इसकी साधना ही एक
मुक्ति का कारण है। बाह्य का जो भी शुभाशुभ आचरण, शुभाशुभ भाव
सब पुण्य-पाप कर्म बंध का कारण है। एक मात्र अपने शुद्धात्म स्वरूप में
ा ही मुक्ति का कारण है।

यह सत्य धर्म अपने शुद्ध स्वभाव की बड़ी महिमा है, धर्म ही एक मात्र
क्षय का कारण है। अन्तर शुद्ध चिदानन्द स्वरूप को जान कर उसे प्रगट
। बिना जन्म-मरण टलने वाला नहीं है।

ज्ञानी के आन्तरिक जीवन को समझने हेतु अन्तरंग पात्रता चाहिए।
त्मा अपने पूर्व प्रारब्ध के योग से बाह्य संयोग में खड़े हों तो भी उनकी
णति अन्दर में कुछ अन्य ही कार्य करती रहती है। संयोग दृष्टि से देखो तो

वह स्वभाव समझ नहीं सकता। धर्मी की दृष्टि संयोग ऊपर नहीं बल्कि अपने आत्मा के स्व पर प्रकाशक स्वभाव पर होती है। ऐसे दृष्टिवन्त धर्मात्मा का आंतरिक जीवन अन्तर दृष्टि से समझने में आता है, बाह्य संयोग से उसका माप नहीं निकलता।

धर्म भी ज्ञानी को होता है और ऊँचे पुण्य भी ज्ञानी को बंधते हैं, अज्ञानी को आत्मा के स्वभाव का भान नहीं है, इसलिये उसके धर्म भी नहीं है और ऊँचा पुण्य भी नहीं होता। तीर्थंकर पद, चक्रवर्ती पद, बलदेव पद ये सभी पद सम्यग्दृष्टि जीवों को ही प्राप्त होते हैं तथा शाश्वत सिद्ध पद भी धर्मी सम्यग्दृष्टि को मिलता है।

धर्मी को शुभ परिणाम भी आफत रूप लगते हैं, उनसे भी छूटना ही चाहता है, ये भाव आते हैं, तब वह अपने स्वरूप स्थिरता का उद्यमी रहता है। आत्मा का पर वस्तु के साथ मिलन ही नहीं है; इसलिए आत्मा पर के सम्बन्ध बिना स्वयमेव अकेला स्वयं-स्वयं में परम सुखी है। सम्यग्दर्शन होने के बाद स्थिरता में विशेष वृद्धि होने पर उसे व्रतादि के परिणाम आते हैं परन्तु वह उससे धर्म नहीं मानता। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की निर्मल शुद्ध पर्याय जितने जितने अंश में प्रगट होती है, वह उसे ही धर्म मानता है।

धर्मात्मा को अपना रत्नत्रय रूप आत्मा ही परम प्रिय है,संसार सम्बन्धी अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। धर्मी को अपने रत्नत्रय स्वभाव रूप मोक्षमार्ग के प्रति अभेद बुद्धि पूर्वक परम वात्सल्य होता है।

जिनेन्द्र की वाणी से जिसे शुद्ध चिद्रूपरत्न प्राप्त हुआ है, वह मुमुक्षु चैतन्य प्राप्ति के परम उल्लास में कहता है कि मुझे सर्वोत्कृष्ट चैतन्य रत्न मिला है, अब मुझे चैतन्य सिवाय अन्य कोई कार्य नहीं, अन्य कोई वाच्य नहीं, अन्य कोई ध्येय नहीं, अन्य कुछ श्रवण योग्य नहीं, अन्य कुछ भी प्राप्त करने जैसा नहीं है। अन्य कुछ श्रेय नहीं, व अन्य कोई उपादेय नहीं है।

जिस धर्मात्मा ने निज शुद्धात्म द्रव्य को स्वीकार करके परिणति को स्व-अभिमुख किया वह प्रतिक्षण मुक्ति की ओर गतिशील है, वह मोक्षपुरी का प्रवासी हो गया है।

आत्मा ही आनन्द का धाम है उसमें अन्तर्मुख होने से सुख है।

अपने चिदानन्द चैतन्य स्वभाव में रहने से कर्म अपने आप विला
ते हैं।

कम्म सहावं षिपनं, उत्पत्ति षिपिय दिस्टि सदभावं।
चेयन रूप संजुत्तं, गलियं विलयं ति कम्म बंधानं॥
॥ कमलबतीसी ॥

कर्मों का स्वभाव तो स्वयं क्षय होने का, नाशवान है, कर्मों का आश्रव
ध और क्षय अपनी दृष्टि के सद्भाव पर है, अगर चैतन्य की दृष्टि पर
र्याय पर है तो कर्मों का आश्रव बन्ध होता है और दृष्टि अपने ध्रुव स्वभाव पर
तो कर्म क्षय होते हैं। सद्गुरू कहते हैं कि अपने चैतन्य स्वरूप में लीन हो
ओ तो सारे कर्म बंध गल जायेंगे, विला जायेंगे।

अपने आत्म स्वभाव में रहने से ही सब कर्मादि संयोग अपने आप
टते हैं, जिसकी दृष्टि अपने परमात्म स्वरूप की ओर हो जाती है, उसे
पने आप पाप, विषय, कषाय आदि से विरक्ति हो जाती है और इससे ही यह
ब संयोग और पूर्व कर्म बन्ध छूटने लगते हैं। बाहर में कुछ करना पड़ता नहीं
व्यवहार में यह कहने में आता है कि इसने यह व्रत नियम, संयम लिया है,
ः सब छोड़ दिया है, पर अन्तर में भेदज्ञान होने से सब अपने आप छूट
ाता है। यह धर्म की महिमा है, यह अनन्त गुणमयी ज्ञान गुणमाला ही
र्वश्रेष्ठ परम इष्ट है, यह रत्नत्रयमयी अपना ही सत्स्वरूप है, इसकी साधना
राधना से ही अरिहन्त सिद्ध पद प्रगट होता है, जिसकी तीन लोक
य-जयकार मचाते हैं और सौ इन्द्र सेवा करते हैं। यह रत्नत्रय मयी ज्ञान
ग माला ही प्राप्त करने योग्य है। ऐसा जिनेन्द्र परमात्मा-भगवान महावीर
अपने समवशरण में जगत के सब भव्य जीवों को संदेश दिया है।

**प्रश्न - यह एकान्त पक्ष तो जिनवाणी का आशय नहीं है, जिनेन्द्र
रमात्मा ने भी कर्मों से मुक्त होने के लिए तपश्चरण आदि बाह्य आचरण
ाये हैं। अगर व्यवहार रत्नत्रय को छोड़कर निश्चय-निश्चय ही को
हत्व देंगे, तो स्वेच्छाचारिता ही बढ़ेगी, जो पतन का कारण है ?**

समाधान - यहाँ व्यवहार रत्नत्रय के बाह्य आचरण का निषेध नहीं
या जा रहा-यहाँ मुक्ति का मूल आधार बताया जा रहा है कि बगैर सम्यग्दर्शन

निज शुद्धात्मानुभूति किये मुक्ति होने वाली नहीं है। शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन ही एक मात्र मुक्ति का कारण है। यदि सम्यग्दर्शन नहीं है और बाहर में कितने ही व्रत-तपश्चरणादि किये जायें वह सब पुण्य बन्ध और संसार के ही कारण हैं और सम्यग्दर्शन सहित व्रत तपश्चरण मुक्ति के कारण हैं। सम्यग्दर्शन होने पर ही जीव को संसार दुःख रूप लगता है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की बाह्य आचरण और संसार में सुख बुद्धि है, निज स्वरूप की अनभिज्ञता के कारण शरीरादि संयोग में एकत्वपना है, जब तक यह न छूटे तब तक मुक्ति किसकी और कैसे होगी ? यहाँ धर्म का सत्स्वरूप अपना इष्ट निज शुद्धात्म तत्व प्रमुखता से बताया जा रहा है और यही जिनदर्शन-जिनेन्द्र परमात्मा भगवान महावीर की देशना है। द्रव्य की स्वतंत्रता, वस्तु का सत्स्वरूप और मुक्ति का स्वाश्रित मार्ग ही जिनदर्शन है।

शरीर की खाल उतार कर नमक छिड़कने वाले पर भी क्रोध नहीं किया, ऐसे व्यवहार चारित्र इस जीव ने अनन्त बार पाले हैं परन्तु सम्यग्दर्शन एक बार भी प्राप्त नहीं किया, इसलिए संसार के भव भ्रमण जन्म-मरण से नहीं छूटा, लाखों जीवों की हिंसा के पाप की अपेक्षा-मिथ्यादर्शन का पाप अनन्त गुना है।

सम्यग्दर्शन कोई अपूर्व वस्तु है और सम्यक्त्व सरल नहीं हैं, लाखों-करोड़ों में किसी विरले जीव को ही वह होता है। सम्यक्त्वी जीव अपना निर्णय आप ही कर सकता है, इसका पर से कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्यक्त्व रहित क्रियायें इकाई बिना शून्य के समान हैं, सम्यक्त्व का स्वरूप अत्यन्त ही सूक्ष्म है। जैसे जड़ हीरे का मूल्य हजारों रूपया होता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व हीरे का मूल्य-अमूल्य है। यह मिल गया तो कल्याण हो जायेगा। सम्यक्त्व रहित ज्ञान, बाहर का जानपना यह भी ज्ञान नहीं है, सम्यक्त्व सहित जानपना ही ज्ञान है। ग्यारह अंग कंठाग्र हों, परन्तु सम्यक्त्व न हो तो वह अज्ञान है।

अध्यात्म में सदा निश्चय नय ही मुख्य है, इसी के आश्रय से धर्म होता है, जिनवाणी में जहाँ विकारी पर्यायों का व्यवहार नय से कथन किया है, वहाँ भी निश्चय नय को ही मुख्य और व्यवहार नय को गौण करने का आशय है, क्योंकि पुरुषार्थ द्वारा अपने में शुद्ध पर्याय प्रगट करने अर्थात् विकारी पर्याय

टालने के लिए सदा निश्चय नय ही आदरणीय है। उस समय दोनों नय का ज्ञान होता है, परन्तु धर्म प्रगट करने के लिए दोनों नय कभी आदरणीय नहीं है। व्यवहार नय के आश्रय से कभी धर्म अंशत: भी नहीं होता परन्तु उसके आश्रय से तो राग द्वेष के विकल्प ही उठते हैं।

शुद्धता प्रगट करने के लिए कभी निश्चय नय आदरणीय है, कभी व्यवहार नय आदरणीय है, ऐसा मानना भूल है, तीनों काल अकेले निश्चय नय के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है।

साधक जीव प्रारम्भ से अन्त तक निश्चय की ही मुख्यता रखकर व्यवहार को गौण ही करते जाते हैं ; इसलिये साधक दशा में निश्चय की मुख्यता के बल से साधक को शुद्धता की वृद्धि अर्थात् गुण प्रगट होते जाते हैं और अशुद्धता अर्थात् विकारी पर्याय टलती जाती है, यही मुक्ति का मार्ग है। इस प्रकार निश्चय की मुख्यता के बल से पूर्ण केवलज्ञान होने पर वहाँ मुख्य गौण पना नहीं होता और नय भी नहीं होते।

जो जीव स्वरूप का निर्णय करके भीतर स्वरूप में स्थिर हुआ, वहाँ जो खंड होता था, भेद पड़ा था, वह अभेद अखंड हो गया और अकेला आत्मा अनन्त गुणों से भरपूर आनन्द स्वरूप रह गया। मैं शुद्ध हूँ, मैं अशुद्ध हूँ, मैं बद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, ऐसे विकल्प थे वे टूट जाते हैं और अकेला आत्म तत्व रह जाता है। ऐसे आत्म स्वरूप का बराबर निर्णय करने से विकल्प छूट जाते हैं, पश्चात् अनन्त गुण सामर्थ्य से भरपूर अकेला निज शुद्धात्म तत्व ही रहता है। स्वेच्छाचार तो अज्ञान दशा में होता है।

प्रश्न – भगवान महावीर ने ऐसे एकान्त पक्ष का प्रतिपादन तो नहीं किया, उनके शरण में भी लाखों जीव, साधु, आर्यिका, श्रावक, श्राविका थे, अगर पहले निश्चय सम्यग्दर्शन की बात होती, शुद्धात्म तत्व की ही चर्चा उपदेश होता तो इतने जीव संयमी त्यागी साधु कैसे होते?

समाधान – भगवान महावीर ने ही द्रव्य की स्वतंत्रता और वस्तु का स्वरूप बताया है। उन्होंने ही निज शुद्धात्म स्वरूप के आश्रय धर्म की व्याख्या की है। जगत तो पराधीन-पराश्रितपने से ही चल रहा है, स्वाधीनता और

द्रव्य की स्वतंत्रता तो जैन दर्शन का मूल आधार है। किसी पर परमात्मा के आश्रय उसकी पूजा भक्ति करने या बाह्य क्रिया कांड, पूजा-पाठ करने से कभी मुक्ति मिलने वाली नहीं है। मुक्ति तो अपने निज शुद्धात्म तत्व रत्नत्रयमयी ज्ञान गुणमाला को उपलब्ध होने सम्यग्दर्शन होने पर ही होगी। इसमें व्यवहार रत्नत्रय बाह्य आचरण का निषेध नहीं है, पर मात्र इनके आश्रय मुक्ति नहीं होगी, इनसे तो पुण्य बंध और संसार का चक्र ही चलेगा। संयम, सदाचार, का पालन करने का कभी किसी ने निषेध नहीं किया। भगवान महावीर के समवशरण में लोग गये, धर्म की देशना सुनी, आत्म कल्याण करने, मुक्ति को पाने की चर्चा सुनी और जिसको जैसा समझ में आया वह वैसा करने लगा। भगवान उसे भी नहीं रोक सकते, वह भी किसी का कुछ नहीं कर सकते क्योंकि यदि कुछ करते होते, तो भगवान आदिनाथ के समवशरण में यही भगवान महावीर का जीव मारीचि की पर्याय में बैठा था। भरत चक्रवर्ती का पुत्र और भगवान आदिनाथ का पोता था, तीर्थंकर होने की घोषणा भी कर दी, लेकिन उसे मोक्षमार्ग में नहीं लगा सके। अज्ञान मिथ्यात्व के कारण ३६३ मत विपरीत चलाये, अनन्त पर्यायों में परिभ्रमण किया और जब सुलटने का काल आया तो सिंह की पर्याय में निज शुद्धात्मानुभूति हुई, सम्यग्दर्शन हुआ और दसवें भव में महावीर बने।

इसी बात को महावीर भगवान ने अपनी दिव्य दृष्टि में बताया, राजा श्रेणिक ने ६० हजार प्रश्न किये। धर्म का स्वरूप अनेकान्तमय है। स्याद्वाद से इसका समन्वय किया जाता है। धर्म मार्ग पर निश्चय व्यवहार के समन्वय पूर्वक ही चला जाता है, परन्तु धर्म तो शुद्ध निश्चय नय अपने शुद्धात्म तत्व के आश्रय उसका ही ज्ञान श्रद्धान करने पर होता है। इसी रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला सम्यग्दर्शन की महिमा भगवान महावीर स्वामी की दिव्य ध्वनि में आई, जिसे सुनकर राजा श्रेणिक ने प्रश्न किये। उन सारे प्रश्न उत्तर का आखों देखा हाल सद्गुरू तारण स्वामी यहाँ आगे बता रहे हैं, श्री तारण स्वामी का जीव महावीर भगवान के समवशरण में था, उन्होंने भगवान की देशना को सुना, उस पर श्रद्धान बहुमान किया और वही सारा ज्ञान लेकर दो हजार वर्ष बाद पैदा हुये, जहाँ ग्यारह वर्ष की उम्र में सम्यग्दर्शन हुआ, संयम होने पर

अवधिज्ञान हुआ, जिसके आधार पर उन्होंने छद्मस्थ वाणी ग्रंथ में यह बताया है और शुद्ध अध्यात्मवाद का शंखनाद किया, चौदह ग्रंथों की रचना की जिसमें पहला ग्रंथ यह मालारोहण है।

जो प्रश्न किया गया है, इसका पूरा समाधान इन आगे की गाथाओं में स्पष्ट है –

गाथा-११

श्रेनीय पिच्छन्ति श्री वीरनाथं, मालाश्रियं मागंति नेयचक्रं।
धरनेन्द्र इन्द्रं गन्धर्व जष्यं, नरनाह चक्रं विद्या धरेत्वं ।।

शब्दार्थ - (श्रेनीय) राजा श्रेणिक (पिच्छन्ति) प्रश्न करते हैं, पूछते हैं (श्री वीरनाथं) भगवान महावीर स्वामी से (मालाश्रियं) श्रेय रूप मुक्ति को प्राप्त कराने वाली श्रेष्ठमाला, रत्नत्रयमयी ज्ञान गुणमाला (मागंति) मांगते हैं (नेय चक्रं) बड़े स्नेह भक्ति पूर्वक प्रदक्षिणा देते हुये (धरनेन्द्र) धरणेन्द्र (इन्द्रं) देवों के राजा (गंधर्व जष्यं) गंधर्व यक्ष जाति के देव (नरनाह) राजा महाराजा (चक्रं) चक्रवर्ती (विद्या धरेत्वं) विद्याधर भी मनुष्य होते हैं, जो विशेष विद्याओं के धारी होते हैं।

विशेषार्थ - भगवान महावीर के समवशरण में ज्ञान गुणमाला, शुद्धात्म तत्व का वर्णन सुनकर महाराजा श्रेणिक उत्साह पूर्वक श्री वीर प्रभु भगवान महावीर से रत्नत्रयमयी ज्ञान गुण माला के सम्बन्ध में पूछते हैं और स्नेह सहित विनय पूर्वक प्रदक्षिणा देकर श्रेष्ठ रत्नत्रयमयी ज्ञान गुणमाला को मांगते हैं कि प्रभु यह रत्नत्रयमयी मालिका मुझे दे दो। तब भगवान की दिव्य ध्वनि में आया कि राजन ! यह रत्नत्रयमयी गुणमाला ऐसे मांगने से नहीं मिलती। यह सुनकर राजा श्रेणिक ने पूछा – कि यह धरणेन्द्र, इन्द्र, गन्धर्व, यक्ष आदि देव अथवा राजा महाराजा, चक्रवर्ती, विद्याधर आदि यहाँ बैठे हैं, क्या यह रत्नत्रय मालिका इनको मिलेगी ?

जब वैभारगिरि (विपुलाचल पर्वत राजग्रही में) भगवान महावीर स्वामी

को वैसाख सुदी १० को केवलज्ञान प्रगट हुआ, छ्यासठ दिन तक दिव्य ध्वनि नहीं खिरी, इन्द्र द्वारा गौतम गणधर का आना आदि, राजा श्रेणेक का बौद्धमति होने से यशोधर मुनिराज के गले में सर्प डालना, नरक आयु का बंध, रानी चेलना द्वारा बोध मिलने पर जैन धर्म के प्रति समर्पित होना, उसी समय समवशरण का योग मिलना, जहाँ राजा श्रेणिक को क्षायिक सम्यक्त्व और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ। उसी क्रम में यह प्रश्नोत्तर का वर्णन चल रहा है।

जब भगवान की दिव्य ध्वनि प्रगट हुई, गौतम गणधर द्वारा प्रसारित होने लगी, वहाँ सत्य धर्म का स्वरूप, मुक्ति का मार्ग भव्य जीवों को सुनने मिलने लगा, इस धर्म सभा के प्रमुख श्रोता राजा श्रेणिक थे, जब भगवान आत्मा का सुन्दर एकत्व-विभक्त स्वरूप बतलाते हैं जो अपूर्व प्रीति लाकर श्रवण करने योग्य है।

हे भव्य जीवो ! जगत का परिचय छोडकर, प्रेम से आत्मा का परिचय करके भीतर उसका अनुभव करो, ऐसे अनुभव से परम शान्ति प्रगट होती है, और अनादि की अशान्ति मिट जाती है। आत्मा के ऐसे स्वभाव का श्रवण, परिचय, अनुभव दुर्लभ है परन्तु वर्तमान में उसकी प्राप्ति का सुलभ अवसर आया है, इसलिये दूसरा सब भूलकर अपने शुद्ध स्वरूप को लक्ष्य में लो उसका अनुभव करो।

देखो-देखो यह शरीरादि से भिन्न, एक अखंड चैतन्य ज्योति निज शुद्धात्म स्वरूप सम्यक् श्रुत ज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव करके निर्विकल्प आनन्द रस का पान करो जिससे अनादि मोह तृषा की दाह मिट जाये।

तुमने चैतन्य रस के अमृत प्याले कभी नहीं पिये, अज्ञान से मोह राग-द्वेष रूपी विष के प्याले पिये हैं, अब अपने शुद्धात्म स्वरूप, चैतन्य रस का पान करो, यह रत्नत्रय मयी, परम सुख, परम शान्ति, परमानन्द स्वरूप ज्ञान गुणमाला को स्वीकार, ग्रहण करो, जिससे सारी आकुलता मिटकर सिद्ध पद की प्राप्ति हो।

यह क्रिया कांड मोक्षमार्ग नहीं है, पर के अवलम्बन से मुक्ति नहीं होती, अपने शुद्धात्म स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र मयी चैतन्य

रूप का निर्णय करके स्वानुभव करना, यह रत्नत्रयमयी मालिका को धारण ना ही मोक्षमार्ग है।

राजा श्रेणिक ने पूछा– कि प्रभो ! रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला ा है ?

भगवान ने दिव्य ध्वनि में कहा कि आत्मा में अखंड आनन्द स्वभाव । है, जिसमें अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि न्त गुण हैं। यह रत्नत्रय मयी ज्ञान गुण माला अपना ही स्वरूप है, ऐसे न्य मूर्ति निज आत्मा की श्रद्धा करो, उसमें लीनता करो। रत्नत्रय मयी लेका को धारण करो, तो केवलज्ञान प्रगट होता है। जो तीन लोक से न्दनीय महामंगलकारी है। जिससे शाश्वत सिद्ध पद प्राप्त होता है।

राजा श्रेणिक इस बात को सुनकर परम प्रसन्न आनन्द में होते हैं और की भावना होती है कि यह रत्नत्रय मालिका मैं ले लूँ क्योंकि जैन दर्शन के नतत्व निज शुद्धात्म स्वरूप से अनभिज्ञ थे जैसे–संसारी जीव बाह्य में ही कुछ मानते हैं या भगवान की कृपा आशीर्वाद चाहते हैं, वैसा ही राजा णिक समझते थे, उन्होंने बड़ी विनय भक्ति पूर्वक भगवान की तीन क्षिणायें देकर कहा–कि प्रभो ! यह रत्नत्रय मालिका मुझे दे दो।

तब भगवान की दिव्य ध्वनि में आया– कि हे राजा श्रेणिक ! यह रत्नत्रय ो ज्ञान गुणमाला ऐसे मांगने से नहीं मिलती। यह कोई सामान्य वस्तु नहीं राजा श्रेणिक ने सोचा, कोई विशेष वस्तु है, किसी विशेष व्यक्ति या विशेष ादि से प्राप्त होती है। जैसा वर्तमान में धर्म के नाम पर धन्धा होता है। हर ाय कोई भी धार्मिक आयोजन में बोली लगाई जाती है और जो अधिक धन ा है या विशेष व्यक्ति संयमी आदि होता है तो उसे प्रमुखता दी जाती है।

इस अपेक्षा से राजा श्रेणिक ने कहा कि यह मुझे नहीं मिलती तो क्या इन्द्र, धरणेन्द्र, गंधर्व, यक्ष आदि देवों को मिलेगी ? उत्तर मिला नहीं, तो ा क्या यह राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, विद्याधरों को मिलेगी ? उत्तर आया ीं, तब राजा श्रेणिक बड़े आश्चर्य में होकर अन्य लोगों को देखकर जो ावशरण में उपस्थित थे, पूछते हैं, उसी सन्दर्भ की गाथा –

गाथा- २०

किं दिप्त रत्नं बहुविहि अनंतं, किं धन अनंतं बहुभेय जुक्तं ।
किं तिक्त राजं बनवास लेत्वं, किं तव तवेत्वं बहुविहि अनंतं ।।

शब्दार्थ - (किं) क्या (दिप्त रत्नं) हीरे जवाहरात रत्न (बहुविहि) बहुत प्रकार (अनंतं) अनन्त हैं (किं) क्या (धन अनंतं) अनन्त धन है (बहुभेय) बाह्य भेष (जुक्तं) लीन है, बना लिया है (किं) क्या (तिक्त राजं) राज पाठ को छोड़कर (बनवास लेत्वं) बनवास ले लिया अर्थात् साधु भेष बनाकर जंगल में रहते हैं (किं) क्या (तव तवेत्वं) तप तपते हैं अर्थात् तपस्या करते हैं (बहुविहि) बहुत प्रकार से (अनंतं) अनन्त।

विशेषार्थ - यह रत्नत्रयमयी ज्ञान गुण माला क्या उनको मिलेगी- जिनके पास बहुत प्रकार के हीरे जवाहरात आदि प्रकाशित अनेक रत्न हैं ? क्या उनको मिलेगी, जो कुबेरों के समान बहुत प्रकार की धन राशि के स्वामी हैं ? क्या जिनने राज्य का त्याग कर वनवास ले लिया, बाह्य भेष बना लिया, उनको मिलेगी ? या जो बहुत प्रकार से तपस्या करते हैं, क्या उनको यह रत्नत्रय मालिका मिलेगी ?

रत्नों से, धन से, बाह्य भेष बनाने से या तप तपने से क्या (निज शुद्धात्म स्वरूप) रत्नत्रय मयी ज्ञान गुण मालिका प्राप्त होगी ?

राजा श्रेणिक भी बड़ा हिम्मतवर जिज्ञासु जीव था, उसने प्रश्नों की झड़ी लगा दी, कि क्या धर्म में भी भेदभाव होता है ? यहाँ यह जो बड़े-बड़े लोग जिनके पास हीरे जवाहरात आदि हैं या बहुत धनवान, पैसे वाले हैं, इनको मिलेगी ? उत्तर आया - नहीं....। तो फिर प्रश्न करता है, तो क्या यह जो साधु बनकर बैठे हैं, जिन्होंने राज-पाठ छोड़ दिया, वनवास ले लिया है, इनको मिलेगी ? उत्तर आया-नहीं। तो क्या यह तपस्वी बहुत प्रकार का तप करने वाले हैं, इनको मिलेगी ? उत्तर आया - नहीं।

हे राजा श्रेणिक ! निज शुद्धात्म स्वरूप रत्नत्रय मालिका बाहर किसी विभूति से किसी प्रकार के क्रिया कांड से मिलने वाली नहीं है।

तो राजा श्रेणिक पूछता है कि प्रभो! यह कैसे और किसको मिलेगी ? इसके समाधान में भगवान महावीर स्वयं कहते हैं, आगे गाथा-

गाथा- २१ - २२

श्री वीरनाथं उक्तंति सुद्धं, सुनु श्रेनिराया माला गुनार्थं ।
किं रत्न किं अर्थ किं राजनार्थं, किं तव तवेत्वं नवि माल दिस्टं ।।
किं रत्न कार्जं बहुविहि अनंतं, किं अर्थ अर्थं नहिं कोपि कार्जं ।
किं राजचक्रं किं काम रूपं, किं तव तवेत्वं बिन सुद्ध दिस्टी ।।

शब्दार्थ - (श्री वीरनाथं) श्री वीर प्रभु भगवान महावीर (उक्तंति) कहते हैं (सुद्धं) शुद्ध सत्य वस्तु स्वरूप (सुनु) सुनो (श्रेनिराया) राजा श्रेणिक (माला गुनार्थं) यह रत्नत्रय ज्ञान गुण माला अपना ही प्रयोजनीय शुद्धात्म स्वरूप है, निज स्वरूप को प्राप्त करने में (किं रत्न) क्या रत्न (किं अर्थ) क्या धन वैभव (किं राजनार्थं) राज पाठ का क्या प्रयोजन है (किं तव तवेत्वं) क्या तप तपने वाले (नवि माल दिस्टं) यह माला नहीं देख सकते । निज शुद्धात्मानुभूति करने में (किं रत्न कार्जं) रत्नों का क्या काम है (बहुविहि) बहुत प्रकार के (अनंतं) अनन्त (किं अर्थ अर्थं) धन वैभव का भी क्या प्रयोजन है ? (नहिं कोपि कार्जं) इनका कोई काम नहीं है (किं राजचक्रं) राजा महाराजा चक्रवर्ती का क्या काम है? (किं काम रूपं) यह कामदेव रूपवान विद्याधरों का भी क्या काम है (किं तव तवेत्वं) यह तप तपने वाले भी क्या करेंगे (बिन सुद्ध दिस्टी) बिना शुद्ध दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन बगैर यह रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला कैसे देख सकते हैं ?

विशेषार्थ - केवलज्ञानी परमात्मा श्री महावीर भगवान कहते हैं कि हे राजा श्रेणिक ! सुनो, शुद्ध वस्तु स्वरूप यह रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला अपना ही शुद्धात्म स्वरूप है । निज स्वरूप की अनुभूति करने में रत्नों का, धन का, राज वैभव का, कोरे तत्व ज्ञान का या सत्श्रद्धान रहित कोरे तप तपने

का क्या प्रयोजन है ? जिसके पास रत्न, धन, आदि वस्तुयें होवें और
अशुद्ध हो, मिथ्यादृष्टि हो उसे यह रत्नत्रय मालिका दिखाई नहीं देगी अ
निज शुद्धात्म स्वरूप अनुभव में नहीं आयेगा।

निज स्वरूपानुभूति करने में बहुत प्रकार के रत्नों का क्या काम
कुबेरों के समान विपुल धन की भी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् शुद्ध
स्वरूप की प्राप्ति करने में (परमात्मा का दर्शन करने में) इन बाह्य पदार्थों
कोई जरूरत नहीं है। राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, कामदेव, विद्याधर या
के तपने वालों का भी इसमें क्या काम है ? बिना शुद्धदृष्टि के कोई भी प
क्रिया आदि से अपने स्वरूप की अनुभूति नहीं हो सकती और बगैर सम्यग्द
के मुक्ति होने वाली नहीं है। अनादि से जीव ने अपने सत्स्वरूप को
जाना। यह शरीर ही मैं हूँ - यह शरीरादि मेरे हैं, मैं इन सबका कर्ता हूँ,
अनादि से मानता चला आ रहा है, यही अग्रहीत मिथ्यात्व संसार परिभ्र
का कारण बना है। वर्तमान में मनुष्य भव और सब शुभ योग पाये हैं, बुद्धि
स्वस्थ शरीर और पुण्य का उदय है अब इनका सदुपयोग अपने शुद्ध
स्वरूप को जानने, भेदज्ञान करने, वस्तु स्वरूप का विचार करने में करें,
जीव अभी सुलट सकता है। जैसे मन्दिर विधि-धर्मोपदेश में कहा है-

उल्टो जीव अनादि को, अब सुलटन को दांव।
जो अबके सुलटे नहीं, तो गहरे गोता खाव ॥

आत्मा ही आनन्द का धाम है, इसमें अन्तर्मुख होने से ही सुख है।
वाणी की झंकार जहाँ कानों में पड़े वहाँ आत्मार्थी जीव का आत्मा भीत
झनझना उठता है। आत्मा के परम शान्त रस को बतलाने वाली यह व
वास्तव में अद्भुत है।

अति अल्प काल में जिसे संसार परिभ्रमण से मुक्त होना है, ऐसे अति
भव्य जीव को निज परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ उपादेय नहीं है। जि
कर्म की कोई अपेक्षा नहीं है, ऐसा जो अपना शुद्ध परमात्म तत्व, उ
आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है और उसी का आश्रय करने से सम्यग्ज्ञा
होता है और उसी का आश्रय करने से अल्पकाल में मुक्ति होती है। इसी
मोक्ष के अभिलाषी जीव को अपने शुद्धात्म तत्व का ही आश्रय करने

है। उससे भिन्न अन्य कुछ भी आश्रय करने योग्य नहीं है तथा पर के आश्रय से कभी सम्यग्दर्शन या मुक्ति होने वाली नहीं है।

समस्त सिद्धान्त के सार का सार तो बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुख होना है।

कोई जीव नग्न दिगम्बर मुनि हो गया, वस्त्र का एक धागा भी नहीं है, परन्तु पर वस्तु यह बाह्य का संयोग, यश पद, धन, वैभव, शरीरादि शुभाचरण मुझे लाभदायी है, ऐसा अभिप्राय है, तब तक उसके अभिप्राय में से तीन लोक की एक भी वस्तु छूटी नहीं है, पर के साथ एकत्व बुद्धि पड़ी है, पर वस्तु मुझे लाभ करती है, ऐसा अभिप्राय बना हुआ है, तब तक यह रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला निज शुद्धात्म स्वरूप की ओर दृष्टि नहीं जा सकती, फिर प्राप्त करना तो दुर्लभ ही है।

मोक्ष का मार्ग तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, स्वरूप है। यह सम्यग्दर्शनादि शुभ भाव रूप मोक्ष अन्तर्मुख द्वारा सधता है, ऐसा भगवान का उपदेश है।

भगवान ने स्वयं प्रयत्न द्वारा मोक्षमार्ग साधा है और उपदेश में भी यही कहा है कि ज्ञान एवं आनन्दादि अनन्त शक्ति के भंडार ऐसे सत्स्वरूप भगवान निज ज्ञायक आत्मा के आश्रय में जाने पर निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होता है।

निर्विकल्प स्वानुभूति की दशा में आनन्द गुण की आश्चर्य कारी पर्याय प्रगट होने से आत्मा के सर्व गुणों का आंशिक शुद्ध परिणमन प्रगट होता है।

हम दूसरों का कुछ भी कर सकते हैं। ऐसा मानने वाला जीव चौरासी के चक्कर में रुलता है। आत्मा तो मात्र ज्ञाता दृष्टा चैतन्य स्वरूप ही है और यह सब आबाल वृद्ध, राजा से रंक, देव मनुष्यादि के अन्तरंग में वह चिदानन्द भगवान आत्मा विराजमान है। सर्व आत्मा परिपूर्ण भगवान हैं। सर्व आत्मा वर्तमान में अनन्त गुणों से भरे हैं परन्तु उसकी प्रतीति न करे, पहिचाने नहीं और जड़ के कर्तव्य को अपना कर्तव्य माने, जड़ के स्वरूप को अपना स्वरूप माने उसे कभी भी यह रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला मिलने वाली नहीं है।

अनादि अनन्त ऐसा जो एक शुद्ध चैतन्य स्वरूप उसके स्व सम्मुख होकर आराधना करना ही रत्नत्रय मालिका और मुक्ति को पाने का उपाय है। अनादि से बाह्य क्रिया कांड में लोगों की रुचि होने से यह सत्य धर्म निज

शुद्धात्म स्वरूप छूट गया है। जो स्वयं अनन्त गुण निधान अनन्त चतुष्टय का धारी सर्वज्ञ स्वभावी भगवान आत्मा है, इसको जाने बिना लोग बाह्य में धर्म करना चाहते हैं। शुभाचरण पुण्य को धर्म मानते हैं, पुण्य की विभूति को हितकारी लाभदायक मानते हैं। दया, दान, पूजा, पाठ, नियम, संयम से भला होना मानते हैं। साधु बनना धर्म मानते हैं, यह सब शुभाचरण पुण्य बन्ध का कारण है। एक मात्र अपना चैतन्य स्वरूप शुद्ध स्वभाव ही धर्म है।

जिनवाणी में मोक्षमार्ग का कथन दो प्रकार से है। अखंड आत्म स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, रूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है, वह सच्चा मोक्षमार्ग है और उस भूमिका में जो महाव्रतादि का राग विकल्प है वह मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। जैसे अपने को कहीं जाना है तो बस या रेल साधन है, साध्य नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में वीतराग शुद्धि रूप जो निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हुआ, वह सच्चा शुद्ध उपादान रूप यथार्थ मोक्षमार्ग है और उस काल वर्तते हुये, व्रत,नियम, संयम, आदि शुभ राग को वह सहचर तथा निमित्त होने से मोक्षमार्ग कहना उपचार है। जिन दर्शन की महत्ता यह है कि मोक्ष के कारण भूत निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि शुद्ध भावों का होना ही जैन धर्म है।

राग को, पुण्य को धर्म मानने वाला तो मिथ्यादृष्टि संसारी है।

सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा कहा है कि जो पुण्य को धर्म मानता है वह मात्र भोग की ही इच्छा रखता है क्योंकि पुण्य के फल से तो स्वर्गादिक के भोगों की ही प्राप्ति होती है इसलिये जिसे पुण्य की भावना है तथा वैभव आदि में सुख की कल्पना है, उसे भोग की ही अर्थात् संसार की ही भावना है किन्तु मोक्ष की भावना नहीं है।

आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवान है। इसमें अनन्त गुण स्वभाव है। रत्नत्रय मयी है, अर्थात् परम सुख, परम शान्ति, परमानन्द का भंडार है। उसकी रुचि हुये बिना उपयोग पर में से हटकर स्व में नहीं आ सकता। जो पाप भावों की रुचि में पड़े हैं, उनका तो कहना ही क्या है ? परन्तु पुण्य की रुचि वाले बाह्य त्याग करें, तप करें, द्रव्यलिंग धारण करें तथापि जब तक शुभ की रुचि है, तब तक उपयोग पर की ओर से पलट कर स्वोन्मुख नहीं हो सकता और

यह रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला भी प्राप्त नहीं हो सकती और न मोक्ष हो सकता।

हे राजा श्रेणिक ! बिना शुद्ध दृष्टि (सम्यग्दर्शन) के यह रत्नत्रय की मालिका कोई देख नहीं सकता। इसी सन्दर्भ की अगली गाथा -

गाथा-२३

जे इन्द्र धरनेन्द्र गंधर्व जष्यं, नाना प्रकारं बहुविहि अनंतं ।
ते नंतं प्रकारं बहुभेय कृत्वं, माला न दिस्टं कथितं जिनेन्द्रं ॥

शब्दार्थ - (जे) जो (इन्द्र धरनेन्द्र गंधर्व जष्यं) इन्द्र, धरणेन्द्र, गन्धर्व, यक्षादि देव (नाना प्रकारं) नाना प्रकार के (बहुविहि अनंतं) बहुत, अनेक तरह के अनन्त हैं (ते) वह (नंतं प्रकारं) अनन्त प्रकार से (बहुभेय कृत्वं) बहुत भेष बनायें और बहुत उत्साह महोत्सव करें, नाचें गायें (माला न दिस्टं) इस रत्नत्रय मालिका को नहीं देख सकते (कथितं जिनेन्द्रं) यह जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है।

विशेषार्थ - जिनेन्द्र परमात्मा भगवान महावीर ने कहा- हे राजा श्रेणिक ! यह जो इन्द्र, धरणेन्द्र, गन्धर्व, यक्ष, आदि अनेकों तरह के बहुत से देव उपस्थित हैं, परन्तु इनमें से निज स्वभाव का लक्ष्य किसको है ? वे अनेक प्रकार के नाना भेष बनायें, नाचें, गायें,जय-जयकार मचायें, या महोत्सव करें, तो भी रत्नत्रय मयी ज्ञान गुण माला नहीं देख सकते क्योंकि निजात्म दर्शन का किसी भेष, पर्याय, परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध दृष्टि के बिना ज्ञान गुणमाला की प्राप्ति असंभव है और जो शुद्ध दृष्टि हैं या होंगे वह किसी पर्याय परिस्थिति में हो, धर्म में कोई जाति-पांति, कुल पर्याय का भेद भाव नहीं है। यह मनुष्य या देव क्या ? नारकी और तिर्यंच भी निज शुद्धात्मानुभूति द्वारा धर्म को उपलब्ध होकर परमात्मा बन सकते हैं। मैंने भी सिंह की पर्याय में निज शुद्धात्मानुभूति द्वारा धर्म को पाया और अपने आत्मा में जो पूर्ण परमानन्द भरा था उसे स्वयं अनुक्रम से प्रयास करके प्रगट कर

लिया। मन, वाणी और शरीर से भिन्न पूर्ण ज्ञानानन्द मय जो निज तत्व उसे पूर्ण रूप से साध लिया।

जगत के समस्त जीवों में से कोई भी जीव निज शुद्धात्मानुभूति (सम्यग्दर्शन) द्वारा इस रत्नत्रय मालिका को पाकर उन्नति क्रम से चढ़ते-चढ़ते जगद्गुरू तीर्थंकर, अरिहन्त सर्वज्ञ परमात्मा हो सकते हैं, सिद्ध पद पा सकते हैं।

अज्ञानी जीवों की बाह्य दृष्टि है, इसलिये बाह्य को ही देखते हैं और जब तक बहिर्मुख दृष्टि रहेगी, तब तक यह समवशरण में आने से भी भव का अभाव होने वाला नहीं है, यह कितनी ही पूजा, वन्दना, भक्ति करें, लेकिन भगवान कौन है, परमात्मा कैसा होता है? उसे नहीं जानते, जिनेन्द्र परमात्मा ने क्या कहा है, क्या कह रहे हैं? इसको नहीं समझते, वैसा अनुभव नहीं करते, तो यह बाहर की जय-जयकार से सिर्फ पुण्य-बंध होगा, जो संसार का ही कारण है।

रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला उपलब्ध होने पर तो अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द आता है, अन्तर में जय-जयकार मचती है। आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है, इस पूर्णानन्द के नाथ, निर्वाण नाथ का पर्याय में ज्ञान हुआ कि यह ध्रुव वस्तु है, इस त्रिकाली ज्ञान स्वभावी वस्तु का जो ज्ञान, श्रद्धान पर्याय में हुआ, उस ज्ञान श्रद्धान सहित का जीव नियम से राग के अभाव रूप वैराग्यमय ही होता है।

आत्मा में एक सुख शांति नाम का गुण है, जिसकी अन्तर शक्ति की मर्यादा अनन्त है, ज्ञानी जीव ऐसे सुख शक्ति के धारक आत्मद्रव्य का आदर करते हुए, पाँच इन्द्रियों के विषयों को भी हेय जानकर छोड़ते हैं।

आत्मा आनन्द मूर्ति, आनन्द का रस कन्द है, स्वयं शुद्धात्मा परमात्मा है, प्रवर्तमान बुद्धि, वह पर की प्रसिद्धि का कारण है। पर के ऊपर लक्ष्य करने वाली है। पर लक्ष्य में स्त्री, पुत्र, परिवार, संसार, समाज, देव, गुरू, शास्त्र सब आ जाते हैं, यह सब पर की प्रसिद्धि है। पाँचों इन्द्रियों और मन की ओर प्रवर्तित जो बुद्धि है, उसे पर लक्ष्य में जाने से रोके और आनन्द सागर आत्मा की ओर उन्मुख करे, वह आत्मा रूपी आनन्द के हिमालय में प्रविष्ट

होने की सीढ़ियों पर चढ़ता है, उसे यह मालारोहण उपलब्ध होती है वही मुक्ति श्री का वरण करता है।

सम्यग्दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति होने पर यह रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला हृदय कंठ में निरन्तर झुलती दिखती है, जिससे हमेशा आनन्द, परमानन्द अमृत रस बरसता है,अतीन्द्रिय सुख, अतीन्द्रिय आनन्द, उमंग, उत्साह धर्म की जय जयकार मचती है।

संसार का, पर का, पर्याय का सब लक्ष्य छूट जाता है, एक मात्र अपना ध्रुव, ध्रुव, ध्रुवधाम दृष्टि में झूलता है। सिद्ध स्वरूप, अरिहन्त सर्वज्ञ स्वरूप, स्मरण ध्यान में रहता है, फिर उसे बाहर क्या हो रहा है, कैसा हो रहा है? इसका कोई भान नहीं रहता, वह तो हर दशा में हर समय अपने ज्ञानानन्द, निजानन्द, सहजानन्द, स्वरूपानन्द, ब्रह्मानन्द में मगन रहता है।

धर्म की महिमा, रत्नत्रय मयी निज शुद्धात्मा का स्वरूप सुनकर राजा श्रेणिक को धर्म का बहुमान आया, वह भगवान के चरणों में नत हो गया और स्तुति पढ़ने लगा, जय-जयकार मचाने लगा।

जय-जय स्वामी त्रिभुवन नाथ, कृपा करो मोहि जान अनाथ।
हों अनाथ भटको संसार, भ्रमतन कबहुँ न पायो पार ॥१॥
तातें शरण आयो मैं सेव, मुझ दु:ख दूर करो जिनदेव।
कर्म निकन्दन महिमा सार, अशरण-शरण सुयश विस्तार ॥२॥
नहिं सेऊँ प्रभु तुमरे पांय, तो मेरो जन्म अकारथ जाय।
सुरगुरू वन्दों दया निधान, जग तारण जग पति जग जान ॥३॥
मैं तुव चरण कमल गुण गाय, बहुविधि भक्ति करूं मनलाय।
दोई कर जोड़ प्रदक्षिणा दई, निर्मल मति राजा की भई ॥४॥

राजा श्रेणिक की बहिर्मुख दृष्टि होने पर भी हृदय में सच्चे देव, गुरू, धर्म की श्रद्धा और बहुमान आया, अपने किये हुये पापों का पश्चात्ताप होने लगा, परिणामों में निर्मलता, भावों में विशुद्धता आने से सातवें नरक का आयु बन्ध टूटकर, पहले नरक का रह गया, यह कर्मों में अपकर्षण हो गया, इससे राजा श्रेणिक की भावनाओं में बड़ा परिवर्तन आया और इसी क्रम से प्रतिदिन

धर्म श्रवण करने से एक दिन क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि हो गई, समवशरण में जय-जयकार मच गई।

अब तो राजा श्रेणिक का जीवन ही बदल गया, धर्म के प्रति इतना उमंग उत्साह आया कि दर्शन विशुद्धि भावना चलने लगी, कि जगत के समस्त जीव ऐसे अपने शुद्धात्म स्वरूप को उपलब्ध कर परमानन्द में, परम भाव में क्यों नहीं हो जाते ? हे जगत के जीवो ! ऐसे सत्य धर्म को स्वीकार करो, इस भावना से एक दिन तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी हो गया, जब भगवान की दिव्य ध्वनि में यह बात आई तो सारा समवशरण हर्ष विभोर हो गया, चारों तरफ जय-जयकार होने लगी।

इसी प्रसंग में एक दिन राजा श्रेणिक भगवान से प्रश्न करते हैं कि भगवन ! शुद्ध दृष्टि के बिना यह रत्नत्रय मालिका नहीं मिलती और जिसको सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसके हृदय कंठ पर यह मालिका शोभित होती है वह हमेशा आनन्द-परमानन्द में रहता है, आपकी वाणी में आया कि मुझे क्षायिक सम्यक्त्व हो गया, फिर यह रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला (निज शुद्धात्म स्वरूप) मेरे हृदय कंठ में झुलती हुई, हमेशा दिखाई क्यों नहीं देती, अर्थात् मुझे निरन्तर अपना स्मरण ध्यान क्यों नही रहता, मैं ऐसे आनन्द-परमानन्द में क्यों नहीं रहता, यह बताने की कृपा करें ?

इसके समाधान में भगवान कहते हैं-

गाथा- २४

जे सुद्ध दिस्टी संमिक्त जुक्तं, जिन उक्त सत्यं सु तत्वार्थ सार्धं।
आसा भय लोभ अस्नेह तिक्तं, ते माल दिस्टं हिदै कंठ रुलितं ॥

शब्दार्थ - (जे) जो (सुद्ध दिस्टी) सम्यग्दृष्टि (संमिक्त जुक्तं) सम्यक्त्व से युक्त हैं अर्थात् जिन्हें निज शुद्धात्मानुभूति-निश्चय सम्यग्दर्शन हो गया है (जिन उक्त) जिनेन्द्र परमात्मा के कहे अनुसार (सत्यं) सत्य है, ऐसा अनुभव कर लिया (सु तत्वार्थ सार्धं) अपने इष्ट शुद्धात्म स्वरूप की साधना में रत रहते हैं (आसा भय लोभ अस्नेह) आशा, भय, लोभ, स्नेह (तिक्तं)

छोड़ दिया है, छूट गया है (ते) वह (माल दिस्टं) इस रत्नत्रय माला को देखते हैं (ह्रिदै कंठ रुलितं) उनके हृदय कंठ पर यह माला झूलती है।

विशेषार्थ - जिन्हें निज स्वभाव का अनुभव हो गया है। जो शुद्ध दृष्टि निश्चय सम्यक्त्व से युक्त है और जिनवाणी की यथार्थ प्रतीति सहित अपने इष्ट शुद्धात्म स्वरूप की साधना में रत रहते हैं तथा आनन्द मय रहने में जो बाधक कारण आशा, भय, लोभ, स्नेह, आदि का त्याग करते हैं, वे ज्ञानी अपने हृदय कंठ में ज्ञान गुणमाला को झुलती हुई देखते हैं अर्थात् निज शुद्धात्म तत्व का स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, अनुभवन करते हैं और आनन्द-परमानन्द में रहते हैं।

यहाँ भगवान महावीर, राजा श्रेणिक की शंका का समाधान करते हैं कि जो सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व से युक्त हैं जैसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है, जिनवाणी में आया है, वैसा ही अपने शुद्धात्म स्वरूप को जाना और निज अनुभूति से यह बात सत्य है, ध्रुव है, प्रमाण है ऐसा स्वीकार कर उसकी साधना करते हैं क्योंकि अभी मात्र श्रद्धा अनुभूति की ही शुरूआत हुई है। अनादि अज्ञान मिथ्यात्व से पीछा छूटा, चार अनन्तानुबंधी और तीन मिथ्यात्व प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम ही हुआ है। अभी चारित्र मोहनीय तथा दर्शन मोहनीय की कौन सी स्थिति बनी है तथा पूर्व कर्म बन्ध, संस्कार, संयोग तो साथ लगे हैं। अब इसमें जीव की पात्रता, पुरूषार्थ का कितना जोर लगता है, ज्ञान की क्या स्थिति है ? यह सब देखना-जानना आवश्यक है और सबसे बड़ी बात अभी अव्रत दशा में, परिवार में रहते आशा, भय, लोभ, स्नेह, आदि का संबंध है। इनके रहते हुये अपने आत्म स्वरूप का स्मरण ध्यान कैसे रह सकता है ? रत्नत्रय मालिका तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र तीनों की एकता रूप अर्थात् एक स्थिति में होने पर ही उस पात्रता अनुसार मार्ग पर चलना होता है और तभी वह आनन्द परमानन्द की दशा बनती है।

यह अध्यात्म साधना का मार्ग सूक्ष्म है, अन्तर प्रवृत्ति, जीव की भाव दशा, कर्मों की सत्ता, स्थिति, अनुभाग, ज्ञान बल और पुरूषार्थ जैसा काम करता है, उसी अनुसार पर्याय की पात्रतानुसार परिणमन चलता है।

मूल में द्रव्य स्वभाव तो परिपूर्ण शुद्ध परमानन्द मयी है, उसकी पर्याय

में अभिव्यक्ति प्रगटपना कितने अंश में कितना है ? यही साधना मुक्ति का मार्ग है।

सम्यग्दर्शन होने से यह बात निश्चित हो गई कि अब संसार का अन्त आ गया-दो, चार, दश भव में मुक्त होगा ही अट्ठावन लाख योनियों के जन्म मरण का चक्र छूट गया, ४१ कर्म प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति हो गई, पर अकेले सम्यग्दर्शन मात्र से केवल ज्ञान या मोक्ष नहीं हो सकता सम्यग्दर्शन के बाद भी जितना मोह, राग, द्वेष है, उतना दुःख है, उन रागद्वेषादि को भी छोड़कर जीव जब शुद्धोपयोग रूप होता है तब ही वह केवलज्ञान तथा मोक्ष को पाता है।

प्रश्न - ''जे सुद्ध दिस्टी संमिक्त जुक्तं '' से क्या अभिप्राय है इसे दो बार क्यों कहा है ?

समाधान - सम्यक्त्व के बिना स्वानुभव नहीं होता और स्वानुभव पूर्वक ही सम्यग्दर्शन होता है। स्वानुभव एक दशा (पर्याय) है यह दशा जीव को अनादि से नहीं हुई, परन्तु नई प्रगट होती है। इस स्वानुभव दशा की बहुत महिमा है। स्वानुभव में ही मोक्षमार्ग है। स्वानुभव में जो आनन्द है, वह आनन्द जगत में अन्यत्र कहीं पर भी नहीं है।

इस जगत में अनन्त जीव हैं, प्रत्येक जीव चैतन्य मय परिपूर्ण ज्ञान सुख स्वभावी परमात्म स्वरूप है परन्तु ऐसे अपने स्वरूप को जीव स्वयं नहीं देखता, अनुभव नहीं करता, इससे अनादि से मिथ्यादृष्टि अज्ञानी दर्शन मोहांध है।

अनादि से अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर पर भावों में ही तन्मय हो रहा है। स्व-पर की जैसी भिन्नता है, वैसी यथार्थ नहीं जानता और विपरीत मानता है।

यह शरीर ही मैं हूँ-यह शरीरादि मेरे हैं, और मैं इनका कर्ता हूँ इस मान्यता का नाम-मिथ्यात्व है।

कोई मुमुक्षु जीव जब अन्तर के पुरुषार्थ से स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान रूप तत्वार्थ श्रद्धान करता है, तब वह जीव सम्यक्त्वी होता है। स्व-क्या ? पर क्या ? इन सबको भेदज्ञान से अच्छी तरह से पहिचान कर प्रतीति करने से

सम्यक्त्व होता है। स्व-पर के ऐसे यथार्थ श्रद्धान के साथ निज शुद्धात्मानुभूति होना, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

स्व-पर की श्रद्धा में या देव, गुरू, शास्त्र, की श्रद्धा के समय में निश्चय सम्यक्त्व निज शुद्धात्मानुभूति ही इष्ट श्रेयस्कर है।

जिसको शुद्धात्म श्रद्धान रूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं है वह जीव सम्यक्त्वी ही नहीं है, अकेले व्यवहार को सम्यक्त्व ही नहीं कहते।

जब निज शुद्धात्मानुभूति निश्चय सम्यक्त्व हो, तब ही जीव को चौथा गुणस्थान होता है और तब ही वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

यहाँ यह समझना है कि स्व-पर के श्रद्धान सहित शुद्धात्मानुभूति आवश्यक है। शुद्धात्मा का श्रद्धान स्वानुभव वह निश्चय सम्यक्त्व है, इसकी विद्यमानता में ही स्व-पर के श्रद्धान को या देव, गुरू, धर्म की श्रद्धा को सच्ची श्रद्धा कहने में आती है। निश्चय से रहित अकेले शुभ राग रूप व्यवहार के द्वारा जीव सम्यक्त्वी नहीं कहलाता जिसको निश्चय सम्यक्त्व हो, उसको ही सम्यक्त्वी कहते हैं।

चतुर्थ गुणस्थान से ही सभी जीवों को स्वानुभूति सहित निश्चय सम्यक्त्व होता है। ऐसे निश्चय सम्यक्त्व के बिना धर्म या मोक्ष मार्ग का प्रारम्भ नहीं होता, इसलिए इसको पक्का करने के लिए दो बार कहा है कि जिसको निश्चय सम्यक्त्व है और जो जिनेद्र परमात्मा ने कहा है, वह सत्य है, ऐसा अपने अनुभव से प्रमाण कर उसकी साधना करता है अर्थात् उस दशा का पुरूषार्थ करता है तथा आशा, भय, लोभ, स्नेह को छोड़ दिया है, जिसके यह छूट गये हों, वह इस रत्नत्रय मालिका को अपने हृदय कंठ में झुलती हुई देखता है अर्थात् जो मोह के चक्कर से छूट गया हो, जिसकी अव्रत दशा छूट गई हो, जो श्रावक पंचम गुणस्थानवर्ती हो, उसे अपने शुद्धात्म स्वरूप का स्मरण ध्यान रहता है। वह निराकुल आनन्द में रहता है।

प्रश्न - यह आशा, भय, लोभ स्नेह क्या हैं, इनका आत्मा से क्या संबन्ध है ?

समाधान - आशा - चाह को आशा कहते हैं। यह काम अभी नहीं हुआ, लेकिन अब हो जायेगा, ऐसा नहीं हुआ, तो ऐसा हो जायेगा, यह माया का

चक्कर ही आशा है, और संसारी जीव इसी आशा से जीते हैं। स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, वैभव, परिग्रह इसी आशा की पूर्ति के लिए हैं। अगर आशा न हो, तो फिर इनकी क्या जरूरत है ? आशा क्या है ?

आशा नाम नदी मनोरथ जला, तृष्णा तरंगा कुला।
राग ग्राहवती वितर्क विहगा, धैर्य द्रुमध्वंसिनी ॥
मोहावर्त सुदुस्तरातिगहना, प्रोतुंगचिंता तटी।
तस्या पारगता विशुद्ध मनसो,धन्यास्तु योगीश्वरा: ॥

यह आशा मोह की तीव्रता में होती है, जो अज्ञान भाव है। अव्रत दशा में रहते यह छूटती नहीं है।

भय- विभ्रम, शंकित, डरने को कहते हैं। सम्यग्दृष्टि के संसारी सात भय तो छूट गये हैं पर अभी नो कषाय रूप भय तथा संज्ञा रूप भय सत्ता में पड़ा है, इस कारण कर्मोदय जन्य स्थिति में भयभीतपना होता है, यह भी अज्ञान भाव है। मोह के कारण ही शंका-कुशंका भय होता है, यह भी अव्रत दशा में रहते छूटता नहीं है।

लोभ- परिग्रह की मूर्च्छा, धन वैभव की चाह, संग्रह करने को लोभ कहते हैं। लोभ पाप का बाप होता है, जब तक पापादि के संयोग में अव्रत दशा में रहते हैं, तब तक यह होता है, इसी से नाना प्रकार के विकल्प भय और चिन्ता होती है।

स्नेह- लगाव, अपनत्व, प्रियता, प्रेम भाव को स्नेह कहते हैं, स्नेह का बंधन ही संसार है, यह रेशम की गांठ की तरह सूक्ष्म होता है, सहज में नहीं छूटता, यह प्रमाद का अंग भी है, स्त्री आदि के स्नेह वश ही जीव संसार में रूलता है।

यह सब चारित्र मोहनीय के कारण अव्रत दशा में होते हैं और इनके रहते जीव अपने स्वभाव की ओर दृष्टि नहीं कर सकता। आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है, यह आत्मा के स्वभाव में हैं ही नहीं, पर जब तक विभाव रूप परिणमन है, और अव्रत भाव मौजूद है, तब तक यह सब होते हैं, और इनके होते हुए जीव अपने स्वरूप की साधना नहीं कर सकता।

विषयों की आशा नहीं जिनके, साम्य भाव धन रखते हैं।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के, दु:ख समूह को हरते हैं ॥

इन आशा, भय, स्नेह, लोभ का त्याग होने पर परिवार आदि से मोह भाव छूटने पर जब संयम भाव आता है, तब अपने स्वरूप की सुरत रहती है और वह साधक अपने स्वभाव की साधना करता हुआ आनन्द, परमानन्द में रहता है।

प्रश्न - प्रभु ! मैं इतना सुन समझ रहा हूँ, आपके आशीर्वाद से क्षायिक सम्यक्त्व भी हो गया, तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी हो गया, पर मेरे अभी तक संयम भाव नहीं हो रहा, इसका क्या कारण है ?

समाधान - हे राजा श्रेणिक ! नरक आयु का बंध सत्ता में पड़ा है। सम्यक्त्व होने के पूर्व, यशोधर मुनिराज के गले में सर्प डालने से नरक आयु का बंध हो गया है इसलिए संयम भाव नहीं हो रहे क्योंकि सम्यग्दर्शन से पूर्व जिसकी खोटी आयु का बंध हो जाता है फिर उसे संयम के भाव या संयम नहीं हो सकता। संयम का भाव, संयम तो देव आयु के बंधन का कारण है और यदि सम्यग्दर्शन के पूर्व आयु बंध न हुआ हो, तो उसे नियम से संयम के भाव होते हैं, जीवन में संयम आता है, और वह देवगति ही जाता है।

इसलिये हे राजा श्रेणिक ! तुम्हें यह रत्नत्रय मालिका अपने हृदय कंठ पर झुलती नहीं दिखती अर्थात् हमेशा अपना स्मरण ध्यान नहीं रहता इसीलिए हमेशा आनन्द-परमानन्द में नहीं रहते। जो जीव, सम्यक्त्वी संयमी होते हैं, पंचम गुणस्थानवर्ती, जिनकी शल्य, आशा, भय, लोभ, स्नेह छूट जाते हैं, उन्हें यह रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला हृदय कंठ पर झुलती हुई दिखने लगती है। वह अपने स्वरूप की साधना करते हुये, अपने आत्म गुणों का विकास कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

सम्यग्दर्शन की महिमा बड़ी अपूर्व है, सम्यग्दर्शन में पूर्ण परमात्मा प्रतीति में आ जाता है, उसके महत्व का क्या कहना है।

आत्म अनुभव के बिना सब कुछ शून्य है। लाख कषाय की मंदता करो, या लाख शास्त्र पढ़ो, किन्तु अनुभव बिना सब व्यर्थ है।

सम्यग्दृष्टि भय से, आशा से, स्नेह से अथवा लोभ से, कुदेव, अदेव, कुशास्त्र तथा कुलिंग वेषधारी को प्रणाम अथवा विनय नहीं करता।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने को त्रिकाली आत्मा हूँ, मैं ध्रुव हूँ, सिद्ध हूँ, ऐसा ही अनुभव करते हैं पर अभी चौथे गुणस्थान में उपादेय रूप शुद्ध भाव अल्प

हैं, वह भाव पाँचवे, छठे गुणस्थान में विकसित होता जाता है और हेय रूप विकार भाव चौथे गुणस्थान में मंद होता जाता है। जैसे-जैसे शुद्धता बढ़ती है, वैसे-वैसे गुणस्थान क्रम भी आगे बढ़ता जाता है, गुणस्थान अनुसार स्व ज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति भी विकसित होती जाती है।

प्रश्न - प्रभो ! जब सम्यग्दर्शन की इतनी महिमा है, फिर यह अवरोधक क्यों लगे हैं ?

इसका समाधान भगवान की दिव्य ध्वनि में आता है-

इसी संदर्भ में यह गाथा सूत्र है-

गाथा - २५

जिनस्य उक्तं जे सुद्ध दिस्टी, संमिक्तधारी बहुगुन समिद्धं ।
ते माल दिस्टं हिदै कंठ रुलितं, मुक्ति प्रवेसं कथितं जिनेन्द्रं ।।

शब्दार्थ - (जिनस्य उक्तं) जिनेन्द्र परमात्मा, भगवान महावीर ने कहा कि (जे सुद्ध दिस्टी) जो शुद्ध दृष्टि हैं (संमिक्तधारी) सम्यक्त्व के धारी (बहुगुन समिद्धं) बहुत गुणों से समृद्ध हैं (ते माल दिस्टं) वह इस रत्नत्रय मालिका को देखते हैं (हिदै कंठ रुलितं) अपने हृदय कंठ में झुलती हुई (मुक्ति प्रवेसं) मुक्ति में प्रवेश करते हैं अर्थात् मुक्ति मार्ग में आगे बढ़ते हैं, (कथितं जिनेन्द्रं)जिनेन्द्र परमात्मा ने निरूपण किया है।

विशेषार्थ - भगवान महावीर ने कहा कि जो शुद्ध दृष्टि अपने त्रिकाली ध्रुव स्वभाव की साधना करते हैं, जो सम्यक्त्व के धारी बहुत गुणों से समृद्ध वान हैं अर्थात् अहिंसा उत्तम क्षमादि गुण प्रगट हो गये हैं- जिनकी पात्रता बढ़ गई, अर्थात् पंचम आदि गुणस्थानों में संयम, तप मय जीवन बनाते हुये, निज स्वभाव की साधना आराधना में रत रहते हैं, वे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, ज्ञान मई ज्ञान गुणमाला निज शुद्धात्म स्वरूप को अपने हृदय कंठ अर्थात् स्व संवेदन में झुलती हुई देखते, प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और निज स्वभाव में लीन होकर मुक्ति में प्रवेश करते हैं अर्थात् मुक्ति मार्ग में आगे बढ़ते हैं, ऐसा केवलज्ञानी जिनेन्द्र परमात्मा की दिव्य ध्वनि में आया, निरूपण किया।

हे राजा श्रेणिक ! सम्यग्दर्शन की तो अपूर्व महिमा है, यह तो मुक्ति मार्ग का प्रथम सोपान है, पर अभी संसार में कर्म संयोग दशा में जो आवरण

ड़ा है, यह दूर न हो और अपने आत्म गुण विकसित न हों, तब तक यह त्नत्रय ज्ञान गुणमाला स्पष्ट दिखती नहीं है। अनुभव में तो आ गई, उसका वरूप अतीन्द्रिय आनन्द पूर्ण परमात्म स्वरूप प्रत्यक्ष वेदन में आ गई, अब सके लिए जो शुद्ध दृष्टि अपने त्रिकाली ध्रुव स्वभाव की साधना करते हैं और ह कब होती है ? जब आशा, भय, स्नेह, लोभ आदि छूट जाते हैं, जो अव्रत शा से ऊपर उठता है, वह आत्म पुरूषार्थी जीव अपना स्व-कार्य साधने में फल होता है। जिसका ज्ञान, रागादि भाव और विकल्प से भिन्न होकर पने सत्स्वरूप का निर्विकल्प अनुभव करता है, वहाँ अपूर्व शान्ति का वेदन ोता है।

ऐसी स्वानुभव दशा होते ही, अन्तर में खुद को पक्का निश्चय हो चुका के अब मैं मोक्ष के मार्ग में हूँ, अब मेरे भव का अन्त आ गया, अब मैं सिद्ध गवान के समाज में शामिल हो गया भले ही मैं छोटा हूँ, अभी मेरा साधक ाव अल्प है, तो भी मैं सिद्ध के समान ही हूँ। मेरे गुण प्रगट होने पर मैं भी पूर्ण रमात्मा हूँ, इसी लक्ष्य इसी भावना को लेकर अपने अचिन्त्य आत्म वैभव ो निज में देखकर साधक परम तृप्ति का अनुभव करता है।

अभी ग्रहस्थ दशा में परिवार सहित है, फिर भी उसकी ज्ञानचेतना उन ब से जल में कमलवत् अलिप्त रहती है ; अत: वह कर्मों से लिप्त नहीं ोता, परन्तु छूटता ही जाता है।

जिसको ऐसा स्वानुभव होता है, उसे ही उसका भान होता है। बाकी ाणी से, बाह्य चिन्हों से या राग से उसकी पहिचान नहीं होती।

ज्ञानी की स्वानुभूति का पथ जगत से निराला है, ऐसे अभूतपूर्व आनन्द ी अनुभूति लिए उसे मस्ती जागृत होती है, ज्ञानी की अद्भुत मस्ती को ानी ही पहिचानता है, उसकी गम्भीरता उसके अन्दर में समायी रहती है।

वह अकेला ही अन्तर में आनन्द का अनुभव करता हुआ, मोक्ष पथ पर ला जा रहा है, उसे जगत की परवाह नहीं रहती। धर्म के प्रसंग में तथा र्मात्मा के संग में उसको विशिष्ट उल्लास आता है।

अन्तर शुद्ध द्रव्य रूप, निष्क्रिय, ध्रुव, चिदानन्द वह निश्चय तथा उसके अवलम्बन से प्रगट हुई निर्विकल्प, मोक्षमार्ग दशा व्यवहार है।

अध्यात्म का ऐसा निश्चय – व्यवहार ज्ञानी ही जानता है।

पर द्रव्य को छोड़ने से गुणस्थान बढ़े, ऐसा नहीं है। वस्त्र लंगोटी होने पर पाँचवां व लंगोटी छोड़ने पर छठा- सातवां गुणस्थान हो, ऐसा नहीं है किन्तु अन्तर में द्रव्य को ग्रहण कर उसके आचरण की उग्रता होने पर वैसे गुणस्थान स्वयमेव प्रगट होते हैं, और उससे गुणस्थान बढ़ता है और बाह्य में गुणस्थानानुसार निमित्त, सम्बन्ध-कर्मोदय छूट जाते हैं।

आत्म गुणों का प्रगट होना, बढ़ना ही गुणस्थान क्रम है।

गुणस्थान अनुसार ही ज्ञान,उसी अनुसार क्रिया होती है वैसे ही भाव होते हैं। कोई चौथे गुणस्थान में केवलज्ञान अथवा मन: पर्ययज्ञान नहीं होता तथा गुणस्थान के विपरीत आचरण हो, ऐसा भी नहीं हो सकता।

सम्यग्दृष्टि उदय भाव के आधीन नहीं है, वह तो अन्तर स्वभाव पर अवलम्बित है। धर्मी को निज स्वभाव का आलम्बन हमेशा रहता है।

ज्ञायक प्रमाण ज्ञान है तथा यथानुभव प्रमाण स्वरूपाचरण चारित्र है।

बाह्य क्रियानुसार अथवा शुभरागानुसार चारित्र नहीं होता, वह तो अन्तर अनुभव प्रमाण होता है। इसकी साधना करता हुआ साधक अपने बहुत गुणों से समृद्धवान होता है, तब उसे यह रत्नत्रयमयी ज्ञान गुण माला हृदय कंठ पर झुलती दिखती है अर्थात् उसे अपने स्वरूप का स्मरण ध्यान रहता है और वह हमेशा आनन्द-परमानन्द में रहता हुआ, कर्मों का क्षय करता हुआ, मुक्ति मार्ग में आगे बढ़ता है।

राजा श्रेणिक ने जब यह सुना तो उसे अति आनन्द, उत्साह, बहुमान, जागृत हुआ और वह जय-जयकार मचाता हुआ कहने लगा कि प्रभो ! आपके प्रताप से मुझे अपना स्वरूप प्राप्त हुआ, आत्मा में अपूर्व भाव जाग्रत हुये, अब इस स्वरूप को पूर्णत: प्रगट करके अल्पकाल में ही मैं परमात्मा बन जाऊँगा। जहाँ हमेशा के लिए सिद्धालय में अनन्त सिद्धों के साथ विराजमान रहूँगा।

जय हो, जय हो, महान जैन धर्म की जय हो।
भगवान महावीर स्वामी की जय हो॥

राजा श्रेणिक फिर प्रश्न करता है कि प्रभो ! क्या इस साधक दशा में यह रत्नत्रयमयी ज्ञान गुणमाला निरन्तर वर्तती है । यह इतने भव्य जीव श्रावक बैठे हैं, यह तो सब अपने आत्म स्वभाव की अनुभूति करते हुये, आनन्द-परमानन्द में रहते हैं, रहेंगें, या अभी और कसर बाकी है ?

इसका समाधान भगवान द्वारा अगली गाथा में किया गया है-

गाथा-२६

संमिक्त सुद्धं मिथ्या विरक्तं, लाजं भयं गारव जेवि तिक्तं ।
ते माल दिस्टं हिदै कंठ रूलितं, मुक्तस्य गामी जिनदेव कथितं ॥

शब्दार्थ - (संमिक्त सुद्धं) जो सम्यक्त्व से शुद्ध हैं (मिथ्या विरक्तं) मिथ्यात्व से छूट गये हैं (लाजं भयं गारव) लाज, भय और गारव (जेवि) जिसका (तिक्तं) छूट गया है (ते माल दिस्टं) वह इस मालिका को देखते हैं (हिदै कंठ रूलितं) हृदय कंठ पर झुलती हुई (मुक्तस्य गामी) वह मोक्षगामी हैं, मुक्ति के अधिकारी हैं (जिनदेव कथितं) ऐसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है, निरूपण किया है ।

विशेषार्थ - जो आत्मानुभवी जीव सम्यक्त्व से शुद्ध हैं, मिथ्यात्व से छूट गये हैं तथा लोक लाज, भय, गारव (अहंकार) आदि दोषों को त्याग कर वीतरागी साधु पद धारण करते हैं, वे इस रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला को अपने हृदय कंठ में झुलती हुई देखते हैं । अपने चैतन्य स्वरूप का स्व संवेदन में प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं तथा अपने ध्रुव धाम शुद्ध स्वभाव में लीन होकर ज्ञानी मुक्ति को प्राप्त करते हैं । यह श्री जिनेन्द्र परमात्मा के वचन हैं,ऐसा उन्होंने कहा है कि हे राजा श्रेणिक ! यहाँ जो इतने श्रावक बैठे हैं, इनमें जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि अर्थात् जिन्हें निज शुद्धात्मानुभूति हो गई है और जो मिथ्यात्व से परिपूर्ण छूट गये हैं तथा अब लाज, भय, गारव को त्याग कर जो वीतरागी साधु बनेंगे क्योंकि अभी इन्हें लोक लाज भय लगा है, अभी इन्हें समाज सम्प्रदाय पद आदि का गारव, अहंकार है । तभी तो देखो किस दशा में बैठे हैं ? यह अभी लाज, भय, गारव सहित हैं जब यह सब छूटेंगे, निर्ग्रन्थ दिगम्बर

वीतरागी साधु बनेंगे, तब रत्नत्रय मालिका से सुशोभित होंगे और शुद्धोपयोग की साधना कर मोक्ष पद प्राप्त करेंगे अर्थात् अरिहन्त सिद्ध परमात्मा बनेंगे।

स्वभाव सन्मुख होने पर समकिती को (दृष्टि अपेक्षा) कषाय रहित परिणति होती है, छठे गुणस्थान में अकषाय परिणमन रहता है परन्तु शुद्धोपयोग नहीं होता, चौथे पांचवे गुणस्थान में शुद्धाशुद्ध परिणति रहती है, स्वरूप में लीन होने पर बुद्धि पूर्वक राग का अभाव होना ही शुद्धोपयोग है और यह सातवें गुणस्थान से शुरू होकर बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है, तब अनन्त चतुष्टय रूप केवलज्ञान अरिहन्त सर्वज्ञ पद प्रगट होता है।

प्रश्न – लाज, भय, गारव का स्वरूप क्या है ?

समाधान – लाज, भय – शरम, संकोच, मर्यादा अपने सत्स्वरूप को छिपाना लाज है। जब तक संसार की अपेक्षा, दूसरों का महत्व, अस्तित्व मान्यता रहती है, तब तक यह लोक लाज रहती है। सामने पर की सत्ता अस्तित्व मानना ही लाज, भय का कारण है, अन्तर की संकोच वृत्ति, अपने स्वरूप का पूर्ण स्वाभिमान, बहुमान न होने पर यह लाज रहती है इसीलिए यह आवरण वस्त्रादि लादे रहते हैं, मर्यादा में बंधे रहते हैं, जो इन सबको छोड़ देता है, वह निर्बन्ध, निर्ग्रन्थ होता है।

गारव – अहंकार, पद, सत्ता, सामाजिक अधिकार का गौरव रखना यह गारव है, राग भाव का अंश भी विद्यमान रहना गारव है। यह गारव छूटने पर ही वीतरागता आती है। गारव का मतलब, लोभ, वजन, जिम्मेदारी, बडप्पन का भान रहना, यह सब छूटने पर ही निरहंकारी आकिंचन पना, वीतरागता होती है।

प्रश्न – अगर यह लाज – भय, गारव न रहेगा तो संसार समाज की मर्यादा व्यवहार कैसे चलेगा, फिर इसका क्या होगा ?

समाधान – जिन्हें संसार समाज की मर्यादा रखना है, व्यवहार चलाना है, वह तो अभी मिथ्यात्व के गहरे अन्धकार में डूबे हैं, वहाँ आत्मा परमात्मा, मुक्ति का तो काम ही नहीं है जिन्होंने अभी सिद्धान्त को नहीं समझा, वस्तु स्वरूप को नहीं जाना, उनके लिए तो यह संसार और समाज है ही, इसे कौन छुड़ाता है ? यह तो उनकी बात चल रही है जो इस रत्नत्रय

मालिका को धारण कर अमरत्व पद पाना चाहते हैं आनन्द-परमानन्द में रहते हुए जिन्हें परमात्मा होना है, उन्हें यह सब छोड़ना होगा, संसार और मोक्ष यह दोनों विपरीत मार्ग हैं। संसार में रहने वाले के लिए भी खुला मार्ग पड़ा है और मोक्ष चाहने वाले को भी खुला मार्ग पड़ा है। दोनों का परिणमन भी सामने है, अब जो जिसे इष्ट हो, रूचे, वह उस मार्ग पर चले, यहाँ किसी का किसी पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। पूर्ण स्वतंत्रता, स्वाधीनता है, जैसी जिसकी भावना, धारणा हो वह उस रूप चलता ही है, रहता ही है। यहाँ तो एक जीव का दूसरे जीव से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, न कर सकता, अपनी-अपनी देखना है। अनन्त जीव हैं और संसार भी अनादि अनंत है। अपने रहने न रहने से कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है, जिसकी दृष्टि पलट गई है, जो सम्यग्दृष्टि है, जिन्हें वस्तु स्वरूप और सिद्धान्त का निर्णय ज्ञान है, जो मुक्ति चाहते हैं, उनके लिये यह बात है। शेष तो संसार का मजा मौज लूट ही रहे हैं। इसकी फिकर मत करो, अपनी फिकर करो।

सम्यग्दृष्टि को आत्मा के सिवाय बाहर कहीं अच्छा नहीं लगता, जगत की कोई वस्तु सुन्दर नहीं लगती, जिसे चैतन्य की महिमा एवं रस लगा है। उसको बाह्य विषयों का रस टूट जाता है, कोई पदार्थ सुन्दर या अच्छा नहीं लगता। अनादि अभ्यास के कारण, अस्थिरता के कारण, स्वरूप में नहीं रहा जाता, इसलिए उपयोग बाहर आता है, उसे समेटने के लिए ही यह सब लगी लिपटी सफाई की जाती है।

साधक दशा में शुभ भाव बीच में आते हैं परन्तु साधक उन्हें छोड़ता जाता है। सम्यग्दृष्टि को ज्ञान वैराग्य की ऐसी शक्ति प्रगट होती है कि श्रावक दशा में होने पर भी सभी कार्यों में स्थित होने पर भी लेप नहीं लगता, निर्लेप रहते हैं अर्थात् कर्म बन्ध नहीं होता। ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनों भिन्न परिणमती हैं, अल्प अस्थिरता है, वह अपने पुरूषार्थ की कमजोरी से होती है, उसे दूर करके जब निज पुरूषार्थ जागृत होता है, तब अखंड द्रव्य को ग्रहण करके प्रमत्त-अप्रमत्त स्थिति में झूलते हैं, वह मुनिराज धन्य हैं।

साधु निज स्वरूप में निरन्तर जाग्रत रहते हैं, द्रव्य स्वभाव तो निवृत्त

ही है। उसका दृढ़ता से अवलम्बन लेकर भविष्य के विभावों से निवृत हो जाना ही मुक्ति है। रत्नत्रय मालिका जिनके ह्रदय कंठ पर सुशोभित हो गई, मुक्ति तो उनके हाथ में आ गई, स्वरूप की लीला जात्यन्तर है। मुनिराज को एकदम स्वरूप रमणता जाग्रत है। अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में लीनता होती जाती है। मुनि असंग रूप से आत्मा की साधना करते हैं। स्वरूप गुप्त हो गये हैं। प्रचुर स्व संवेदन ही मुनि का भावलिंग है।

अन्तर्मुहूर्त में स्वभाव में डुबकी लगाते हैं, अन्तर में निवास के लिए ध्रुवधाम मुक्ति महल मिल गया है, उसके बाहर आना अच्छा नहीं लगता है। साधक दशा इतनी बढ़ गई है कि द्रव्य तो कृत कृत्य ही है परन्तु पर्याय में भी अत्यन्त कृत-कृत्य हो जाते हैं।

आत्मा तो निवृत्त स्वरूप शान्त स्वरूप है। मुनिराज को उसमें से बाहर आना प्रवृत्ति रूप लगता है, उच्च से उच्च शुभ भाव भी बोझ रूप लगते हैं। शाश्वत आत्मा की ही उग्र धुन लगी रहती है, आत्मा के प्रचुर स्व संवेदन में से बाहर आना नहीं सुहाता।

सम्यग्दृष्टि जीव को तथा मुनि को भेदज्ञान की परिणति तो चलती ही रहती है। सम्यग्दृष्टि ग्रहस्थ श्रावक को उसकी दशा के अनुसार उपयोग अन्तर में जाता है और बाहर आता है। मुनिराज का उपयोग तो अतिशीघ्रता से बारम्बार अन्तर में उतर जाता है। सम्यग्दृष्टि को अपने गुणस्थान के अनुसार पुरूषार्थ वर्तता है। इसलिए लोगों का भय त्याग कर - शिथिलता छोड़कर - स्वयं दृढ़ पुरूषार्थ करना चाहिए **''लोग क्या कहेंगे'' किसका क्या होगा?** ऐसा देखने से इस रत्नत्रय मालिका को उपलब्ध नहीं किया जा सकता। साधक को एक शुद्धात्मा का ही संबंध होता है, जो निर्भय रूप से साधु पद का उग्र पुरूषार्थ करता है, बस वही रत्नत्रय मालिका को प्राप्त करने मुक्ति श्री का वरण करने का अधिकारी है।

जब राजा श्रेणिक ने यह सब सुना और उपस्थित जन समूह की ओर देखा, भगवान के समवशरण में एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकायें, बारह हजार साधु और छत्तीस हजार आर्यिकायें थीं, इन सबको देखकर राजा

श्रेणिक ने फिर प्रश्न किया कि प्रभो ! यह इतने साधु साध्वी बैठे हैं, इनके तो सब आशा, स्नेह, लाज, भय, गारव छूट गये यह तो सब इस रत्नत्रय मालिका के अधिकारी मुक्ति को प्राप्त करने वाले हैं, अब इसमें तो कोई गड़बड़ नहीं है ?

तब भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि में आता है, आगे गाथा-

गाथा-२७

जे दर्सनं न्यान चारित्र सुद्धं, मिथ्यात रागादि असत्यं च तिक्तं।
ते माल दिस्टं हिदै कंठ रूलितं, संमिक्त सुद्धं कर्म विमुक्तं ।।

शब्दार्थ - (जे) जो साधु (दर्सनं न्यान चारित्र सुद्धं) शुद्ध सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के धारी हैं। जिनके (मिथ्यात)मिथ्यात्व (रागादि)राग -द्वेष (असत्यं च तिक्तं) और असत्य भाव छूट गये हैं (ते) वह (माल दिस्टं) रत्नत्रय मालिका को देखते हैं (हिदै कंठ रूलितं) उनके हृदय कंठ पर झुलती है(संमिक्त सुद्धं) जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं (कर्म विमुक्तं) वह कर्मों से छूटते हैं, मुक्ति प्राप्त करते हैं।

विशेषार्थ - जो ज्ञानी साधक सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से शुद्ध हैं अर्थात् वीतरागी साधु पद पर स्थित हैं, जिनका मिथ्यात्व छूट गया है, जो क्षणभंगुर रागादि भावों में नहीं बहते, बल्कि ज्ञायक स्व समय शुद्धात्म-स्वरूप में लीन रहते हैं- वही ज्ञानी अपने हृदय कंठ में रत्नत्रयमयी ज्ञान गुणमाला को झुलती हुई देखते हैं अर्थात् हरक्षण चिदानन्द मयी ध्रुवधाम का अनुभव करते हैं। इसी शुद्ध सम्यक्त्वमयी स्वभाव लीनता से कर्मों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

भगवान महावीर, राजा श्रेणिक की जिज्ञासा का समाधान करते हैं कि यहाँ जो इतने साधु बैठे हैं, इनमें जो साधु सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से शुद्ध हैं अर्थात् निज शुद्धात्मानुभूति युत जो अपने स्वरूप की साधना में रत हैं। जिनका मिथ्यात्व, राग-द्वेष और असत् पना छूट गया है। वही इस रत्नत्रय मालिका को अपने हृदय कंठ में रूलती देखते हैं। निरन्तर अपने आत्मीक

आनन्द परमानन्द में रहते हुये, सारे कर्म मलों से मुक्त होकर केवलज्ञान स्वरूप अरिहन्त पद और पूर्ण मुक्त सिद्ध पद पाते हैं।

अज्ञानी जीव को अनादि काल से विभाव का अभ्यास है। शुभ परिणाम धारणा आदि का थोड़ा पुरुषार्थ करके मैंने बहुत किया है, ऐसा मानकर जीव आगे बढ़ने के बदले अटक जाता है। अज्ञानी को जरा कुछ आ जाये, कुछ हो जाये, थोड़ा बुद्धि का क्षयोपशम हो वहाँ उसे अभिमान हो जाता है क्योंकि वस्तु के अगाध स्वरूप का उसे ख्याल ही नहीं है, इसलिये वह बुद्धि के विकास शुभाचरण रूप क्रिया आदि में संतुष्ट होकर अटक जाता है।

ज्ञानी को पूर्णता का लक्ष्य होने से वह अंश में अटकता नहीं है। पूर्ण पर्याय प्रगट हो तो भी स्वभाव था सो प्रगट हुआ इसमें नया क्या है? इसलिए ज्ञानी को अभिमान नहीं होता।

आत्मा में जो पंच महाव्रत, संयम, तप आदि के परिणाम होते हैं सो शुभ राग है, आश्रव है, उसे ही संवर मानना तो भ्रम है। सम्यग्दृष्टि को भी जितना रागांश है, वह धर्म नहीं है। राग रहित व सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप भाव ही धर्म है।

मैं ज्ञायक हूँ ऐसे स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान पूर्वक जितना वीतराग भाव हुआ, उतना संवर धर्म है तथा उसी समय जो रागांश है सो आश्रव है। धर्मी जीव इन दोनों को भिन्न-भिन्न पहिचानता है, प्रथम व्यवहार व बाद में निश्चय ऐसा नहीं है।

जिनके अन्तर में भेदज्ञान रूपी कला जागी है, चैतन्य के आनन्द का वेदन हुआ है, ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा सहज वैरागी हैं। अभी जिसको अन्तर में आत्मभान ही न हो, तत्व सम्बन्धी कुछ भी विवेक न हो, वह वैरागी बनकर ध्यान में बैठकर अपने को साधु माने तो वह द्रव्यलिंगी है। द्रव्यलिंगी विषय सेवन छोड़कर, तपश्चरण करे तो भी वह संसारी है।

द्रव्यलिंगी दिगम्बर साधु - नौ कोटि बाढ़ ब्रहम्चर्य पालन करे, मन्द कषाय करे परन्तु आत्मा का भान न होने से मिथ्यात्व सहित प्रथम गुणस्थान वर्ती है।

मुनि को छठे गुणस्थान में शरीर के अतिरिक्त किसी भी संयोग

के प्रति मूर्च्छा नहीं होती, मुनिराज कभी ऐसी इच्छा नहीं करते कि जगत में मेरा माहात्म्य या मान बढ़े, मुनि को तो चारों गतियों के भव से ही वैराग्य वर्तता है, वे तो देवगति की भी इच्छा नहीं करते, उनका बाह्य तप ऐसा है कि पांचों इन्द्रियों के भोग से भी मन टूट गया है।

मुनि अपने जिम्मेदारी कोई कार्य नहीं लेते। समाज, सम्प्रदाय, मन्दिर, तीर्थ आदि की व्यवस्था संभालने का कोई विकल्प भी नहीं रखते, किसी तरह के प्रपंच में नहीं उलझते। प्रचुर स्व संवेदन ही मुनि का भावलिंग है और देह की नग्नता, वस्त्र, पात्र रहित निर्ग्रंथ दशा यह उनका द्रव्यलिंग है। संयम, तप, ध्यान, समाधि आदि का शुभ राग आता है लेकिन वस्त्र ग्रहण या अध: कर्म तादृश उद्देशिक आहार ग्रहण का भाव नहीं होता। जाति-पांति, ऊँच-नीच, बड़े-छोटे का भेद भाव नहीं रखते, समदृष्टि, समभाव में रहते हैं।

जिसे राग का रस है, वह राग भले ही भगवान की भक्ति का हो, या तीर्थयात्रा का हो, वह साधु भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द रस से रिक्त है मिथ्यादृष्टि है।

मुनि धर्म शुद्धोपयोग रूप है। पुण्य-पाप रूप शुभाशुभ भाव धर्म नहीं है परन्तु शुद्धोपयोग ही धर्म है।

मुनिराज बाईस परीषह को सहन करते हैं। जो हठ से परीषह को सहन करते हैं, उन्हें धर्म तो नहीं है पर शुभ भाव भी नहीं है। जिन्हें आत्मा के भानपूर्वक शुद्धोपयोग हुआ है, उन्हें परीषह के काल में उस ओर का विकल्प ही नहीं उठता। आत्म स्वभाव को साधने का नाम ही साधु है।

जो तत्व ज्ञानी हैं उनका समस्त आचरण वीतराग भाव अनुसार होता है। सम्यग्दृष्टि जीव आत्म ज्ञान पूर्वक आचरण पालते हैं।

मुनि बारम्बार आत्मा के उपयोग की आत्मा में ही प्रतिष्ठा करते हैं। उनकी दशा निराली पर के प्रतिबन्ध से रहित केवल ज्ञायक में प्रतिबद्ध, मात्र निज गुणों में ही रमण शील निरालम्बी होती है। जिन्होंने मोक्ष पथ (तारण पंथ) में प्रयाण प्रारम्भ किया है उसे पूर्ण करते हैं। जैसे-आंख में किरकिरी नहीं पुसाती उसी प्रकार चैतन्य परिणति में विभाव नहीं पुसाता। यदि साधक

को बाह्य में प्रशस्त-अप्रशस्त राग में दु:ख न लगे और वीतरागता में सुख न लगे, आनन्द न आवे तो वह साधक ही नहीं है।

ज्ञानी को संसार का कुछ नहीं चाहिए, वे संसार से विमुख होकर मोक्ष के मार्ग पर चल रहे हैं, स्वभाव में सुभट हैं। अन्तर में निर्भय हैं, किसी से डरते नहीं हैं किसी कर्मोदय या उपसर्ग का भय नहीं है। मुनिराज को पंचाचार, व्रत नियम इत्यादि सर्व शुभ भावों के समय भेदज्ञान की धारा शुद्ध स्वरूप की चारित्र दशा निरन्तर चलती ही रहती है।

साधु, समाधि परिणत हैं वे ध्रुव स्वभाव ज्ञायक स्वरूप का अवलम्बन लेकर विशेष - विशेष समाधि सुख प्रगट करने को उत्सुक हैं। स्वरूप में कब ऐसी स्थिरता होगी जब श्रेणी लगकर पूर्ण वीतराग दशा प्रगट होगी ? कब ऐसा अवसर आयेगा जब स्वरूप में उग्र रमणता होगी और आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव केवलज्ञान प्रगट होगा?

कब ऐसा परम ध्यान जमेगा कि आत्मा शाश्वत रूप से शुद्ध स्वभाव में ही रह जायेगा ? ऐसी साधना करने वाले साधु समस्त कर्मों का क्षय करके अपने अनन्त गुणों को प्रगट कर रत्नत्रय मालिका से सुशोभित हो मुक्ति श्री का वरण करते हैं।

प्रश्न १ - यहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से शुद्ध है और मिथ्यात्व, रागादि, असत्पना छूट गया है, इससे क्या प्रयोजन है ? इसे दोहराने की क्या बात है ?

समाधान - यही रहस्य है, जिसे बार - बार दोहराया जा रहा है क्यों कि सामान्य व्यवहार आगम की अपेक्षा सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र को व्यवहार और निश्चय दो प्रकार कहा गया है। सच्चे देव, गुरू, धर्म का श्रद्धान, सात तत्वों का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। भेदज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति, निश्चय सम्यग्दर्शन है। सत्ताईस तत्वों का ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान है और स्व-पर का यथार्थ निर्णय निश्चय सम्यग्ज्ञान है। संयम, तप, अणुव्रत, महाव्रत, का पालन व्यवहार चारित्र है। अपने आत्म स्वरूप ममल स्वभाव में लीन होना निश्चय चारित्र है इसलिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से शुद्ध हैं तथा मिथ्यात्व, रागादि, असत्पना छूट गया है, का मतलब दर्शन मोहनीय

की तीन प्रकृति – मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व, समयग्प्रकृति मिथ्यात्व, इन तीनों प्रकृतियों के क्षय होने पर मिथ्यात्व जाता है, यदि अभी उपशम या वेदक की स्थिति है, तो वहाँ सम्यग्दर्शन में गड़बड़ रहेगी। असत्पना संशय, विभ्रम, विमोह यह ज्ञान के बाधक कारण हैं, इनके छूटने पर सम्यग्ज्ञान की शुद्धि होती है तथा राग द्वेष विभाव यह सम्यग्चारित्र के बाधक कारण हैं, इनके छूटने पर वीतरागता से सम्यग्चारित्र सही होता है। इसके पूर्णतः सही होने पर ही रत्नत्रयमालिका हृदय कंठ में झुलती है और वही ज्ञानी सारे कर्मों से मुक्त होकर मुक्ति को पाता है।

प्रश्न २ – प्रभो ! जब आप पूर्ण केवलज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा हैं, आपके ज्ञान में त्रिलोक का त्रिकालवर्ती परिणमन प्रत्यक्ष झलक रहा है, कौन कैसा है? यह सब आपके ज्ञान में आ रहा है फिर आप यह सब स्पष्ट न बताकर, वस्तु स्वरूप सिद्धान्त का ही निर्णय क्यों दे रहे हैं ?

समाधान – हे राजा श्रेणिक ! यह पवित्र जैन दर्शन का मार्ग अनेकान्त, स्याद्वादमयी है, अहिंसा प्रधान वीतराग मयी है। द्रव्य की स्वतंत्रता, एक – एक परमाणु और पर्याय का परिणमन स्वतंत्र है। जीव की पात्रतानुसार उसका परिणमन, निमित्त, नैमित्तिक सम्बंध और पांच समवाय के आधार पर सब हो रहा है। इसमें कोई कुछ कर भी नहीं सकता। यहाँ जो प्रश्न तुम कर रहे हो, उसका सैद्धान्तिक निर्णय और वस्तु स्वरूप बताया जा रहा है। कौन कैसा है, क्या कर रहा है? इससे तो हमें प्रयोजन ही नहीं है। व्यक्तिगत बात करना राग-द्वेष का कारण है।

प्रश्न ३ – प्रभो ! फिर आपके त्रिकाल सर्वदर्शी परमात्मा होने का क्या लाभ है?

समाधान – पर से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, हम अपने में पूर्ण परमानन्द मय हैं।

प्रश्न ४ – प्रभो ! फिर आपके दर्शन करने दिव्य ध्वनि सुनने से क्या लाभ है ?

समाधान – हमें देखकर और दिव्य ध्वनि सुनकर किसी को अपने आत्म स्वरूप का बोध हो जाये, परमानन्द पद का, धर्म का बहुमान आ

जाये, मनुष्यभव को सफल बनाने का पुरुषार्थ जग जाये, यह जीव की अप
पात्रता, तत्समय की योग्यता की बात है।

प्रश्न ५ – प्रभो ! आपके दर्शन, पूजन करने से दिव्य ध्वनि सु
से तो लाभ होता है या नहीं ?

समाधान – जिस जीव के जैसे परिणाम हों, उसका वैसा होता
प्रत्येक जीव अपने – अपने परिणामों में स्वतंत्र है, हमारे उससे कुछ न
होता।

प्रश्न ६ –प्रभो ! आपकी उपस्थिति आपके निमित्त से कुछ
कुछ अंतर तो पड़ता है, जैसे मेरा इतना बड़ा उपकार हो गया – यह
सत्य है ?

समाधान – द्रव्य की अपनी उपादान पात्रता के अनुसार निमित्त मिल
है, निमित्त कुछ नहीं करता। जिन जीवों की जैसी उपादान पात्रता होना
होती है, वैसे निमित्त स्वयमेव मिलते हैं। अगर मेरी उपस्थिति और निमि
से तुम्हारा उपकार हो गया, इतना बड़ा काम बन गया, तो इन सब जीवों
क्यों नहीं हुआ? इन सबको भी क्षायिक सम्यक्त्व, तीर्थंकर प्रकृति का
होना चाहिए था। यह जिनेन्द्र परमात्माओं की देशना, जैन दर्शन अ
मार्ग है।

जब राजा श्रेणिक ने यह सब सुना तो उसके ज्ञान का संशय, वि
दूर हो गया, जय-जयकार मचाने लगा, **पवित्र जैन धर्म की जय हो, भगव**
महावीर स्वामी की जय हो। धन्य हो – धन्य हो, प्रभु आपका शासन पराध
वृत्ति को छुड़ाकर बाह्य साधन में भटकती व्यग्रबुद्धि को दूर करता है अ
स्वाधीन चैतन्य वृत्ति के द्वारा परम सुख प्राप्त कराता है, आपका शासन
हमें परम इष्ट है।

प्रभो ! अनन्त स्वाधीन शक्ति वाला आत्मा आपके शासन में दिखल
है वैसे आत्मा को ज्ञान में, प्रतीति में लेकर जो उसके सम्मुख होता है, उ
अपने स्वभाव में से ही सभी गुणों का निर्मल कार्य होने लगता है। उ
सम्यग्दर्शन होता है, सम्यग्ज्ञान होता है, सम्यग्चारित्र होता है, सुख होता
प्रभुत्व होता है, स्वच्छता होती है, ऐसे अनन्त गुण के निर्मल कार्य उ

उसका आत्मा स्वयं हो जाता है अर्थात् परम इष्ट पद की प्राप्ति होती है।

जय हो, जय हो, भगवान महावीर स्वामी की जय हो...

दूसरे दिन राजा श्रेणिक समवशरण में आकर फिर प्रश्न करता है कि प्रभो ! ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव जिसके सब आशा, स्नेह, लाज, भय, गारव छूट गये, फिर वह करता क्या है ? उसको तो रत्नत्रय मालिका झुलती दिखती है ?

इसका समाधान भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि में आता है जो आगे गाथा है-

गाथा - २८

पदस्त पिंडस्त रूपस्त चेतं, रूपा अतीतं जे ध्यान जुक्तं।
आरति रौद्रं मय मान तिक्तं, ते माल दिस्टं हिदै कंठ रूलितं ॥

शब्दार्थ - (पदस्त पिंडस्त रूपस्त) यह धर्म ध्यान के भेद हैं, पदस्थ पिंडस्थ रूपस्थ (चेतं) चिन्तन करते हैं (रूपा अतीतं) रूपातीत (जे) जो (ध्यान जुक्तं) ध्यान में लीन रहते हैं (आरति)आर्तध्यान (रौद्रं) रौद्रध्यान (मय) मद (मान) गारव अहंकार (तिक्तं) छूट जाता है (ते) वह (माल दिस्टं) रत्नत्रयमालिका को देखते हैं (हिदै कंठ रूलितं) हृदय कंठ में झुलती हुई।

विशेषार्थ - जो ज्ञानी चैतन्य स्वरूप में स्थित होने के लक्ष्य से पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ, धर्म ध्यान में चित्त लगाते, निज स्वभाव का चिन्तवन करते हैं और सिद्ध के समान कर्मों से रहित निज स्वभाव के रूपातीत ध्यान में लीन होते हैं तथा जिनके आर्त, रौद्र ध्यान, मद, मान आदि विकारी भाव छूट गये हैं वे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी रत्नत्रयमयी ज्ञान गुणमाला को अपने हृदय कंठ में झुलती हुई देखते हैं अर्थात् निज शुद्धात्म स्वरूप का स्वानुभूति में प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

यहाँ भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि में बताया जा रहा है कि जो साधु होते हैं वे मात्र ज्ञान-ध्यान में ही लीन होते हैं और कुछ नहीं करते।

ज्ञान, ध्यान, तप ही साधु जीवन है।

जिसका सब पाप, विषय, कषाय छूट गया आशा, स्नेह, लोभ

लाज, भय, गारव विला गया, सब संयोग सम्बन्ध छूट गये, उसे अब करना रहा ही क्या ? वह तो अपने स्वरूप में लीनता रूप आत्म ध्यान ही करता है। अभी छटा, सातवां गुणस्थानवर्ती होने से धर्म ध्यान ही चलता है। श्रेणी मांड़ने पर शुक्ल ध्यान होता है। जो आठवें गुणस्थान से सीधा ले जाता है। जिससे केवलज्ञान प्रगट होता है।

अभी धर्म ध्यान की साधना में पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान का अभ्यास, साधना करता है। धर्म ध्यान के चार भेद हैं - (१) आज्ञा विचय (२) अपाय विचय (३) विपाक विचय (४) संस्थान विचय।

इन्हीं के अन्तर्गत यह पदस्थ, पिंडस्थ, ध्यान आते हैं तथा जिसके आर्त, रौद्र ध्यान, मद, मान आदि छूट गये हैं वह रत्नत्रयमालिका को अपने हृदय कंठ में झुलती हुई देखता है अर्थात् उसे अपने शुद्धात्मस्वरूप का निरन्तर स्मरण ध्यान रहता है और इससे वह अतीन्द्रिय आनन्द, परमानन्द में मगन रहता है।

आर्त, रौद्रध्यान के भी चार-चार भेद हैं। आर्त ध्यान के चार भेद - (१) इष्ट वियोग (२) अनिष्ट संयोग (३) पीड़ा चिन्तवन (४) निदान बंध।

दु:ख-असाता रूप भावों में बहना और उसी स्थिति में रहना आर्त ध्यान है। रौद्र ध्यान के चार भेद हैं -

(१) हिंसानन्दी (२) मृषानन्दी (३) चौर्यानन्दी (४) परिग्रहानन्दी।

दुष्टता रूप कठोर परिणामों में बहना और उस स्थिति में रहना रौद्र ध्यान है। हिंसा में आनन्द मानना, झूठ, चोरी, परिग्रह में आनन्द मगन हो जाना, यह सब रौद्र ध्यान है।

चौथे गुणस्थानवर्ती को - ४ आर्त ध्यान, ४ रौद्र ध्यान, २ धर्म ध्यान, अप्रत्याख्यान कषाय, छहों लेश्यायें होती हैं।

पांचवे गुणस्थानवर्ती को - ४ आर्त ध्यान, ४ रौद्र ध्यान, ३ धर्म ध्यान, प्रत्याख्यान कषाय, शुभ लेश्या होती है।

छठे गुणस्थानवर्ती को - ३ आर्त ध्यान, ४ धर्म ध्यान तथा संज्वलन कषाय, शुभ लेश्या होती है।

सातवें गुणस्थानवर्ती को - ४ धर्म ध्यान होते हैं।

नौ, नो कषाय चारों गुणस्थानों में होती हैं।

इस प्रकार करणानुयोग से यह सिद्ध होता है कि सातवें गुणस्थान वर्ती साधु को ही यह रत्नत्रय मालिका प्रत्यक्ष वेदन में आती है, दिखती है।

आर्त रौद्र ध्यान बुद्धि पूर्वक बैठकर नहीं करना पड़ते, यह तो पूर्व कर्मोंदय जन्य परिणाम होते हैं। इन भावों में बहना और उसी स्थिति में डूबे रहना, आर्त, रौद्र, ध्यान कहलाता है जो नरक और तिर्यंच आयु बंध के कारण हैं।

अभी साधक दशा तो अधूरी है। साधक को जब तक पूर्ण वीतरागता न हो और चैतन्य आनन्द धाम में पूर्ण रूप से सदा के लिए विराजमान न हो जाये, तब तक पुरूषार्थ की धारा तो उग्र होती जाती है। केवलज्ञान होने पर एक समय का उपयोग होता है और उस एक समय की ज्ञान पर्याय में तीन लोक एवं तीन काल का सारा परिणमन झलकता है।

विभाव का अंश वह दु:ख रूप है, भले ही उच्च से उच्च शुभ भाव रूप या अति सूक्ष्म राग रूप प्रवृत्ति है तथापि जितनी प्रवृत्ति उतनी आकुलता है और जितना निवृत होकर स्वरूप में लीन हुआ उतनी शान्ति एवं स्वरूपानन्द है।

पूर्ण गुणों से अभेद ऐसे शुद्धात्म तत्व पर दृष्टि करने से उसी के आलम्बन से पूर्णता प्रगट होती है। इस अखंड द्रव्य का आलम्बन वही अखण्ड एक परमपारिणामिक भाव का आलम्बन है। ज्ञानी को उस आलम्बन से प्रगट होने वाली औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव रूप पर्यायों का, व्यक्त होने वाली विभूतियों का वेदन होता है परन्तु उनका आलम्बन नहीं होता, उन पर जोर नहीं होता, जोर तो सदा अखण्ड शुद्ध द्रव्य पर ही होता है।

इस प्रकार साधु हमेशा ज्ञान-ध्यान साधना में रत रहते हैं।

प्रश्न - पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान किस प्रकार किया जाता है इसकी विधि क्या है ?

समाधान - ध्यान की प्रारम्भिक भूमिका में तो पंच परमेष्ठी पद आदि के माध्यम से धारणा रूप विकल्पात्मक अभ्यास किया जाता है। यहाँ तो जो स्वरूपानुभूति सहित साधु पद में बैठा है, वह पदस्थ ध्यान में असंख्यात प्रदेशी अपने चैतन्य पिंड में स्थित होता है। असंख्यात प्रदेशों का पिंड शुद्ध

चैतन्य ध्रुव तत्व शुद्धात्मा हूँ ऐसा ध्यान करता है। रूपस्थ ध्यान में अपने शु
स्वरूप में स्थित होता है और रूपातीत ध्यान में सारे विकल्पों से रहित शान्त
शून्य निर्विकल्प समाधि होती है। इस प्रकार की ध्यान साधना से परम शान्ति
परम आनन्द की अनुभूति होती है। इसकी विशेष उग्रता होने पर श्रेणी माड़
योग्य शुक्ल ध्यान की स्थिति बन जाती है, जिससे केवलज्ञान अरिहंत सर्व
पद प्रगट होता है। इस ध्यान साधना में लीन रहना ही रत्नत्रयमयी ज्ञान गु
माला की अनुभूति, उपलब्धि आनन्द - परमानन्द दशा है।

किसी एक विचार या आलम्बन पर चित्त का एकाग्र हो जाना ध्या है, ध्यान की अवस्था में शरीर अत्यन्त भारहीन, मन सूक्ष्म औ स्वास-प्रश्वास अलक्षित प्रतीत होते हैं।

प्रथम भूमिका में ध्यान का अभ्यास करने से दैनिक जीवन चर्या में मो
से विमुक्त हो जाता है और ज्यों-ज्यों वह मोह से विमुक्त होता है, त्यों - त्
उसे ध्यान में सफलता मिलती है। ध्यान जनित आनन्द की अनुभूति होने प
व्यक्ति को भौतिक जगत के कुटिलता, घृणा,स्वार्थ, परिग्रह, विषय भो
आदि नीरस एवं निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं।

अस्त,व्यस्त, ध्वस्त एवं भग्न मन को शान्त, सुखी एवं स्वस्थ करने के लिए ध्यान सर्वश्रेष्ठ औषधि है। जाग्रत अवस्था में ध्या अन्तरंग का गहन सुख होता है, जो अनिर्वचनीय है।

ध्यान कोई तंत्र, मंत्र, नहीं है, ध्यान एक साधना है जिसके द्वारा अप
भीतर आत्मानंद उपजाया जाता है। मौन, ध्यान का प्रथम चरण है। मौन क
अर्थ है, बाह्य संचरण छोड़ अन्त: संचरण करना, मौन का अर्थ है, संयम वे
द्वारा धीरे-धीरे इन्द्रियों तथा मन के व्यापार का शमन करना।

मौन की सफलता होने पर ही ध्यान की सफलता होती है इसलिए उ
मुनि कहते हैं। मौन व्रत धारण करने से राग-द्वेषादि मद मान शीघ्र नष्ट ह
जाते हैं। मौन से गुणों की वृद्धि होती है, मौन से ज्ञान प्राप्त होता है, मौन स
उत्तम श्रुतज्ञान प्रगट होता है। मौन से केवलज्ञान प्रगट होता है। (भगवा
महावीर स्वयं साधु अवस्था में बारह वर्ष तक पूर्ण मौन रहे)।

ध्यान में गहरे स्तर पर चेतना की निर्ग्रन्थ निर्मल अखण्ड सत्त

का दर्शन होता है । ध्यान द्वारा ही आत्म साक्षात्कार होता है । आत्म तत्व, परमात्म तत्व में लय हो जाता है । ध्यान की चरम अवस्था में साधक आनंद महोदधि में निमग्न हो जाता है ।

प्रश्न - यह आर्त, रौद्र ध्यान क्या है, कैसे होते हैं, इसे स्पष्ट करें ?

समाधान - चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं । पद्मासन, सुखासन आदि लगाकर शांत एकान्त स्थान में बैठकर मंत्र जप आदि के द्वारा मन शांत किया जाता है और उसके बाद साधक का लक्ष्य और दृष्टि कैसी है, क्या है ? उस पर एकाग्र स्थित होना ध्यान है । यह धर्म ध्यान के अंतर्गत आता है, इसमें भी भेद है कि यह साधक सम्यग्दृष्टि है, मुक्ति की भावना है, तो वह अपने आत्म स्वरूप का चिंतवन और ध्यान करता है यही सही धर्म ध्यान है, दूसरा जिसे अभी निज शुद्धात्मानुभूति तो नहीं हुई पर उसी लक्ष्य और भावना से उस ओर का प्रयास पुरुषार्थ करता है तो वह सामायिक ध्यान भी धर्म ध्यान कहने में आता है ।

यह आर्त-रौद्र ध्यान जिनके चार-चार भेद बताये हैं । यह पूर्व कर्म बंधोदय भाव या वर्तमान परिस्थिति जन्य वैसे विचारों में बहना और डूब जाना लिप्त तन्मय हो जाना यह भी ध्यान है,यह संसारी घर ग्रहस्थ दशा में रहते अपने आप होते हैं इन्हें करना नहीं पड़ते और जैसा गुणस्थान उसमें बताया है, उस अनुसार यह अपने आप होते हैं इनसे बचना, हटना, सावधान रहना आवश्यक है और जो इनसे सतर्क सावधान रहता है वही साधक कहलाता है । भेदज्ञान तत्व निर्णय होने पर ही यह पकड़ में आते हैं और शमन होते हैं ।

आर्त ध्यान में- इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तवन और निदान बंध, यह सब संयोग के कारण होते हैं, दु:ख असाता रूपभाव, आर्तध्यान कहलाते हैं ।

रौद्र ध्यान में- हिंसा में आनंद मानना, झूठ बोलने में आनंद मानना, चोरी करने में आनंद मानना, परिग्रह में आनंद मानना ।

कठोर दुष्ट परिणाम, रौद्र ध्यान कहलाते हैं । यह दोनों वर्तमान में

दु:ख देने वाले और भविष्य में दुर्गति के कारण हैं।

मूल में सम्यग्दर्शन भेदज्ञान हो तो यह सब समझ में आते, शमन होते हैं। जिस जीव को अपने स्वरूप का बोध ही नहीं है, जिसे भेदज्ञान, सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, वह क्या कर रहा है, क्या हो रहा है, और क्या होगा ? उसे इसका होश ही नहीं है, वह तो दया का पात्र है।

यह सब सुन समझ कर राजा श्रेणिक फिर प्रश्न करता है कि प्रभो ! जब सम्यग्दर्शन के बगैर कुछ नहीं होता और अकेले सम्यग्दर्शन से भी कुछ नहीं होता, तो इससे भ्रम पैदा होता है, इसे और स्पष्ट करें ?

समाधान – सम्यग्दर्शन के बगैर बुद्धि विवेक का जागरण नहीं होता, भेदज्ञान होने पर ही अपने स्वरूप का बोध जागता है और मुक्ति का मार्ग बनता है।

सत्समागम द्वारा आत्मा को पहिचान कर आत्मानुभव करना पहले आवश्यक है। आत्मानुभव सम्यग्दर्शन का ऐसा माहात्म्य है कि फिर कैसी ही अनुकूलता-प्रतिकूलता, पाप-पुण्य के उदय में जीव को दु:ख, भय, चिंता नहीं होती, उन सभी को समता भाव से सहन करने की शक्ति आत्मा में आ जाती है।

ज्ञानी होना ही संसार के दु:खों से छूटना और मुक्ति प्राप्त करने का कारण है। अज्ञान दशा में ही अनादि से चार गति चौरासी लाख योनियों का भव भ्रमण किया है, जन्म-मरण के दु:ख भोगे हैं, इसलिए सम्यग्दर्शन पहले होना चाहिए तभी मुक्ति के मार्ग पर चला जाता है और उससे ही जीवन में सुख, शांति आनंद आता है।

दृष्टि का विषय द्रव्य स्वभाव व निज शुद्धात्म स्वरूप है, उसमें तो अशुद्धता की उत्पत्ति ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि को किसी एक भी अपेक्षा से अनंत संसार का कारण रूप मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय का बंधन नहीं होता परन्तु इस पर से कोई यह मान लेवे कि उसे तनिक भी विभाव व बंध नहीं होते, तो वह एकांत है। समकिती को अन्तर शुद्ध स्वरूप की दृष्टि और स्वानुभव होने पर भी अभी आसक्ति शेष है जो उसे दु:ख रूप लगती है

इसलिए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की परिपूर्णता होने पर ही मुक्ति होती है।

प्रश्न – सम्यग्दर्शन कितने प्रकार का होता है, मुक्ति मार्ग के लिए कौन सा सम्यग्दर्शन आवश्यक है?

इसके समाधान में अगली गाथा कहते हैं–

गाथा- ११

अन्या सु वेदं उवसम धरेत्वं, ष्यायिकं सुद्धं जिन उक्त सार्धं।
मिथ्या त्रिभेदं मल राग षंडं, ते माल दिस्टं ह्दिै कंठ रूलितं ॥

शब्दार्थ- (अन्या) आज्ञा (सुवेदं) वेदक, क्षायोपशमिक (उवसम) उपशम (धरेत्वं) धारण करते हैं (ष्यायिकं) क्षायिक (सुद्धं) शुद्ध (जिन उक्त सार्धं) जिनेन्द्र के कहे अनुसार श्रद्धान करते हैं (मिथ्या त्रिभेदं) तीनों प्रकार का मिथ्यात्व (मल) पच्चीस दोष (राग) राग-द्वेष (षंडं) तोड़ते हैं, छोड़ते हैं (ते) वह (माल दिस्टं) रत्नत्रय मालिका देखते हैं (ह्दिै कंठ रूलितं) हृदय कंठ में झुलती हुई।

विशेषार्थ- जिन्हें निज शुद्धात्म स्वरूप की श्रद्धा अनुभूति है, ऐसे जो जीव आज्ञा, वेदक, उपशम, क्षायिक या शुद्ध किसी भी सम्यक्त्व को धारण करते हैं तथा जिन वचनों के श्रद्धान सहित स्वभाव साधना में रत रहते हैं। शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान से जिनके तीनों मिथ्यात्व और रागादि नष्ट हो गए हैं, वे ज्ञानी अपने हृदय कंठ में रत्नत्रयमयी ज्ञान गुणमाला को झुलती हुई देखते हैं अर्थात् शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुभव करते हैं, वे मोक्षमार्ग के साधक हैं।

यहाँ भगवान महावीर, राजा श्रेणिक की जिज्ञासा का समाधान करते हैं कि –

सम्यक्त्व पांच होते हैं – (१) आज्ञा सम्यक्त्व (२) वेदक सम्यक्त्व (३) उपशम सम्यक्त्व (४) क्षायिक सम्यक्त्व (५) शुद्ध सम्यक्त्व।

इनमें से कोई सा भी सम्यक्त्व हो, मुख्य बात-जिनेन्द्र परमात्मा के कहे अनुसार जिसे निज शुद्धात्मानुभूति हो, यही निश्चय सम्यग्दर्शन मुक्ति

मार्ग में प्रयोजनीय है। इसके साथ जिसके तीनों मिथ्यात्व, पच्चीस मल दोष, रागादि भाव छूट गए हों, वह रत्नत्रय मालिका को अपने हृदय कंठ में झुलती हुई देखता है।

हे राजा श्रेणिक ! यह मुक्ति मार्ग और रत्नत्रय मालिका अपूर्व बात है, जिसने इसे धारण कर लिया वह तो कृत-कृत्य हो गया वह जीव तद्भव दो चार भव या दस भव में परमात्मा होगा ही।

जो ममल स्वभाव परमानंद मयी गुणों का पिंड है, ऐसे चैतन्य की जिसे महिमा है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उसे फिर दया, दान आदि के राग व उनके फल की महिमा नहीं होती। व्यवहार रत्नत्रय के शुभ राग देव, शास्त्र, गुरू आदि से मेरा भला होगा या मैं पर का भला कर सकता हूं ऐसे मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है। शंकादि, पच्चीस मल दोष फिर उसमें नहीं होते, वह नि:शंकित अभय होता है।

सम्यग्दृष्टि को तो बाहर के विकल्पों में आना रूचता ही नहीं है। यहाँ तो विशेष दशा वालों की बात है, महाज्ञानी अन्तर में जम गए हैं, अब मुझे बाहर आना ही न पड़े, ज्ञानी की ऐसी भावना होती है।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने को शुद्ध त्रिकाल आत्मा हूं, मैं ध्रुव सिद्ध हूं- ऐसा ही मानते हैं। बाहर के संग का निमित्त - नैमित्तिक संबंध भी पर्याय के साथ है, मेरे साथ नहीं है।

जिसको पर्याय में ही एकत्व बुद्धि है, उसकी बुद्धि तो निमित्त के साथ चलती है किन्तु ज्ञानी को पर्याय में एकत्व बुद्धि नहीं है इस कारण उसकी पर्याय में एकत्व बुद्धि नहीं होती।

स्व में अर्थात् ज्ञान, आनंद आदि गुणों के भंडार आत्मा में उपयोग के लगते ही साधकपना व मुनिपना आदि क्रम पूर्वक आता है। उपयोग की स्थिरता में ही यथार्थ स्वरूपानंद, ज्ञानानंद, निजानंद का अनुभव उत्पन्न होने लगता है। जिससे पराश्रित, आकुलित परिणाम प्रत्यक्ष विष रूप मालूम होने लगते हैं, जो कि सम्यग्दृष्टि साधक व मुनियों को एक समय मात्र के लिए भी नहीं रूचते।

पुरूषार्थ की निर्बलता से अखण्ड आत्मा में पूर्ण स्थिरता न होने से

रागांश होता है, जिसका प्रति समय उनकी दृष्टि निषेध करती रहती है। एक समय के लिए भी चारित्र मोह स्वरूपी रागांश को वह अपना कर्तव्य नहीं समझते, जो कि प्रत्यक्ष दु:ख रूप है। अत: बारम्बार स्व में स्थित होते हुए रागांश को तोड़ते हुए वह शुद्ध सिद्ध रूप हो जाते हैं।

प्रश्न – सम्यक्त्व के पांच भेदों का स्वरूप और विशेषता क्या है?

समाधान – सम्यक्त्व सच्ची श्रद्धा को कहते हैं। इसके दो भेद हैं–

(१) सम्यक्त्व– देव, गुरू, धर्म, सात तत्व, सत्समागम आदि से जो वस्तु का स्वरूप जाना जाता है, उसका विश्वास कर सत्श्रद्धान किया जाता है, वह सम्यक्त्व है, इसे ही व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(२) सम्यग्दर्शन– भेदज्ञान पूर्वक शरीरादि से भिन्न जो निज शुद्धात्मानुभूति होती है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। अनुभूतियुत प्रतीति ही कार्यकारी यथार्थ होती है।

१. आज्ञा सम्यक्त्व– देव, गुरू, शास्त्र की आज्ञानुसार जीवादि सात तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करना, आज्ञा सम्यक्त्व है।

२. उपशम सम्यक्त्व– तीन मिथ्यात्व– १. मिथ्यात्व २. सम्यक्मिथ्यात्व ३. सम्यग्प्रकृति मिथ्यात्व। चार अनंतानुबंधी कषाय – १. क्रोध २. मान ३. माया ४. लोभ। इन सात प्रकृतियों के उपशम होने पर जो निज शुद्धात्मानुभूति होती है। वह उपशम सम्यक्त्व है। उपशम सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है, इसकी अनुभूति कुछ समय की होती है, इसके बाद कर्मोदय जन्य पर्यायों में उलझ जाता है। उपशम सम्यक्त्वी ग्यारहवें गुणस्थान तक जा सकता है। इस सम्यक्त्व वाले का संसार काल अधिक होने से दश पन्द्रह भव तक मुक्त होने में लग सकते हैं।

३. वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व– छह प्रकृतियों के क्षय और सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से यह वेदक सम्यक्त्व होता है, यह सातवें गुणस्थान तक जाता है। इस सम्यक्त्व वाले को संसार से मुक्त होने में सात–आठ भव तक लग सकते हैं।

४. क्षायिक सम्यक्त्व– यह सातों प्रकृतियों के क्षय से होता है। इसकी स्थिति स्थायी रहती है, इसमें सारे कर्मों का क्षय ही होता है। क्षायिक सम्यक्त्वी

जीव तद्भव या तीसरे भव से मोक्ष चला जाता है। यह केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में होता है, वर्तमान (पंचमकाल) में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता।

५. शुद्ध सम्यक्त्व- तीनों सम्यक्त्व (उपशम, वेदक, क्षायिक) से परे जो अपने में परिपूर्ण शुद्ध हो गया, जो निरंतर अपने स्वरूप की अनुभूति में ही रत है वह शुद्ध सम्यक्त्व है। यह अरिहन्त, सिद्ध परमात्मा के होता है।

सम्यग्दर्शन का होना ही संसार की मौत है, करणानुयोग के अनुसार पांच लब्धि पूर्वक करण लब्धि सहित काललब्धि आने पर अर्ध पुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर जीव को अपने स्वरूप की अनुभूति, बोध पूर्वक सम्यग्दर्शन होता है।

यहां संक्षेप में वर्णन किया है विशेष जानकारी के लिए गोम्मटसार जयधवल, महाधवल आदि करणानुयोग के ग्रन्थ देखें।

मूल बात तो निजशुद्धात्मानुभूति अपने परमात्म स्वरूप के दर्शन होना है, इसके बाद तो फिर सब अपने आप होता है। जैसी जीव की पात्रता होनहार होती है, वैसे योग निमित्त-मिलते हैं और वैसा सब अपने आप होता है, इसमें पुरुषार्थ अपेक्षा वर्तमान परिस्थिति का बोध कराने के लिए यह सब व्यवहार अपेक्षा कहने में आता है।

राजा श्रेणिक ने यह सब सुना और फिर प्रश्न किया कि प्रभो! जब सम्यग्दर्शन की इतनी महिमा विशेषता है, तो सम्यग्दृष्टि जीव भी कुछ न कुछ तो करता ही होगा, उसका पुरुषार्थ क्या है कैसे आनन्द-परमानन्द में रहता है, कैसे यह रत्नत्रय मालिका दिखती है?

इसके समाधान में भगवान महावीर की दिव्यध्वनि में आता है इसी संदर्भ में यह आगे की गाथा है-

गाथा - ३१

जे चेतना लष्यनो चेतनित्वं, अचेतं विनासी असत्यं च तिक्तं।
जिन उक्त सार्धं सु तत्वं प्रकासं,ते माल दिस्टं हिदै कंठ रुलितं॥

शब्दार्थ - (जे) जो (चेतना लष्यनो) चैतन्य लक्षण मयी (चेतनित्वं)

हमेशा चिन्तवन करते, चेतते, अनुभव करते हैं (अचेतं विनासी) शरीरादि संयोग जो नाशवान हैं (असत्यं)रागादि भाव जो झूठे असत् हैं (च) और (तिक्तं) छूट गये हैं, छोड़ दिये हैं (जिन उक्त सार्धं) जिनेन्द्र परमात्मा के कहे अनुसार श्रद्धान साधना करते हैं (सु तत्वं प्रकासं) शुद्धात्म तत्व का प्रकाश, महिमा, बहुमान, प्रभावना करते हैं (ते) वह (माल दिस्टं) रत्नत्रय मालिका देखते हैं (ह्रिदै कंठ रुलितं) हृदय कंठ में झूलती हुई।

विशेषार्थ - जो ज्ञानी चैतन्य लक्षण मयी निज स्वभाव का चिन्तन करते हैं, शरीरादि संयोगी पदार्थों से, रागादि विभावों से दृष्टि हटाकर जिनेन्द्र परमात्मा के कहे अनुसार शुद्ध स्वभाव की साधना करते हैं। वही ज्ञानी शुद्धात्म तत्व का प्रकाश प्रगटपना करते हुये रत्नत्रयमयी ज्ञान गुण मालिका को अपने हृदय कंठ में झुलती हुई देखते हैं अर्थात् हमेशा आनन्द-परमानन्द में प्रसन्न मस्त रहते हैं।

ज्ञानी ने चैतन्य का अस्तित्व ग्रहण किया है, अभेद में ही दृष्टि है। मैं तो ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुव तत्व शुद्धात्मा हूँ शान्ति का स्थान, आनन्द का स्थान ऐसा पवित्र उज्जवल आत्मा है, वहाँ ज्ञायक में रहकर ज्ञान सब करता है अर्थात् स्व-पर को सब जानता है परन्तु दृष्टि तो अभेद पर ही है। चैतन्य की स्वानुभूति रूप खिले हुए नन्दनवन में साधक आत्मा आनन्द में विहार करता है।

साधक जीव को अपने अनेक गुणों की पर्याय निर्मल होती है, खिलती है। जिस प्रकार नन्दनवन में अनेक वृक्षों के विविध प्रकार के पत्र, पुष्प, फलादि खिल उठते हैं, उसी प्रकार साधक आत्मा के चैतन्य रूपी नन्दनवन में अनेक गुणों की विविध प्रकार की पर्यायें खिल उठती हैं।

ज्ञानी, चैतन्य की शोभा निहारने के लिए कौतूहल बुद्धि वाले, आतुर होते हैं। उन परम पुरुषार्थी महाज्ञानियों की दशा तो अपूर्व होती है।

यहाँ तो निरालम्ब चलने की बात है, वस्तु स्वभाव ऐसा है। बाहर कुछ करने का नहीं है, बस अपने चैतन्य स्वभाव में ही लीन होना है। आत्मा सदा

अकेला ही है, आप स्वयंभू है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान,चारित्र की निरालम्बी चाल प्रगट हुई उसे कोई रोकने वाला नहीं है।

आत्मा तो ज्ञाता है, आत्मा की ज्ञातृत्व धारा को कोई रोक नहीं सकता भले रोग आये या उपसर्ग आये, आत्मा तो निरोग और निरूपसर्ग है।

सम्यग्दर्शन होते ही जीव, चैतन्य महल ध्रुव धाम का स्वामी बन गया। तीव्र पुरूषार्थी को महल का अस्थिरता रूप कचरा निकालने में कम समय लगता है। मन्द पुरूषार्थी को अधिक समय लगता है परन्तु दोनों अल्प-अधिक समय में सब कचरा निकालकर केवलज्ञान अवश्य प्राप्त करेंगे ही।

विभावों में और पंच परावर्तनरूप संसार में कहीं विश्रान्ति नहीं है। चैतन्य गृह ही सच्चा विश्रान्ति गृह है। मुनिवर उसमें बारम्बार निर्विकल्प रूप से प्रवेश करके विशेष विश्राम पाते हैं। बाहर आये नहीं कि अन्दर चले जाते हैं।

जिसे द्रव्य दृष्टि प्रगट हुई, उसकी दृष्टि अब चैतन्य के तल पर ही लगी है, उसमें परिणति एकमेक हो गई है। चैतन्य तल में ही सहज दृष्टि है। स्वानुभूति के काल में या बाहर उपयोग हो, तब भी चैतन्य से दृष्टि नहीं हटती, दृष्टि बाहर जाती ही नहीं। ज्ञानी चैतन्य के सागर में पहुँच गये हैं, बहुत गहराई तक पहुँच गये हैं। साधना की सहज दशा साधी हुई है।

ज्ञानी के अभिप्राय में राग है, वह जहर है, काला सांप है। अभी आसक्ति के कारण ज्ञानी थोड़े बाहर खड़े हैं, राग है, परन्तु अभिप्राय में काला सांप लगता है। ज्ञानी विभाव के बीच, शरीरादि संयोग में होने पर भी इन सबसे प्रथक् अपने चैतन्य स्वरूप की साधना करते हैं।

जैसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा, जिनवाणी में आया, वैसे ही अपने चैतन्य स्वरूप के स्वानुभव के शान्त रस में तृप्त रहते हैं चैतन्य के आनन्द की मस्ती में इतने मस्त हैं कि अब अन्य कुछ भी करना शेष नहीं रहा।

अपने रत्नत्रय मयी ज्ञान गुणमाला का निरन्तर वेदन करते हुये आनन्द परमानन्द में रहते हैं। मुनि धर्म शुद्धोपयोग रूप है। पुण्य-पाप रूप क्रिया शुभाशुभ भाव धर्म नहीं है परन्तु शुद्धोपयोग ही धर्म है ऐसा निर्णय तो पहले ही हो चुका है। सम्यग्दर्शन सहित अन्तर में लीनता वर्तती हो वही मुनि धर्म

है। मैं शुद्धोपयोग करूँ ऐसी समकिती को इच्छा ही नहीं होती क्योंकि इच्छा ही तो राग है व उससे शुद्धोपयोग नहीं आता। स्वभाव सन्मुख होने पर इच्छा रूपी राग टूट जाता है। स्वरूप में लीन होने पर बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होना ही शुद्धोपयोग है। स्वभाव सन्मुख दृष्टि होने के बाद काल क्रम से शुद्धोपयोग होता है।

ज्ञानी की दृष्टि तो संसार से छूटने की है, अतः वह राग रहित निवृत्त स्वभाव की साधना में सावधानी से प्रवृत्त रहता है। मैं अशरीरी अविकारी, निरंजन, घ्रुव तत्व सिद्ध स्वरूपी, शुद्धात्मा हूँ ऐसा दृढ़ श्रद्धान ज्ञान होने से स्वप्न में भी पुण्य-पाप और संसार की बातों का आदर नहीं करता। जो सिद्ध परमात्मा चिदानन्द पूर्ण शुद्ध मुक्त हुये हैं, उनके कुल का मैं भी उत्तराधिकारी हूँ। चारगति में घूमने का राग कलंक है, अतीन्द्रिय सिद्ध परमात्म दशा को प्रगट करना है, ज्ञानी ऐसा दृढ़व्रती है।

आत्मा में पुरूषार्थ पूर्वक निज उपयोग को तन्मय करना, वह ही चारित्र अथवा तप है। जो वीतराग दशा प्रगट करे सो तप है। उस समय काय क्लेश होता है परन्तु मुनि तो उससे आत्मा में होने वाली विभाव परिणति के संस्कार को मिटाने का उद्यम करते हैं। कायक्लेश में शरीर कृश हो, अंगोपांग चूर हो जायें परन्तु स्वभाव में विशेष लीनता हो, मुनि ऐसा उद्यम करते हैं तथा निज शुद्ध स्वरूप में उपयोग को स्थिर करते हैं यह चारित्र है। उसी में लीन हो जाना, ऐसी उग्रता ही तप है।

अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते मुनि छठे-सातवें गुणस्थान में रहते हुये भी आत्म शुद्धि की दशा विकसित होती ही रहती है, केवलज्ञान न हो तब तक मुनिराज शुद्धि की वृद्धि करते ही जाते हैं। इस अंतर साधना को बाहर से नहीं देखा जा सकता, यह तो स्वयं का ही स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द का भोग है। भगवान कहते हैं कि साधक इन संसार जनित भावों में नहीं है, स्त्री, पुत्र, पैसा, धन्धा छोड़ा अतः संसार छोड़ा यह बात नहीं है। जो पर्याय में होने वाले संसार जनित सुख - दुःखादि से दूर वर्तता है उसी ने संसार छोड़ा है। जो वस्तु प्रत्यक्ष अनुभव प्रमाण है, प्रगट है, विद्यमान है, जिसका अस्तित्व पर्याय में नहीं, ध्रुव में है, उसमें जो निष्ठ (श्रद्धावान) है वह ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी साधक

साधु है।

इसी साधना के बल से साधक अपने में रत्नत्रय मालिका झुलती हुई देखते हैं और आनन्द-परमानन्द में रहते परमात्म पद की ओर बढ़ते हैं। इसी सन्दर्भ को और स्पष्ट दृढ़ करने हेतु अगली गाथा कहते हैं -

गाथा - ३१

जे सुद्ध बुद्धस्य गुन सस्वरूपं, रागादि दोषं मल पुंज तिक्तं।
धर्मं प्रकासं मुक्ति प्रवेसं, ते माल दिस्टं हिदै कंठ रूलितं ॥

शब्दार्थ- (जे) जो (सुद्ध बुद्धस्य) सम्यग्दृष्टि ज्ञानी (गुन सस्वरूपं) सत्स्वरूप के गुणों को (रागादि दोषं) राग-द्वेष मोह (मल पुंज) शंकादि पच्चीस दोषों का समूह (तिक्तं) छोड़ते हैं, छूट जाते हैं (धर्मं प्रकासं) धर्म का प्रकाश करते हुये (मुक्ति प्रवेसं) मुक्ति में प्रवेश करते हैं (ते) वह (माल दिस्टं) रत्नत्रय मालिका देखते हैं (हिदै कंठ रूलितं) हृदय कंठ में झूलती हुई।

विशेषार्थ- जो शुद्ध दृष्टि ज्ञानी, शुद्ध ज्ञान गुणों मयी निज शुद्धात्म तत्व सत्स्वरूप की साधना करते हैं और प्रबल भेदज्ञान बल से समस्त रागादि दोषों के मल समूह को त्याग देते हैं, वे ज्ञानी कर्मों से रहित शुद्ध चैतन्य स्वभाव निज धर्म को प्रकाशित कर अर्थात् अपने में लीन होकर मुक्ति में प्रवेश करते हैं, सिद्ध पद पाते हैं और अनन्त काल तक ज्ञानादि अनन्त गुणोंमयी अभेद शुद्ध समयसार स्वरूप को स्व संवेदन में प्रत्यक्ष झुलता हुआ देखते हैं, परमानन्द मे लीन रहते हैं।

ज्ञानी, पर को ग्रहण नहीं करता, पर को नहीं चाहता, वह स्वयं में ही परिपूर्ण है। ज्ञानी सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब होकर, नियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव रहता हुआ, साक्षात, विज्ञानघन आत्मा का अनुभव करता है।

सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं निज रस में मस्त हुआ आदि मध्य अन्त रहित, सर्व व्यापक, एक प्रवाह रूप धारावाही ज्ञान रूप होकर ज्ञान के द्वारा समस्त गगन मंडल में व्याप्त होकर नृत्य करता है। सत्स्वरूप के निःशंकित आदि गुण प्रगट होने पर राग-द्वेष, मोह और शंकादि दोषों का समूह विला जाता है। वह धर्म का प्रकाश करता हुआ मुक्ति में प्रवेश करता है।

(१) जो सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान श्रद्धान में निशंक हो, भय के निमित्त से स्वरूप से चलित न हो अथवा संदेह युक्त न हो उसके निःशंकित गुण होता है।

(२) जो कर्म फल की बांछा न करे तथा अन्य वस्तु के धर्मों की बांछा न करे, जिसे सांसारिक कोई भी कामना, वासना नहीं है, उसके निः कांक्षित गुण होता है।

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग।
काक वीट सम लखत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग ॥

(३) जो वस्तु के धर्मों के प्रति ग्लानि न करे, उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है।

(४) जो स्वरूप में मूढ़ न हो, स्वरूप को यथार्थ जाने, उसके अमूढ़दृष्टि गुण होता है।

(५) जो आत्मा को शुद्ध स्वरूप में स्थित करे, आत्मा की शक्ति बढ़ाये और अन्य धर्मों को गौण करे, उसके उपगूहन गुण होता है।

(६) जो स्वरूप से च्युत होते हुये आत्मा को स्वरूप में स्थापित करे, उसके स्थितिकरण गुण होता है।

(७) जो अपने स्वरूप के प्रति विशेष अनुराग रखता है, उसके वात्सल्य गुण होता है।

(८) जो आत्मा के ज्ञान गुण को प्रकाशित कर प्रगट करे, उसके प्रभावना गुण होता है।

अपने सत्स्वरूप के इन आठ गुणों के प्रगट होने से प्रथम निःशंकित गुण से आत्मा की अखंड श्रद्धा के रूप में अभयपना आता है। दूसरे निकांक्षित गुण से समस्त कामना, वासना का अभाव हो जाने से राग का अभाव हो जाता है। तीसरे निर्विचिकित्सा गुण से ग्लानि रूप द्वेष भाव का अभाव हो जाता है। चौथे अमूढ़ दृष्टि गुण से पर पर्याय से मोह भाव का अभाव हो जाता है। इस प्रकार अभयपना प्रगट होने और मोह, राग, द्वेष का अभाव होने से शेष चार गुण–उपगूहन, स्थितिकरण,

वात्सल्य, प्रभावना द्वारा धर्म का प्रकाश करता हुआ मुक्ति में प्रवेश करता है अर्थात् अपने निज के निश्चय सम्यक्त्व द्वारा आठों गुणों के प्रगटपने से नवीन कर्म का संवर करता हुआ तथा पूर्व में स्वापराध से बांधे कर्मों की अपने निर्जरा योग्य परिणामों की उठान से क्षय करता हुआ, वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी स्वयं स्वानुभवोत्पन्न अत्यंत आनन्द स्वरूप रत्नत्रय मालिका से सुशोभित आदि, मध्य, अंत भाव से रहित ज्ञानानन्द स्वभाव में मस्त रहता हुआ, केवलज्ञान स्वरूप अरिहन्त पद और सिद्ध पद पाता है।

शुद्ध चैतन्य ज्ञायक प्रभु की दृष्टि, ज्ञान तथा अनुभव वह साधक दशा है। इससे पूर्ण साध्य दशा प्रगट होगी। साधक दशा है तो निर्मल ज्ञानधारा परन्तु वह भी आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है क्योंकि वह साधना मय अपूर्ण पर्याय है। आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, सच्चिदानन्द प्रभु, ब्रह्मानन्द स्वरूप है। पर्याय में रागादि भले हों परन्तु वस्तु मूल स्वभाव से ऐसी नहीं है।

जब निज पूर्णानन्द प्रभु परमानन्द स्वरूप में एकाग्रता रूप साधक दशा में साधना की उग्रता होती है, तब अड़तालीस मिनिट में केवलज्ञान तथा आयु का अन्त आने पर पूर्ण मुक्त सिद्ध दशा प्रगट होती है।

आत्मा राग के विकल्प से खण्डित होता था, जब अपने स्वरूप का निर्णय करके भीतर स्वरूप में स्थिर हुआ, वहाँ जो खंड होता था, वह रूक जाता है और अकेला आत्मा अनन्त गुणों से भरपूर आनन्द स्वरूप रह जाता है।

स्वरूप में लीनता के समय पर्याय में भी शान्ति और वस्तु में भी शान्ति, आत्मा के आनन्द रस में शान्ति, शान्ति, शान्ति रहती है। समता, अतीन्द्रिय आनन्द वर्तमान पर्याय में और त्रैकालिक वस्तु में भी रहता है। आत्मा का आनन्द रस बाहर और भीतर सर्व प्रकार प्रस्फुटित हो जाता है। आत्मा विकल्प के जाल को तोड़कर आनन्द रस रूप अपने स्वरूप को प्राप्त होता है।

जिनको पूर्ण परमानन्द प्रगट हो गया है ऐसे परमात्मा, पुन: अवतार नहीं लेते परन्तु जगत के जीवों में से कोई भी जीव उन्नति क्रम से चढ़ते-चढ़ते, जगद्गुरू तीर्थंकर अरहन्त परमात्मा होता है, इससे जगत के

जीवों में धर्म के प्रति उत्साह, बहुमान आता है, धर्म प्राप्त करने की योग्यता विकसित होती है, धर्म का प्रकाश होता है।

हे भव्य ! तू भाव श्रुतज्ञान रूपी अमृत का पान कर। सम्यक् श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव करके निर्विकल्प आनन्द रस का पानकर, जिससे तेरी अनादि मोह तृषा की दाह मिट जाये। तूने चैतन्य रस के प्याले कभी नहीं पिये हैं। अज्ञान से तूने मोह, राग–द्वेष रूपी विष के प्याले पिये हैं, अब तो वीतराग के वचनामृत प्राप्त करके अपने आत्मा के चैतन्य रस का पानकर, जिससे तेरी आकुलता मिट कर सिद्ध पद की प्राप्ति हो।

राजा श्रेणिक ने जब भगवान महावीर की यह दिव्य देशना, वस्तु स्वरूप सुना तो आनन्द विभोर होकर जय– जयकार मचाने लगा। फिर प्रश्न करता है, प्रभो ! सिद्ध परमपद पाने का क्या एक ही मार्ग सम्यग्दर्शन ही है ? क्या कोई दूसरा उपाय या मार्ग नहीं है और इस पर कौन चल कर सिद्ध परमपद मोक्ष प्राप्त कर सकता है ? इसके समाधान में भगवान की दिव्य ध्वनि में आता है, अगली गाथा–

गाथा - ३२

जे सिद्ध नंतं मुक्ति प्रवेसं, सुद्धं सरूपं गुन माल ग्रहितं ।
जे केवि भव्यात्म संमिक्त सुद्धं, ते जांति मोष्यं कथितं जिनेन्द्रं ।।

शब्दार्थ- (जे) जो (सिद्ध नंतं) अनन्त सिद्ध (मुक्ति प्रवेसं) मुक्ति को प्राप्त हुये हैं (सुद्धं सरूपं) अपने शुद्धात्म स्वरूप (गुन माल) गुणों की माला (ग्रहितं) ग्रहण की, धारण की (जे) जो (केवि) कोई भी (भव्यात्म) भव्यात्मा (संमिक्त सुद्धं) शुद्ध सम्यक्त्व, निश्चय सम्यग्दृष्टि (ते) वह (जांति) जायेंगे (मोष्यं) मोक्ष को (कथितं जिनेन्द्रं) जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा, निरूपण किया।

विशेषार्थ - जो अनन्त सिद्ध परमात्मा अनादि कालीन संसार के पंच परावर्तन रूप परिभ्रमण से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हुये हैं, उन सबने रत्नत्रयमयी ज्ञान गुणमाला शुद्ध स्वरूपानुभूति को ग्रहण किया है। इसी प्रकार जो कोई भी भव्यजीव सम्यक्त्व से शुद्ध होंगे, निज शुद्धात्मानुभूति पूर्वक

आत्म ध्यान धरेंगे, वे भी सब मोक्ष को प्राप्त करेंगे। ब्रह्मानन्दमयी ज्ञान स्वभाव में लीन रहेंगे। यह श्री जिनेन्द्र परमात्मा भगवान महावीर ने कहा है।

हे राजा श्रेणिक ! एक होय त्रिकाल मां परमार्थनो पंथ। मुक्ति का मार्ग तो अनादि निधन एक ही है सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः, जो अनन्त सिद्ध परमात्मा हुये हैं, हो रहे हैं, होंगे, उन सबने ही अपने शुद्धात्म स्वरूप के ज्ञान श्रद्धान पूर्वक शुद्ध स्वभाव में एकाग्र लीन हुये, वह सब मुक्ति को प्राप्त हुये। यह रत्नत्रयमयी ज्ञान गुणमाला अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र मयी शुद्धात्म स्वरूप अथवा परम सुख, परम शान्ति, परमानन्द का भंडार निज आत्म स्वरूप जो अनन्त गुणों का धारी एक अखंड, अविनाशी चेतन तत्व भगवान आत्मा है। इसका भेदज्ञान पूर्वक अनुभूति श्रद्धान करने वाला ही सिद्ध परमात्मा हुआ है और अब जो कोई भी भव्य जीव ऐसे, अपने शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति ज्ञान श्रद्धान करेंगे, वह मुक्ति को प्राप्त होंगे, अन्य कोई मुक्ति का दूसरा उपाय या मार्ग नहीं है तथा इसमें किसी जीव के लिए कोई बन्धन नहीं है, जाति, कुल, सम्प्रदाय, ऊँच-नीच, छोटा, बड़ा, नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव, कोई भी हो अपने स्वरूप का ज्ञान श्रद्धान कर मुक्ति पा सकता है।

निश्चय दृष्टि से प्रत्येक जीव परमात्म स्वरूप ही है। जिनवर और जीव में अन्तर नहीं है, भले ही वह एकेन्द्रिय जीव हो या स्वर्ग का जीव हो, वह सब तो पर्याय है। आत्मवस्तु तो स्वरूप से परमात्मा ही है।

जो निगोद में सो ही मुझ में, सो ही मोक्ष मंझार।
निश्चय भेद कछु भी नाहीं, भेद गिने संसार ॥
स्वामी देहाले सोई सिद्धाले भेउ न रहे ।
जन जाके अन्मोय सो न्यानी मुक्ति लहे ॥

अति अल्पकाल में जिसे संसार परिभ्रमण से मुक्त होना है, ऐसे अति आसन्न भव्य जीव को निज परमात्म स्वरूप के सिवाय अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। जिसमें कर्म की कोई अपेक्षा नहीं है, ऐसा जो अपना शुद्ध परमात्म तत्व उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है और उसी का आश्रय करने से सम्यग्चारित्र होता है और उसी का आश्रय करने से अल्पकाल में मुक्ति

होती है।

स्वानुभूति होने पर अनाकुल, आल्हाद मय एक समस्त ही विश्व पर तैरता हुआ, विज्ञानघन, परम पदार्थ, परमात्मा अनुभव में आता है, ऐसे अनुभव बिना आत्मा सम्यक् रूप से दृष्टि गोचर नहीं होता, श्रद्धा में नहीं आता इसलिए स्वानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन धर्म का प्रारम्भ ही नहीं होता।

अन्तर में स्व संवेदन ज्ञान खिला, वहाँ स्वयं को उसका वेदन हुआ फिर कोई दूसरा उसे जाने या ना जाने, उसकी ज्ञानी को अपेक्षा नहीं है।

आत्मा का स्वभाव त्रैकालिक परम पारिणामिक भाव रूप है, उस स्वभाव को पकड़ने से ही मुक्ति होती है।

प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य गुण पर्याय से है। जीव – जीव के गुण पर्याय से है और, अजीव – अजीव के द्रव्य गुण पर्याय से है। इस प्रकार सभी द्रव्य परस्पर असहाय हैं, प्रत्येक द्रव्य स्वसहायी है तथा पर से असहायी है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता।

अखण्ड द्रव्य और पर्याय दोनों का ज्ञान होने पर अखण्ड स्वभाव की ओर लक्ष्य रखना, उपयोग की एकाग्रता अखण्ड द्रव्य की ओर ले जाना, वह अन्तर में समभाव को प्रगट करता है, स्वाश्रय द्वारा बंध का नाश करती जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उसे भगवान मोक्षमार्ग कहते हैं।

जिस धर्मात्मा ने निज शुद्धात्म द्रव्य को स्वीकार करके परिणति को स्व अभिमुख किया वह प्रतिक्षण मुक्ति की ओर गतिशील है, वह मोक्षपुरी का प्रवासी हो गया।

अनुभव प्रमाण मुक्ति।

आत्म अनुभव के बिना सब कुछ शून्य है। लाख कषाय की मंदता करो, व्रत, संयम, तप, करो या लाख शास्त्र पढ़ो किन्तु अनुभव बिना सब कुछ व्यर्थ है। यदि कुछ भी न सीखा हो पर अनुभव किया हो। तो उसने सब कुछ सीख लिया, उसे बात करना भले ही न आये, तो भी वह केवलज्ञान, मुक्ति

प्राप्त कर लेगा।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानकर उसकी प्रतीति कर स्वरूपाचरण कर ऐसा अनुभव करता है कि मैं तो मात्र चैतन्य ज्योति हूँ, शुद्ध बुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावी ज्ञानमात्र हूँ। ध्रुवधाम रूपी ध्येय के ध्यान की प्रचण्ड धूनी, उत्साह व धैर्य से धुनने वाला, ऐसे धरम का धारक धर्मी धन्य है।

वीतराग के मार्ग में तो सम्यक्त्व की प्राथमिकता है, प्रथम तो भेदज्ञान होना चाहिए। ऐसा सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है तथा ऐसा श्रद्धान शुद्ध निश्चयनय के भावाभ्यास करने से होता है; अत: शुद्ध नय के अनुसार श्रद्धान कर सम्यग्दृष्टि होना, वह प्रारम्भिक धर्म है, तत्पश्चात् चारित्रादि होते हैं।

ज्ञायक स्वभावी चैतन्य आत्मा की स्वानुभूति के बिना ज्ञान होता नहीं है और ज्ञायक के दृढ़ आलम्बन द्वारा आत्म द्रव्य स्वभाव रूप से परिणमित होकर जो स्वभाव भूत क्रिया होती है, उसके सिवाय कोई क्रिया नहीं है। पौद्‌गलिक क्रिया आत्मा कहाँ कर सकता है ? जड़ के कार्य रूप तो जड़ परिणमित होता है, आत्मा से जड़ के कार्य कभी नहीं होते।

शरीरादि के कार्य मेरे नहीं है और विभाव कार्य भी स्वरूप परिणति नहीं है, मैं तो ज्ञायक हूँ ऐसी साधक की परिणति होती है। सच्चे मोक्षार्थी को अपने जीवन में इतना दृढ़ होना चाहिए, भले प्रथम सविकल्प रूप हो परन्तु ऐसा पक्का निर्णय करना चाहिए पश्चात् निर्विकल्प स्वानुभूति करके स्थिरता बढ़ते-बढ़ते जीव मोक्ष प्राप्त करता है, इस विधि के सिवाय मोक्ष प्राप्त करने की अन्य कोई विधि उपाय मार्ग नहीं है।

प्रश्न - यह बात ,ऐसा निर्णय, ऐसा मार्ग तो हर जगह नहीं बताया और सब जीवों को इस बात का पता भी नहीं चलता, संसार में तो लोग जाति, सम्प्रदाय, मान्यतायें बांधे हुये हैं ?

समाधान - जिस जीव की पात्रता पकती है, होनहार उत्कृष्ट होती है। काल लब्धि आती है उसे सब निमित्त सहज में मिल जाते हैं। धर्म किसी जाति सम्प्रदाय से नहीं बंधा, जीव भी किसी बंधन में नहीं बंधे, यह सब संसार चक्र

तो जीव की अज्ञानता के कारण चल रहा है। जब जीव जागता है तो फिर कोई जाति सम्प्रदाय मान्यता बाधक नहीं बनती, जीव की अन्तर भावना जागे तो कहीं से भी, कैसे भी आत्मोन्मुखी हो सकता है, इसके लिये एक मात्र सत्संग सहकारी है।

दु:ख की निवृत्ति सभी जीव चाहते हैं और दु:ख की निवृत्ति–जिनसे दु:ख उत्पन्न होता है, ऐसे राग–द्वेष और अज्ञान आदि दोषों की निवृत्ति होने से ही सम्भव है और राग–द्वेष अज्ञान की निवृत्ति एक आत्मज्ञान के सिवाय किसी दूसरे प्रकार से कभी तीन काल में हो नहीं सकती। ऐसा सभी ज्ञानी पुरूष कहते हैं इसलिए आत्म ज्ञान ही जीव के लिए प्रयोजन रूप है, उसका सर्वश्रेष्ठ उपाय–सद्गुरू वचन का श्रद्धान करना, श्रवण करना या सत्शास्त्र का स्वाध्याय विचार करना है।

इसके लिए जीव को सभी प्रकार के मत–मतांतर कुल धर्म, लोक व्यवहार, रूढ़िगत मान्यताओं के प्रति उदासीन होकर सत्संग द्वारा धर्म का सही स्वरूप समझ कर अपने आत्म स्वरूप का विचार निर्णय करना चाहिए।

सत्समागम, सत्शास्त्र और सदाचारी जीवन होना यह आत्मोपलब्धि के प्रबल अवलम्बन हैं। मल, विक्षेप और अज्ञान ये जीव के तीन दोष हैं – मल–कर्मावरण, विक्षेप – संस्कार, अज्ञान – अनादि मिथ्यात्व।

ज्ञानी पुरूषों के वचनों की प्राप्ति होने पर उनका यथायोग्य विचार होने से अज्ञान की निवृत्ति होती है।

संसार अनादि अनन्त है और जीव भी अनादि अनन्त है, इसमें किसी की अपेक्षा की बात नहीं है। नीच, चांडाल, पापी जीवों को भी सम्यग्दर्शन हो सकता है, हुआ है। इसमें बाहर की परिस्थिति साधक बाधक नहीं है, जीव की पात्रता, पुरूषार्थ होनहार की बात है।

मुक्ति का मूल आधार, सम्यग्दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति होना ही है। सभी ज्ञानी पुरूषों का एक ही मत है। ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती, ज्ञानी की भाषा, शब्द, कहने, समझाने का ढंग अलग हो सकता है, पर अभिप्राय सबका एक ही होता है।

इस प्रकार रत्नत्रयमयी ज्ञान गुणमाला की विशेषता उपलब्धि होने

की जीव की पात्रता, सम्यग्दर्शन द्वारा संसार के परिभ्रमण से मुक्त होकर परमानन्द मयी परमात्म स्वरूप होना ही इष्ट प्रयोजनीय है। इस सत्य वस्तु को बताने वाले जिनेन्द्र परमात्मा भगवान महावीर की दिव्य देशना को सद्गुरू निर्ग्रन्थ वीतरागी संत श्री जिन तारण-तरण मंडलाचार्य महाराज ने प्रतिपादित किया। जो भव्य जीव इस सत्य वस्तु स्वरूप निज शुद्धात्म तत्व रत्नत्रयमयी ज्ञान गुणमाला को धारण करेंगे, वह संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटकर सिद्ध परमात्मा होंगे।

टीकाकार की लघुता

अल्पज्ञ मतिमन्द होने पर भी सद्गुरू की श्रद्धा भक्ति वश यह टीका करने का साहस किया है, जो भूल चूक हो ज्ञानी जन क्षमा करें।

दिनांक- ११.१.९१ बरेली ज्ञानानन्द

जब तक यह जीव शुद्ध सम्यक्दर्शन प्राप्त नहीं करता तब तक संसार में भटकता है, सम्यक्दर्शन होते ही संसार से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। जिस पुरूष के हृदय में सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह निरंतर प्रवर्तमान है, उसके कर्म रूपी रज-धूल का आवरण नहीं लगता तथा पूर्व काल में जो कर्म बंध हुआ है वह भी नाश को प्राप्त होता है।

"चेतना लक्षणो धर्मो"

आत्मा का चैतन्य लक्षण स्वभाव धर्म है।

* सम्यग्दर्शन सम्बन्धी प्रश्नोत्तर *

प्रश्न १ -सम्यग्दर्शन के लिए कैसा प्रयत्न होता है ?

समाधान - पहले तो अन्तर में आत्मा की बहुत प्रतीति जागे। सद्गुरू का समागम करके तत्व का बराबर निर्णय करना। संसार को दुःख रूप जानकर दिन-रात अन्तर में गहरा-गहरा मन्थन करके भेदज्ञान का अभ्यास करना।

बार-बार भेदज्ञान का अभ्यास करते-करते जब हृदय में उत्कृष्ट आत्म स्वरूप की महिमा आये, तब उसका निर्विकल्प अनुभव होता है और उस अनुभव में सिद्ध भगवान जैसा आनन्द का वेदन होता है। उसकी महिमा अपार है।

प्रश्न २ -सम्यग्दर्शन होने वाले जीव के अन्तरंग बहिरंग कारण क्या है ?

समाधान - सम्यग्दर्शन होने वाले जीव के अन्तरंग कारण-

१. निकट भव्यता २. सम्यक्त्व के प्रति बाधक मिथ्यात्व आदि कर्मों का यथायोग्य उपशम, क्षय, क्षयोपशम ३. उपदेश आदि ग्रहण करने की योग्यता ४. संज्ञित्व (पंचेन्द्रिय - सैनी छहों पर्याप्ति से पूर्ण) ५. परिणामों की शुद्धि (करणलब्धि)।

बहिरंग कारण - सद्गुरूओं का उपदेश, संसारी वेदनादि भय।

प्रश्न ३-सम्यग्दर्शन होते समय क्या होता है ?

समाधान - जब काललब्धि आदि के योग से भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भाव रूप निज परमात्म द्रव्य के सम्यग्श्रद्धान,सम्यग्ज्ञान और सम्यग्अनुचरण रूप पर्याय से परिणत होता है। इस परिणमन को आगम की भाषा में औपशमिक या क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव कहते हैं किन्तु अध्यात्म की भाषा में उसे शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम शुद्धोपयोग आदि कहते हैं। यह अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर करणलब्धि सहित ही होता है।

सम्यग्दर्शन, दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यग्प्रकृति मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात

कर्म प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से होता है। यह आत्मा के श्रद्ध गुण की निर्मल पर्याय है इसीलिये इसे आत्मा का मिथ्या अभिनिवेश से शू आत्म रूप कहा है। यह चौथे गुणस्थान के साथ प्रगट होता है। निर्विकल स्व संवेदन, अतीन्द्रिय आनन्द एक अपूर्व अवक्तव्य शान्त दशा होती है पूर्ण प्रकाश मयी परमात्म स्वरूप अनुभव में आता है।

प्रश्न ४ –सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है ?

समाधान: – रागादि से भिन्न चिदानन्द स्वभाव का भान और अनुभ हुआ, वहाँ धर्मी को उसका निःसंदेह ज्ञान होता है कि मुझे आत्मा का को अपूर्व आनन्द का वेदन हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मा में से मिथ्यात्व व नाश हो गया, यह दृढ़ प्रतीति हो जाती है।

जा सम्यक् दृगधारी की मोहि, रीति लगत है अटापटी।
बाहर नारकी कृत दु:ख भोगत, भीतर सम रस गटागटी॥

सम्यग्दर्शन होने पर अट्ठावन लाख योनियों के जन्म मरण का च छूट जाता है। ४१ प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है फिर वह स पर्याय में नहीं जाता, नपुंसक नहीं होता, सम्यग्दर्शन से पूर्व आयु बंध हो ग हो तो प्रथम नरक या तिर्यंच गति जाता है, वरना सीधा देवगति और मनु गति में उच्च, श्रेष्ठ, कुलीन, होता हुआ अधिक से अधिक दश, पन्द्रह भव मोक्ष चला जाता है।

प्रश्न ५–सम्यग्दृष्टि क्या करता है ?

समाधान – आत्मा के ज्ञानानन्द स्वभाव सन्मुखता की रूचि पूर्व बारह भावनाओं का चिंतवन कर अन्तर एकाग्रता बढ़ाता है।

सम्यग्दृष्टि– भय से, आशा से, स्नेह से अथवा लोभ से, कुदेव, अदे कुशास्त्र तथा कुगुरू की श्रद्धा, विनय, भक्ति नहीं करता। सुबुद्धि विवेक ट जागरण होने से विवेक पूर्वक आचरण करता है।

सम्यग्दृष्टि पर द्रव्यों को बुरा नहीं मानता, वह तो अपने मोह, राग–द्वे भाव को ही बुरा मानता है और उन्हें तोड़ने, दूर करने का प्रयास करता है

सम्यग्दृष्टि को ज्ञान वैराग्य की ऐसी शक्ति प्रगट होती है f ग्रहस्थाश्रम में होने पर भी सभी कार्यों में स्थित होने पर भी लिप्त न

होता, निर्लिप्त रहता है। ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनों परिणमती हैं। अभी अस्थिरता है, वह उसके पुरुषार्थ की कमजोरी से होती है। शरीरादि पर से भिन्नत्व भाषित होने से वह अपने चैतन्य ज्ञायक भाव उपयोग की ही संभाल करता है।

सम्यग्दृष्टि को आत्मा के सिवाय बाहर कहीं अच्छा नहीं लगता, जगत की कोई वस्तु सुन्दर नहीं लगती। अनादि अभ्यास के कारण, अस्थिरता के कारण अन्दर स्वरूप में नहीं रहा जा सकता इसलिए उपयोग बाहर आता है।

लेकिन -

जब निज आतम अनुभव आवे, फिर और कछु न सुहावे।
रस नीरस हो जाय ततच्क्षण, अक्ष विषय नहीं भावे॥

सम्यग्दृष्टि को अभी स्वानुभूति की पूर्णता नहीं है परन्तु दृष्टि में परिपूर्ण ध्रुव आत्मा है। नि:शंक गुण प्रगट हो गया है। संसार से, कर्म बंधनों से छूटने, मुक्त होने का पक्का निर्णय हो गया है इसलिए इसी आनन्द उत्साह में रहता है।

प्रश्न ६ - ज्ञान अज्ञान दशा में जीव में क्या अन्तर पड़ता है ?

समाधान - अज्ञान दशा में स्वभाव का बोध उसे नहीं होता अत: पर पदार्थ के संचय में, उसके निर्माण में वह होता तो निमित्त मात्र है पर अपने को पर का कर्ता मानता है। यह मान्यता ही उसका भ्रम है और भ्रम के कारण ही वह दु:खी है। वह दु:खी इसलिए होता है कि अपनी गलत मान्यता, पर को अपने अनुकूल बनाना चाहता है परन्तु पर द्रव्य तो स्वयं अपनी परिणति के अनुरूप परिणमता है। इसकी इच्छानुसार परिणमन नहीं करता, तब यह अपनी इच्छानुकूल पर परिणमन के अभाव में स्वयं दु:खी होता है, इसी प्रकार पर में अपना कर्तृत्व देखकर, जब पर की निमित्तता में भी अपनी स्थिति अपनी इच्छानुसार नहीं पाता, तब उसका दोष पर को देता है और स्वयं दु:खी होता है।

ज्ञानी की स्थिति इसके विपरीत है, वह जानता है कि पर द्रव्य अपने द्रव्य की योग्यतानुसार तथा अपनी पर्याय धारा के अनुसार आने वाले परिणमन के अनुसार ही परिणमेगा, मेरी इच्छानुसार नहीं परिणमेगा अत: दु:खी नहीं

होता । इसी प्रकार मेरा परिणमन पर के आधीन नहीं है, संसारी दशा में पूर्व कर्मोदय के निमित्त को पाकर अपनी पर्याय धारा के अनुसार आने वाले परिणमन के अनुकूल ही मेरा परिणमन होगा, मेरी मात्र इच्छानुसार नहीं होगा । ऐसा जान कर दु:खी नहीं होता, यही उसके तत्व ज्ञान का फल है ।

प्रश्न ७ – सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी में अन्तर है या दोनों एक है ?

समाधान – सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी एक ही जीव होता है, पर सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् सम्यग्ज्ञान की शुद्धि करना पड़ती है । संशय, विभ्रम, विमोह दूर होने पर ही वह वास्तविक ज्ञानी होता है । जो निशंक, निर्भय, अबन्ध होता है ।

प्रश्न ८ – द्रव्य और पर्याय क्या वस्तु है ?

समाधान – द्रव्य और पर्याय एक वस्तु है क्योंकि दोनों में प्रतिभास भेद होने पर भी भेद नहीं है । जिनमें प्रतिभास भेद होने पर भी अभेद होता है वे एक होते हैं अत: द्रव्य और पर्याय भिन्न नहीं है । इस तरह वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है । इन दोनों में से यदि एक को भी न माना जाये, तो वस्तु नहीं हो सकती क्योंकि सत् का लक्षण है–अर्थ क्रिया किन्तु पर्याय निरपेक्ष अकेला द्रव्य अर्थ क्रिया नहीं कर सकता और न द्रव्य निरपेक्ष पर्याय ही कर सकती है किन्तु एक वस्तु होने पर भी उनमें परस्पर में स्वभाव, नाम, संख्या आदि की अपेक्षा भेद भी है ।

स्वभाव – द्रव्य अनादि अनन्त है, एक स्वभाव परिणाम वाला है, पर्याय सादि शान्त अनेक स्वभाव परिणाम वाली है ।

नाम– द्रव्य की संज्ञा द्रव्य है, पर्याय की संज्ञा पर्याय है ।

संख्या – द्रव्य की संख्या एक है, पर्याय की संख्या अनेक है ।

कार्य– द्रव्य का कार्य एकत्व का बोध कराना है, पर्याय का कार्य अनेकत्व का बोध कराना है ।

काल – द्रव्य त्रिकालवर्ती होता है, पर्याय वर्तमान काल वाली एक समय की होती है ।

लक्षण – द्रव्य का लक्षण सत् अविनाशी है, पर्याय क्षणवर्ती नाशवान है ।

इस तरह स्वभाव भेद, संख्या भेद, नाम भेद, कार्य भेद, लक्षण भेद, आदि होने से द्रव्य और पर्याय भिन्न है किन्तु वस्तु रूप से एक ही है। इसी कारण द्रव्य दृष्टि से वस्तु नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। कहा भी है पर्यायार्थिक नय से पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं किन्तु द्रव्यार्थिक नय से न उत्पन्न होते हैं, न नष्ट होते हैं अतएव नित्य हैं।

प्रश्न ९-जीव और रागादि पुद्गल कर्मों का कैसा क्या सम्बंध है ?

समाधान - जीव और रागादि पुदगल कर्मों का एक क्षेत्रावगाह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। स्वरूप से अमूर्तिक होने पर भी अनादि संतान परंपरा से (बीजवृक्षवत्) जीव, पौद्‌गलिक कर्मों के साथ दूध पानी की तरह मिला हुआ है। यद्यपि उस अवस्था में भी जीव - जीव ही रहता है और पौद्‌गलिक कर्म पौद्‌गलिक ही हैं। न जीव पौद्‌गलिक कर्म रूप होता है और न पौद्‌गलिक कर्म जीव रूप होते हैं।

पौद्‌गलिक कर्म का निमित्त पाकर जीव में होने वाले रागादि भावों में भी वह तन्मय नहीं है, जैसे-लाल फूल के निमित्त से स्फटिक मणि लाल दिखाई देती है परन्तु वह लाल रंग स्फटिक का निज भाव नहीं है, उस समय भी स्फटिक मणि अपने श्वेत वर्ण से युक्त है। उसी तरह जीव कर्मों के निमित्त से रागादि रूप परिणमन करता है और जीव के निमित्त से पुद्‌गल परमाणु कर्म रूप परिणमित होते हैं, वे रागादि जीव के निज भाव नहीं है। आत्मा तो अपने चैतन्य गुण में विराजता है। रागादि उसके स्वरूप में प्रवेश किये बिना ऊपर से झलक मात्र प्रतिभासित होते हैं। ज्ञानी तो ऐसा ही जानता है क्योंकि वह आत्म स्वरूप का अनुभवी है किन्तु जो उसके अनुभवी नहीं हैं उन्हें तो आत्मा रागादि स्वरूप ही प्रतिभासित होता है, यह प्रतिभास ही संसार का बीज है।

प्रश्न १० - राग-द्वेषादि भाव किसमें कैसे पैदा होते हैं ?

समाधान - जैसे पुत्र, स्त्री और पुरूष दोनों के संयोग से पैदा होता है, वैसे ही राग-द्वेषादि भाव भी जीव और कर्म के संयोग से जीव में उत्पन्न होते हैं।

* 卐 *

❖ श्री मालारोहण सार सिद्धान्त ❖

(१) मोक्षमार्ग की प्राप्ति का उपाय व्यवहार नय से तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र है किन्तु निश्चयनय से रत्नत्रयमयी स्वात्मा ही मोक्षमार्ग है।

(२) जिसमें जीव, चार गतियों में भ्रमण करते रहते हैं तथा प्रति समय उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप वृत्ति का आलम्बन करते हैं उसे भव या संसार कहते हैं। यह भव जो हमारे सम्मुख विद्यमान है, नाना दु:खों का कारण होने से भीषण वन के तुल्य है। इसमें होने वाले शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक तथा सहज दु:ख दावानल के समान हैं।

(३) धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है। सात तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करके निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, इस प्रकार की रूचि का नाम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि पुण्य और पाप दोनों को ही हेय मानता है, फिर भी पुण्य बंध से बचता नहीं है।

(४) जीव की सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूप विशुद्धि को धर्म कहते हैं।

(५) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र रूप संक्लेश परिणाम को अधर्म कहते हैं।

(६) आत्मा का मिथ्यात्व, रागादि से रहित विशुद्ध भाव ही धर्म है, ऐसा मानकर उसे स्वीकार करो।

(७) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप के मल दोष -

सम्यग्दर्शन के दोष - शंकादि २५ दोष।

ज्ञान के दोष - संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय।

चारित्र के दोष - प्रत्येक व्रत की पांच- पांच भावनाओं का त्याग।

तप के दोष - प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम का अभाव।

(८) जीव के परिणाम निश्चयनय के श्रद्धान से विमुख होकर शरीरादि पर द्रव्यों के साथ एकत्व श्रद्धान रूप जो प्रवृत्ति करते हैं, उसी का नाम संसार है।

(९) अध्यात्म में - मोह, दर्शन मोह को ही कहा है और राग-द्वेष चारित्र मोह को कहा है।

(१०) पर द्रव्य से भिन्न आत्मा का अवलोकन ही नियम से सम्यग्दर्शन है।

(११) सच्चे देव के तीन लक्षण - वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता।

(१२) जहाँ जिस प्रकार से वाक्य की प्रामाणिकता हो, वहाँ उसी प्रकार से उसे ग्रहण करना चाहिए।

(१३) जो पाँचों इन्द्रियों के द्वारा भोगने में आते हैं तथा इन्द्रियाँ, शरीर, मन, कर्म व जो अन्य मूर्त्तिक पदार्थ हैं, वह सब पुद्गल द्रव्य जानों।

(१४) जिसकी आत्म विषयक श्रद्धा मन्द होती है उसका मोक्ष की प्राप्ति और संसार की समाप्ति के लिए किया जाने वाला तपश्चरण आदि श्रम व्यर्थ होता है।

(१५) आत्मा का जो परिणाम समस्त कर्मों के क्षय में हेतु है, उसे भाव मोक्ष जानो और आत्मा से कर्मों का पृथक हो जाना द्रव्य मोक्ष जानो।

(१६) चारों गतियों में से किसी भी गति वाला, भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक, मन्द कषायी, ज्ञानोपयोगयुक्त, जागता हुआ, शुभ लेश्या वाला तथा करणलब्धि से सम्पन्न जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

(१७) जिस जीव में मोक्ष प्राप्ति की योग्यता है उसे भव्य कहते हैं और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता को लब्धि कहते हैं।

(१८) कर्मों से बद्ध भव्य जीव, अर्द्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण काल शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है क्योंकि एक बार सम्यक्त्व होने पर जीव इससे अधिक समय तक संसार में नहीं रहता, इसे ही काललब्धि कहते हैं।

(१९) सम्यग्दर्शन को प्रभु कहा है क्योंकि वह परम आराध्य है, उसी के प्रसाद से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

(२०) जिनेन्द्र देव सम्यग्ज्ञान को कार्य और सम्यग्दर्शन को कारण कहते हैं इसलिए सम्यग्दर्शन के अनन्तर ही ज्ञान की आराधना योग्य है।

(२१) क्षायिक सम्यक्त्व, प्रगट होकर पुनः लुप्त नहीं होता, सदा रहता है, क्योंकि उसके प्रतिबन्धक मिथ्यात्व आदि कर्मों का क्षय हो जाता है। इसी से शंका आदि दोष नहीं होने से वह औपशमिक सम्यग्दर्शन से अति शुद्ध होता है। कभी भी किसी कारण से उसमें क्षोभ पैदा नहीं होता। भयंकर रूपों से हेतु और दृष्टान्त पूर्वक वचन विन्यास से क्षायिक सम्यक्त्व कभी डगमगाता नहीं है, निश्चल रहता है।

वेदक सम्यक्त्व, सम्यक्दर्शन के एक देश का घात करने वाली देश घाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से तथा उदय प्राप्त मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियों के उदय की निवृत्ति होने पर और आगामी काल में उदय में आने वाली उन्हीं छह प्रकृतियों के सदवस्था रूप उपशम होने पर वेदक अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। वह सम्यक्त्व चल, मल, और अगाढ़ होता है।

(२२) जो सम्यग्दर्शन को अच्छी तरह से सिद्ध कर चुके हैं उनकी विपत्ति भी सम्पत्ति हो जाती है। इतना ही नहीं किन्तु उनका नाम लेने वाले भी विपत्तियों से तत्काल मुक्त हो जाते हैं।

(२३) निर्ग्रन्थ रत्नत्रय ही प्रवचन का सार है, वही लोकोत्तर और अत्यन्त विशुद्ध है। वही मोक्ष का मार्ग है इसलिए इस प्रकार की श्रद्धा करनी चाहिए और उस श्रद्धा को पुष्ट करना चाहिए।

(२४) अधिक कहने से क्या ? अतीत में जो नर श्रेष्ठ मुक्त हुये हैं और भविष्य में जो मुक्त होंगे, वह सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो।

(२५) रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र) का नाम ही देव है अतः इन तीनों गुणों से विशिष्ट जो जीव हैं, वह देव हैं।

(२६) वस्तुतः पूर्ण रूप से शुद्धात्मा ही देव है।

(२७) चारों गतियों के जन्म मरण का दुःख सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना दूर नहीं हो सकता, यह सम्यग्दर्शन ही सांसारिक दुःखों से छुड़ाकर मोक्ष रूपी सुख दे सकता है ।

(२८) आत्मिक दृढ़ आस्था के बिना कोई भी व्यक्ति निर्भय नहीं हो सकता।

(२९) सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की एक ही विधि है, वह है – संसार भोगों से विरक्त होकर अखंड एवं अनन्त गुणों के समुदाय आत्मा की आस्था करना।

(३०) जैसे – वीरता बिना सैनिक, नाक के बिना सुन्दर मुख, मुद्रिका बिना अंगुली, दरवाजे बिना सुन्दर महल, चाहर दीवारी के बिना बगीचा, शोभा नहीं देते, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन बिना धर्म शोभित नहीं होता।

(३१) क्षायिक सम्यग्दर्शन या तो उपशम सम्यक्त्व या वेदक सम्यक्त्व से होता है इसीलिये पहले दो सम्यक्त्व साधन हैं और क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है। क्षायिक सम्यक्त्व होने पर कभी छूटता नहीं है। उसी भव में या तीसरे भव में नियम से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

(३२) भेदज्ञान द्वारा स्व – पर का यथार्थ निर्णय कर क्योंकि उपादेय की तरह हेय को भी जानना आवश्यक है, हेय को जानने से उपादेय में दृढ़ आस्था होती है।

निज शुद्धात्मानुभूति ही सम्यग्दर्शन है और यह किसी जीव को कभी भी हो सकता है, इसमें कोई काल, पर्याय, परिस्थिति, साधक बाधक नहीं है। सम्यग्दर्शन ही संसार की मौत और मुक्ति को प्राप्त करना निश्चित हो जाता है।

भजन

सही है सही है...

शुद्धातम की गुरूवर ने महिमा कही है ।
सही है सही है सही है सही है ॥
आतम शुद्धातम परमातम यही है ।
सही है सही है सही है सही है ॥

अभी तक न जाना पहिचाना था खुद को ।
संसारी शरीरधारी ही माना था खुद को ॥
दिखाया शुद्धातम जब गुरूवर ने हमको ।
मिटाया मद मिथ्यात्व अज्ञान तम को ॥
आतम शुद्धातम रत्नत्रय मयी है ।
सही है सही है सही है सही है ॥

जगत का परिणमन सब क्रमबद्ध है निश्चित ।
टाले से जो टलता नहीं कुछ भी किंचित् ॥
जीव आत्मा सब हैं सिद्ध स्वरूपी ।
पुद्गल परमाणु भी शुद्ध है रूपी ॥
सत् द्रव्य लक्षण यह जिनवर कही है ।
सही है सही है सही है सही है ॥

जिनने भी ध्रुव तत्व का आश्रय लिया है ।
मुक्ति श्री का आनंद अमृत रस पिया है ॥
जो भव्य आत्मा निज की श्रद्धा करेंगे ।
वे सब जिन जिनवर परमातम बनेंगे ॥
मुक्ति का मारग बस एक यही है ।
सही है सही है सही है सही है ॥

---*---*---*---

भजन

हे भव्यो, सम्यग्दर्शन सार ।
अन्य जगत का वैभव सारा, सब कुछ है निस्सार ॥

निज आत्मानुभूति इक क्षण की, करती भव से पार ।
भेद ज्ञान निज आतम दर्शन, यही समय का सार ॥.....

काल अनादि भटके जगत में, निज अज्ञान की मार ।
जन्में मरे बहुत दु:ख भोगे, चारों गति अपार ॥.....

पुण्य उदय सौभाग्य जगा है, सदगुरू मिले हैं तार ।
सत्य धर्म का मर्म बता रहे, कर लो इसे स्वीकार ॥.....

जीव अजीव का भेद जान लो, तज दो मोह विकार ।
जिसको तुमने अपना माना, जड़ पुदगल बेकार ॥.....

संकल्प विकल्प रोग भय चिंता, मिट जायेंगे सार ।
ज्ञान की महिमा बड़ी अपूरब, मचेगी जय जयकार ॥...

ज्ञानानंद स्वभावी हो तुम, स्वयं के तारण हार ।
कर पुरूषारथ दांव लगाओ, मत चूको इस बार ॥...

---*---*---*---

हे भव्यो, भेद विज्ञान करो ।
जिनवाणी का सार यही है, मुक्ति श्री वरो ॥

जीव अजीव का भेद जान लो, मोह में मती मरो ।
तुम तो हो भगवान आत्मा, शरीरादि परो .....

क्रमबद्ध पर्याय सब निश्चित, तुम काहे को डरो ।
निर्भय ज्ञायक रहो आनंद मय, भव संसार तरो ....

कर्म संयोगी जो होना है, टारो नाहिं टरो ।
तारण तरण का शरणा पाया, मद मिथ्यात्व हरो ....

इस संसार में क्या रक्खा है, नरभव सफल करो ।
ज्ञानानंद चलो जल्दी से, साधु पद को धरो ....

जय तारण तरण

भजन

जय तारण तरण सदा सबसे ही बोलिये ।
जय तारण तरण बोल अपना मौन खोलिये ॥

श्री जिनेन्द्र वीतराग, जग के सिरताज हैं ।
आप तिरें पर तारें, सद्‌गुरू जहाज हैं ॥
धर्म स्वयं का स्वभाव, अपने में डोलिये . . . . .

निज शुद्धातम स्वरूप, जग तारण हार है ।
यही समयसार शुद्ध, चेतन अविकार है ॥
जाग जाओ चेतन, अनादि काल सो लिये . . . .

देव हैं तारण तरण, गुरू भी तारण तरण ।
धर्म है तारण तरण, निजात्मा तारण तरण ॥
भेदज्ञान करके अब, हृदय के द्वार खोलिये . . . .

इसकी महिमा अपार, गणधर ने गाई है ।
गुरू तारण तरण ने, कथी कही दरसाई है ॥
ब्रह्मानंद अनुभव से, अपने में तौलिये . . . . .

---*---*---*---

बोलो तारण तरण, बोलो तारण तरण ।
करलो आतम रमण, करलो आतम रमण ॥

क्या लाया है संग में, क्या ले जायेगा ।
करके खोटे करम, खुद ही दुःख पायेगा ॥
छोड़कर झंझटें, कर प्रभु का भजन ।
बोलो तारण तरण......

पाया मानुष जनम, इसमें करले धरम ।
त्याग, तप, दान, संयम और अच्छे करम ॥
बसंत मिट जायेगा तेरा जन्म-मरण ।
बोलो तारण तरण......

भजन

आओ हम सब मिलकर गायें, गुरुवाणी की गाथायें।
है अनन्त उपकार गुरु का, किस विधि उसे चुका पायें ॥
वन्दे तारणम् जय जय वन्दे तारणम् ॥

चौदह ग्रंथ महासागर हैं, स्वानुभूति से भरे हुए।
उन्हें समझना लक्ष्य हमारा, हम भक्ति से भरे हुए ॥
गुरू वाणी का आश्रय लेकर, हम शुद्धातम को ध्यायें,
है अनन्त........

कैसा विषम समय आया था, जब गुरूवर ने जन्म लिया।
आडम्बर के तूफानों ने, सत्य धर्म को भुला दिया ॥
तब गुरूवर ने दीप जलाया, जिससे जीव संभल जायें,
है अनन्त........

अमृतमय गुरू की वाणी है, हम सब अमृत पान करें।
जन्म जरा भव रोग निवारें, सदा धर्म का ध्यान धरें ॥
हम अरिहंत सिद्ध बन जायें, यही भावना नित भायें,
है अनन्त........

शुद्ध स्वभाव धर्म है अपना, पहले यही समझना है।
क्रियाकाण्ड में धर्म नहीं है, ब्रह्मानंद में रहना है।।
जागो जागो हे जग जीवो, सत्य सभी को बतलायें,
है अनन्त........

जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा कथित यह मुक्ति का श्रेष्ठ शुद्धमार्ग व्यवहार निश्चय से शाश्वत अनेकान्तमयी है, जो भव्य जीव इसका आराधन करते हैं, वे अवश्य आत्मा से परमात्मा होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।

जिनवाणी स्तुति

जिनवाणी को नमन करो, यह वाणी है भगवान की।
वंदे तारणम् जय जय वंदे त.रणम् ॥

स्याद्वाद की धारा बहती, अनेकांत की माता है ,
मद् मिथ्यात्व कषायें गलतीं, राग द्वेष गल जाता है ।
पढ़ने से है ज्ञान जागता, पालन से मुक्ति मिलती ,
जड़ चेतन का ज्ञान हो इससे, कर्मों की शक्ति हिलती ॥
इस वाणी का मनन करो, यह वाणी है कल्याण की ॥१॥
वंदे तारणम्.......

इसके पूत-सपूत अनेकों, कुन्द-कुन्द गुरू तारण हैं,
खुद भी तरे अनेकों तारे, तरने वालों के कारण हैं ।
महावीर की वाणी है, गुरू गौतम ने इसको धारी,
सत्य धर्म का पाठ पढ़ाती, भव्यों की है हितकारी ॥
सब मिलकर के नमन करो, यह वाणी केवल ज्ञान की ॥२॥
वंदे तारणम्......

---*---*---*---

आरती

ॐ जय आतम देवा, प्रभु शुद्धातम देवा ।
तुम्हरे मनन करे से निशदिन, मिटते दुःख छेवा ॥टेक॥

अगम अगोचर परम ब्रम्ह तुम, शिवपुर के वासी ।
शुद्ध-बुद्ध हो नित्य निरंजन, शाश्वत अविनाशी ॥१॥
ॐ जय........

विष्णु बुद्ध, महावीर प्रभु तुम, रत्नत्रय धारी ।
वीतराग सर्वज्ञ हितंकर, जग के सुखकारी ॥२॥
ॐ जय........

ज्ञानानंद स्वभावी हो तुम, निर्विकल्प ज्ञाता ।
तारण-तरण जिनेश्वर, परमानंद दाता ॥३॥
ॐ जय........

❁ इति ❁